भारतीय संस्कृति
भारतीय संस्कृति
महाकाव्यों के आलोक में

लेखक
डा० देवराज
एम.ए०, डी० फिल०, डी० सिट०
सयाजीराव गायकवाड़ प्रोफेसर ऑफ़ इंडियन सिविलिशेन
ऐण्ड कल्चर, अध्यक्ष 'भारतीय दर्शन तथा धर्म'
विभाग, काशी विश्वविद्यालय

901.0954
Dev

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मूल्य चार रुपये

चुढ़क—ओमप्रकाश कपूर, जानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी—६६५८२३
प्रकाशाकीय

'भारतीय संस्कृति' का तीसरी बार प्रकाशन करते हुए हमें हर्ष है। अपनी उपादेयता के कारण ही यह प्रस्ताव विद्वानों में विशेष लोकप्रिय हुआ है। इसके लेखक डा० देवराज संस्कृति, धर्म एवं दर्शन-शास्त्र के माने हुए विद्वान् हैं, लखनऊ विश्वविद्यालय और काशी हिंदू विश्वविद्यालय में इन विषयों के बें सफल प्राध्यापक रहें हैं। हिंदी-जगत में इनकी मेधा से भलीभाँति परिचित है, और राष्ट्रभाषा में इनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में संस्कृत एवं हिंदी साहित्य के आधार पर भारतीय संस्कृति का सरस शैली में विशाल विवेचन किया गया है। वैदिक काल से लेकर महाकाव्यों के समय तक के आचार-विचार, धार्मिक एवं सामाजिक रहन-सहन का चित्रण करने के बाद कालिदास, भारती तथा माधव की सूक्तियों को उद्धृत कर तत्कालीन जीवन-पद्धति एवं व्यवहार का आभास दिया गया है। इसे लेखक ने भारतीय संस्कृति का उत्कृष्ट-काळ कहा है। इसी प्रकार परवर्ती कवियों की वाणी का सहारा लेकर मध्य-युगीन संस्कृति का परिचय देते हुए उन्होंने अपने प्रबंध को आधुनिक काल में छाकर विषय का उपसंहार किया है और परिषद्ध में मुख्य-मुख्य संदभों के विवरण दे कर पुस्तक को अध्ययन की दृष्टि से अतिशय उपयोगी बना दिया है। हमें विश्वास है इसके तृतीय संस्करण का भी पाठकों द्वारा यथेष्ट स्वागत किया जायगा।

शशिकान्त भटनागर
सचिव,
हिंदी समिति
समर्पण

तेजस्वी लेखक एवं विचारक

डा० समपूर्णानन्द की

जिन्हें विद्या और विद्यावानों के प्रति सहज आसक्ति है
विषय-क्रम

प्रस्तावना

२००२—विषयप्रवेश—भारतीय संस्कृति का अर्थ—संस्कृति का अर्थ, जातीय संस्कृति—जातीय संस्कृति और शिश्त लोग—प्रतीक-मूलक कृतियाँ—भारतीय संस्कृति और हिन्दू संस्कृति—मूल्यांकन का दृष्टिकोण—भारतीय संस्कृति के अध्ययन में महाकाव्यों का आधार—काल-विभाग।

२१७—

प्रथम खण्ड

भारतीय संस्कृति—ब्रज और अंकुर

अध्याय १—वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग। विषय-प्रवेश—मन्त्रों या संहिताओं का युग, देवताओं की स्तुतियों में प्रतिफलित मूल्य, शक्ति, ऐश्वर्य और विजय—वहन और नैतिक चेतना—प्रकृति-प्रेम। ब्राह्मणपुराण—यज्ञ-विधानों का महत्व—जीवन के मूल्य, शक्तिकांशा, श्री, यश, पशु आदि। उपनिषद्-काल, कर्मकाण्ड का विरोध—सतीं के प्रति वैराग्य—अमृतत्व की अभिलाषा। रामायण-महाभारत में संस्कृतिक चेतना, विषय-प्रवेश—सौन्दर्य-चेतना—प्रकृति-बर्णन—नारीसौन्दर्य की विवृति—चमत्कार-प्रेम—रामायण में प्रकृति-बर्णन और नारी-बर्णन—पुलिंकों द्वारा बर्णन, वाणी-सौन्दर्य। जीवन के मूल्य या पुलिंकों—राज्य, ऐश्वर्य आदि का महत्व—रामायण में और महाभारत में—काम नामक पुलिंकों का महत्व, रामायण में और महाभारत में—धर्म, अर्थ और काम का आपेक्षिक महत्व। नैतिक आदर्श; धर्म और अधर्म: विषयप्रवेश—नैतिक व्यक्तित्व, रामायण में और महाभारत में—नारी-आदर्श—धर्म की व्याख्या में वर्णधर्म और सार्वभौम धर्म—प्रवृत्ति और निवृत्ति, काम और संन्यास—राजधर्म और कूटनीति—आपद्धर्म—कणिक द्वारा कूटनीति का प्रतिपादन—यथार्थ-बृहत्ति—उपसंहार।

(१-८१)
द्वितीय खण्ड
भारतीय संस्कृति—उत्कर्ष काल

अध्याय 2—सीन्द्रबोध और जीवन-संस्कर्ण। विषय-प्रवेश—व्यक्तित्व में अभिव्यक्ति—अवकाश-भावना—चमत्कार-विधान। सीन्द्रबोध-दृष्टि, मानव जगत्—शरीर-सीन्द्रबोध—संस्कृतिक सीन्द्रबोध—वाणीसीन्द्रबोध—प्रकृति-सीन्द्रबोध।

(८५—१२६)

अध्याय ३—नीतिबोध और जीवन-विवेक। विषय-प्रवेश—कालिदास के अनुसार नैतिक व्यक्तित्व—किराताजुनीय में नैतिक आदर्श—माघ और नैतिक आदर्श—जीवन विवेक—आध्यात्मिक समन्वय।

(१२७—१५५)

अध्याय ४—संस्कृत भाषा। भाषा और संस्कृत—संस्कृत भाषा का महत्त्व-पर्यायों की प्रचुरता—कम परिचित पर्यायों का प्रयोग—संस्कृत वाक्यमय की समृद्धि—संगीतमयता, अनुप्रास आदि का विधान—सांगीतिक दृष्टा, व्यज्ञनात्मक संकेत—उपसंहार।

(१५६—१७३)

तृतीय खण्ड
भारतीय संस्कृति का मध्य युग

अध्याय ५—मध्ययुगीन संस्कृति: श्रीहर्ष और तुलसीदास। विषय प्रवेश—नैस्कृतिक चरित्र का काव्यत्व—उसकी विशालता—सीन्द्रबोध-वर्णन, पुरुष नायक नल का वर्णन—मानवीयता का हास—प्रकृति-वर्णन—नायक-नायिका में संस्कृतीत्व की कभी—पौराणिक उल्लेखों की बहुतता—नैस्कृतिक चरित्र में हसोमुख संस्कृत काव्य। रामचरित मानस में हिंदू संस्कृति। विषय प्रवेश—मानस में नये सर्जनात्मक तर्क, मानवीय अभिव्यक्ति का हास, राम की अलोकितता—जनतात्मिक अभिव्यक्ति, काव्य-संवेदना का जनतन्त्रीकरण—मानस में वर्णित्वक्ता का समर्थन और विरोध-राम, एक सत्ता नायक—दो प्रकार के आदर्श चरित्र। संस्कृतिक
चेतना पर नया प्रभाव—कालिदास आदि के काव्य से मानस का भेद-कर्म व प्रयत्न के जीवन का विरोध, उसके उपयुक्त गुणों पर गौरव का अभाव।

(१७५—२०७)

उपसंहार। विषय-प्रवेश—आन्दोलनों के कारण शास्त्रबोध में कमी—यूरोपीयों का आगमन, संस्कृत साहित्य का महत्व-ख्यातनामा—उष्णस्वर्गीय सदी के धार्मिक आन्दोलन, भारतीय संस्कृति का पुनर्जीवन—सांस्कृतिक-धार्मिक आन्दोलनों का मूल्यांकन—राजनीतिक आन्दोलन और महात्मा गांधी-लौकिक मनोवृत्ति का प्रसार, प्राचीन मूल्यों का विघटन और नये, निजी विन्दुत्त द्वारा निरूपित मूल्य-भावना का अभाव—नैतिक, चारित्रिक आघार की अवैद्यकता—यूरोपीय, चीनी तथा युरोपीय संस्कृतियाँ—भारतीय संस्कृति की साम्प्रदायिक जहरतें और प्राचीन संस्कृति का वास्तवविर रूप

(२०८—२२४)

परिशिष्ट—महाकाव्यों का स्रोतचर
अनुक्रमणिका

(२२५—२४६)

(२४७—२५०)
प्रस्तावना

इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया गया है। यह दृष्टिकोण जीवन-मूल्यों के अन्वेषण व उद्घाटन का दृष्टिकोण है। लेखक के मन में जो प्रश्न रहा है, और जो इस पुस्तक की मूल प्रेरणा है, वह यह है—हमारा नव-स्वतंत्र राष्ट्र अथवा उसके निवासी किन मूल्यों को लेकर आगे बढ़ सकते हैं? यहाँ आगे बढ़ने से तात्पर्य है—विश्व के राष्ट्रों के बीच अपने ऐतिहासिक गौरव के अनुरूप ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित होना। इस समय हमारा देश सभ्य विदेशी राष्ट्रों से तरह-तरह के ऋण हेतु रहा है; उद्घोषकरण के लिए जहरीली मसीहा आदि सामान और पंचवर्षीय योजनाओं के लिए डालर, पौंड व रुबल का ऋण ही नहीं, जनतन्त्र की शासन-प्रणाली और समाजवाद आदि की विचारधाराएं ही नहीं, अपितु भारतीय विश्वविद्यालयों में विश्वासियों को वितरित किया जानेवाला अविकृत शान-विज्ञान भी आज बाहर से लिया जा रहा है। यह आदान-बुरी बात नहीं है; विश्व-समाज की व्यवस्था राष्ट्रों के आदान-प्रदान पर ही आधारित है। बेद की बात यही है कि आज हम इस स्थिति में नहीं हैं कि सांस्कृतिक भेंट के रूप में इससे देशों को कुछ दे भी सकें। स्पष्ट ही यह स्थिति वांछनीय नहीं है; यह हमारे सांस्कृतिक पिछड़ेपन का अविचार प्रमाण है।

यह काफी नहीं है कि हम यात्रिक आविष्कारों तथा शान-विज्ञान के अन्वेषणों को लगातार बाहर से अनुकरण द्वारा लेते रहें। यह प्रक्रिया किसी आत्मसरकार-संपन्न राष्ट्र को शोभा नहीं देती; यह खिड़के पर उचित इलाज भी नहीं है। वैसा इलाज एक ही है, अर्थात् राष्ट्र की चेतना को प्रबुद्ध और उसके चरित्र व व्यक्तित्व को परिपक्व एवं प्रभावशाली बनाना। प्रश्न उठता है: किन गुणों के आकलन से कोई राष्ट्र या जाति वैसे व्यक्तित्व से
संपन्न होती है? इस प्रश्न का भारतीय इतिहास द्वारा प्रमाणित उत्तर खोजना इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। यह मानते हुए कि प्राचीन भारतीय एक समाज, प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण जाति थे, जिन्होंने सम्बन्ध व संस्कृति के क्षेत्रों में अर्थपूर्ण उपलब्धियाँ की, हमारे यह खोजने का प्रयत्न किया है कि उनकी दृष्टि में वे कौन से जीवन-मूल्य थे जो भविष्यगत एवं जातीय महत्ता का उपादान समझे जाते थे।

इस पुस्तक में उत्कर्षकालीन भारतीय संस्कृति के जीवन-मूल्यों को समझना का प्रयत्न हुआ है। इस प्रयत्न की सफलता के लिए अध्ययन का आधार भारतीय वास्तव के महत्वपूर्ण महाकाव्यों को बनाया गया है। प्रस्तुत लेखक दर्शन का विवादित है और भारतीय दर्शन का अध्ययन भी करता रहा है, उसके लिए अपेक्षाकृत यह सहल्ल था कि वह भारतीय संस्कृति की व्याख्या यहाँ के दर्शनों के आधार पर करे। इसके विपरीत पाठक पारंपरिक कि इस पुस्तक में दर्शनों की चर्चा बहुत ही कम हुई है। इसका कारण लेखक का यह न समझना नहीं है कि किसी जाति का दर्शन उसके जीवन-दर्शन व संस्कृति का आधार होता है। यहाँ दर्शनों पर कम ध्यान दिये जाने के दो कारण हैं; एक यह कि आधुनिक भारत के अनेक लेखकों ने यहाँ के दर्शनों के आलोचक में हमारी संस्कृति को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है, जिसके फलस्वरूप दर्शनों की, विशेषतः वेदान्त की, बहुत-सी मात्राएँ बूह प्रचलित हो गयी है। इस दिशा में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामकीर्ति, डॉ. सर्वपल्ली रायाकृष्णन आदि ने उल्लेखनीय कार्य किया है। प्रस्तुत लेखक ने सोचा कि दर्शनों का उच्च-वोड़ा उल्लेख एक तरह का पिश्चपेषण ही होगा। इसलिए, प्रस्तुत लेखक के मत में, इन व्यक्तियों ने भारतीय संस्कृति के एक भाग का ज्ञाता औरव दिखाया है, अर्थात् उस पक्ष का, जिसका संबंध मोक्ष-साधन से है। उन्होंने हमारी संस्कृति के उन पक्षों की न्यूनाधिक अपेक्षा की है, जिनका संबंध लौकिक जीवन के औपचार्य एवं संरक्षण से है। अनेक विदेशी विद्वानों ने भी यह दिखाने का विशेष प्रयत्न किया है कि भारतीय संस्कृति मूलतः निन्दित मूलक तथा
पर्यावरण है। इस प्रकार के परिवेश तथा संस्कृति का ऐतिहासिक महत्व भी रहा है और उसके बिच की संस्कृति तथा सम्बन्धित की अयोग्यता में महत्वपूर्ण योग दिया है।
एक ध्यान देने योग बात यह है कि जिस वेदान्त दर्शन के आलोक में भारतीय संस्कृति की निर्विश्वसित व्याख्या की जाती है उसका प्रतिपादन और विकास भारतीय एवं हिंदू संस्कृति के उत्कर्षकाल के बाद में हुआ।

इस पुस्तक के प्रारंभ में, आलोच्य विषय की समग्र दृष्टि के लिए, वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की भोली-सी चर्चा आयी है। इसके बाद रामायण-महाभारत में निविद्ध संस्कृति चेतना के लक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसके पश्चात् काल्किनात्स, भारतीय और माध्यम, श्रीभक्ति, तथा तुलसीदास के काव्यों में निबंध मूल्य-दृष्टियों का उद्धारण हुआ है।
पुस्तक के कलेवर में महाकवि अश्वचोष के 'बुद्र-चरित' का विषय उपयोग नहीं हो सका है, जबकि उसकी चर्चा जगह-जगह आयी है। वस्तुतः, लेखक उस काव्य को इस पुस्तक की योजना में ठीक से बेखौफ़ नहीं सका। यों अश्व-चोष की कृति, वाल्मीकि की 'रामायण' तथा काल्किनात्स के 'रघुवंश' के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है; संस्कृत काव्य-शैली के विकास में उसका महत्व-पूर्ण स्थान है। इस स्थान का दर्शन करने के लिए ही परिषिष्ठ में उसकी कथावस्तु का भी निर्देश कर दिया गया है।

संस्कृत ग्रन्थों के उद्देश्यों का समावेश करने में यही विशेष नीति बरती गयी है। इस पुस्तक का उद्देश्य पाठकों तक सिर्फ सूचनाएँ पहुँचाना नहीं है; उन्हें कुछ व्याख्या-सूत्रों से परिचित करा देना भर भी उल्लिख नहीं रहा है। इस पुस्तक के लिखने में लेखक का लक्ष्य रहा है 'पाठकों में भारतीय संस्कृति के मूल्यों की जीवन्त अवगति या चेतना उत्पन्न करना।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो तरह के उद्देश्यों का समावेश जहरीली समझा गया है—वे जो वक्तव्य के प्रामाणिकता तथा प्रभावशीलता को बढ़ाते हैं, और वे जो अपने में सुन्दर अथवा संप्रास्त हैं। प्रामाणिकता के लिए प्रायः
सर्वत्र मूल वक्तव्यों के अनुवाद ही दिये गये हैं—यह जानने, महसूस करने 
हुए भी कि सही अनुवाद करना अभ्यासात्मक है। फिर भी वे लोग जो धोखी- 
बहुत संस्कृत जानते हैं, मूल उद्धरणों को देखकर प्रामाणिकता के प्रमाण 
को ज्यादा गहरे रूप में महसूस कर सकेंगे।

एक बात और है: इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति की जो व्याख्या दी 
गयी है वह बहुत दूर तक प्रचलित व्याख्याओं से मिलता और नहीं है; विशेषतः 
उस व्याख्या में निहित गौरव लेखक का अपना है। खिड़कीवादी धार्मिकों 
तथा पाठकों को वह जहाँ-तहाँ आपत्तिपूर्ण या खलनायक जान पड़ 
सकता है। किसी भी पाठक के लिए यह संभव नहीं होता कि पुस्तक 
पढ़ते समय वह मूल ग्रन्थों को पढ़ते और उद्देश्य स्वरूप के ठीक से जाँच करे। 
ऐसी स्थिति में यदि उद्देश्य सामने हो तो लेखक के अभिमान को समझने 
व ग्रहण करने में आसानी होती है। आज देश में संस्कृत का प्रचार कम ही 
है, और ऐसे संस्कृतप्रेमी और भी कम हैं जिनके घरों में संस्कृत के सो- 
पचास ग्रन्थ रहते हैं। अतः लेखक का अनुमान है कि इस पुस्तक में सत्य- 
विश्व उद्देश्य संस्कृतकरण के लिए भी उपादेय सिद्ध होंगे। वे खिड़कीवादी 
पंक्तियों के लिए शिक्षाप्रद भी साबित होंगे, ऐसा विश्वास है। यह बहुत से 
लघु वक्तव्यों के संकेत-मात्र पटकों में वे दिये गये हैं।

पहले अध्याय की सामग्री का चयन करते हुए दुमने गीता प्रेस से 
प्रकाशित ‘भारत’ के तथा निर्णय सागर प्रेस, बन्द्राई से प्रकाशित राम- 
कृत तिलक टीका सहित ‘रामायण’ के संस्करण का उपयोग किया है।

प्रस्तुत लेखक का साहित्य और साहित्य-समीक्षा से निकट एक संबंध 
रहा है। अतः इस पुस्तक में पाठकों को जहाँ-तहाँ एक साहित्य के प्रेमी तथा 
अभ्येता का हाथ दिखाई दे तो आश्चर्य नहीं है। यह पुस्तक लिखते हुए, लेखक 
को प्रति जसे कि महाकाव्यों की सांस्कृतिक परीक्षा को उनकी साहित्यिक 
समीक्षा से अलग नहीं किया जा सकता। सब दृष्टियों तो किसी साहित्यिक 
कृति की सांस्कृतिक समीक्षा उसके साहित्यिक मूल्यांकन का ही एक अंग 
है। यह भी कहा जा सकता है कि किसी साहित्यिक कृति की उच्चतम
धरातल पर की हुई समीक्षा उस सांस्कृतिक समीक्षा का रूप धारण कर रही है, जिसके दो महर्ष्यपूर्ण रूप कृति-विशेष के सौन्दर्य-बोध तथा नीति-बोध का विवेचन है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्षित में देखने पर कृति-विशेष के ये दो तत्त्व ही विशेष महर्ष्यपूर्ण दिखाई देते हैं। साहित्यिक कृति का तीसरा महर्ष्यपूर्ण तत्त्व होता है कलामक सौंदर्य; इतिहास की पृथ्वीमि में यह तत्त्व भी सौन्दर्य-बोध के अंग के रूप में दिखाई देता है। अवश्य ही समस्त सांस्कृतिक पाठकों तथा लेखकों के लिए कृति-विशेष के शिल्प तथा शैली का दृष्टांत तथा महर्ष्य भी रहता है। आलोचना शास्त्र का काम है कि यह इन तत्त्वों में उन्हें छूटाकर अलग कर ले जो स्वयं महर्ष्य रखते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत काव्य-शैली के कुछ तत्त्व, जैसे श्लेष्मा तथा तरह-तरह की चित्र-विचित्र अक्षर व चरण-मोजनाएँ, बाद के इतिहास द्वारा महर्ष्य-शून्य घोषित हो गयी है। इसी तरह मनु आदि की स्मृतियों के अंतर्गत विधि-निषेध आज बहुत दूर तक व्याख्या दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारतीयों के सौन्दर्य-बोध तथा नीति-बोध में ऐसे भी अनेक तत्त्व हैं जो आज महर्ष्यपूर्ण नहीं रह सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे तत्त्वों का लम्बा-चौड़ा उल्लेख करने का प्रयत्न नहीं मिलेगा। यहाँ हमने भारतीय मूल्य-दृष्टि के उन अंगों पर ही प्रकाश डालने की कोशिश की है जो आज हमारी राष्ट्रीय चेतना तथा जीवन के लिए महर्ष्यपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

प्रस्तुत लेखक को समय-समय पर डा. रामप्रसाद त्रिपाठी, भूतपूर्व वाइस चान्सलर, सागर विश्वविद्यालय से प्रोत्साहन और उपयोगी सूचाव मिलते रहे, इसके लिए वह उनका आभारी है।

—देवराज
भूमिका

‘संस्कृति’ एवं ‘भारतीय संस्कृति’ ये दोनों ही व्यंजनाएँ सुनिश्चित अर्थों
की वाहक नहीं हैं। यहाँ हम इन प्रत्ययों के विभिन्न प्रचलित अर्थों का परिचय
देने और उनके आपेक्षिक महत्त्व को विमर्श द्वारा आँकने का प्रयत्न नहीं
करेंगे। वैसे प्रयत्न के लिए हमारे पास स्थान नहीं है, और शायद वह
प्रारंभिक भी नहीं होगा। जिसे संस्कृत में ‘लोक’ कहते हैं, उसकी चेतना में
उक्त प्रत्ययों के उल्लेख से जो प्रतिष्ठानों उठती हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टि से
सुनिश्चित न होते हुए भी, उपक्रमणीय नहीं हैं। हमारी इस पुस्तक के उद्देश्य
के लिए वे काफी दूर तक उपादेय हैं। यदि संस्कृति शब्द का विशद एवं
वैज्ञानिक विवेचन हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहाँ हम अपनी संस्कृति-
सम्बन्धी धारणा को बहुत ही सरल एवं सुभोग रूप में पाठकों के सामने
रखकर आगे बढ़ते हैं का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय संस्कृति का अर्थ

‘संस्कृति’ से पहले हम ‘भारतीय संस्कृति’ व्यंजना का स्पष्टीकरण
आवश्यक समझते हैं। हमारे देश के विभिन्न भागों और विभिन्न ऐतिहासिक
युगों में अनेक धर्मों तथा संस्कृतियों ने जनम एवं प्रसार पाया। यहाँ देखना
ग्रंथ-प्रवर्तक उत्पन्न हुए और इस देश में धर्म और संस्कृति का गहरा सम्बन्ध
रहा। फलतः धर्म-विश्वसकों ने भारतीय संस्कृति अथवा उसके विभिन्न रूपों
को विशेष प्रभावित किया। इस देश में कम-से-कम दो महत्त्वपूर्ण धर्म पैदा
हुए और फैले, अर्थात् वेदो-उपनिषदों पर आधारित हिंदू धर्म तथा वेद-
विरोधी अथवा अवैदिक बौद्ध धर्म। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म
भी यहाँ की भूमि में प्रविष्ट हुए। यहाँ बहुत-सी विदेशी जातियों भी आयीं
—यूनानी लोग, कुशान, शक और हौरा, पठान और मुगल, पुर्तगाली, फ्रांसीसी,
अंग्रेज इत्यादि। यहाँ हम उन जातियों का उल्लेख कर रहे हैं जिन्होंने यहाँ
बसने का प्रयत्न किया। इनमें से कुछ जातियाँ हमारे देश में समस्त ही बस गयीं और हमारी जनता का अंग बन गयीं। कुछ ने, जो यहाँ खुद नहीं बसीं, हमारी आवादी के गठन पर इससे ब्रह्म छोड़ दिये; जैसे अन्य जन ने यहाँ एक शर्मिया संबंध ईसाइयों की उपलब्धि की और ऐंग्लो-इंडियन जाति को जन्म दिया।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत उक्त सभी जातियों तथा उनके विभिन्न घरों से सम्बन्धित संस्कृतिक धाराओं का समावेश ही सकता है। स्पष्ट ही एक साधारण कलेवर की प्रस्तुत में इतनी संस्कृतिक धाराओं तथा उप-धाराओं के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता। इसलिए हम यहाँ इस घोषणा के साथ ही बद्ध नहीं हैं। इस प्रस्तुत का प्रतिपादित विषय मुख्यतः हिन्दू संस्कृति है। यह निरंचय है। कहा जा सकता है कि हिन्दू संस्कृति इस देश की सबसे अधिक व्यापक एवं समृद्ध संस्कृति है, वह सबसे बड़ी और चौड़ी संस्कृतिक सराहा है जिसे अनेक उपराधारों ने पुत्र एवं सम्पत्ति किया है। यद्यपि बौद्ध धर्म भारतवर्ष के बाहर भी फैला, और इस प्रकार कुछ वृद्धियों से हिन्दू धर्म से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन गया, फिर भी यह दाबा राज्य नहीं कि उसकी प्रधान विशेषताओं को हिन्दू धर्म ने आत्मसात कर दिया। बौद्धों के बहसावाद को जिस हद तक वैष्णवों ने अपनाया, उस हद तक उस धर्म के विवेचकी अनुयासियों ने नहीं। तिब्बत, चीन आदि देशों के बौद्ध निरालमिकारों नहीं है; वर्तमान मातापात से परहेज भारतीय बौद्धों, जैन तथा कलिया हिन्दू सम्प्रदायों की निर्जीव विशेषता है। बौद्धों ने जो कर्मकाण्ड तथा हिमालयक यज्ञों का विरोध किया, वह भी हमारे देश के इतिहास में बहुत नयी चीज नहीं है। कर्मकाण्ड का विरोध उपनिषदों में ही शुरु हो गया था। बौद्धों के निर्वाण और हिन्दूओं की मुक्ति में विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः: इस देश के सभी प्रमुख घरों में मुक्ति तथा उसके उपायों के बहुत-कुछ समान वर्ण मिलते हैं। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म हिन्दू धर्म से ऐसे ही भिन्नता नहीं रहते जैसे बाद के अनेक सम्प्रदाय। संकेत में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में मुक्ति-साधनों के लिए इस लोक तथा परलोक के भौगोलिक
के प्रति अनासक्ति को नितान्त आवश्यक समझा गया। विभिन्न धर्म-प्रवृत्तियों की शिक्षाओं का यह सामान्य अंश है।

देखने का बात यह है कि जहाँ कालान्तर में बौद्ध धर्म इस देश से लुप्त-सा हो गया, वहाँ इस्लाम के आने से पहले, दूसरा कोई धर्म हिन्दू धर्म के प्रतिविरोधी के रूप में प्रतिष्ठा न पा सका। सच यह है कि इस देश की धरती पर किसी दूसरे धर्म ने जीवन के सम्बन्ध में उत्तर पूर्ण एवं व्यवस्थित चिन्तन नहीं किया, जैसा कि हिन्दू धर्म ने; किसी दूसरे धर्म में जीवन की, हिन्दू धर्म से होड़ लेने लायक व्यापक व्यवस्था एवं अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकी। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने जहाँ निर्वाण या मृत्यु और उसकी साधना के सम्बन्ध में नया चिन्तन किया, वहाँ सामाजिक गृहस्थ जनों के लिए किसी नयी क्रांति-कारी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया। अपनी-अपनी धरती से हुए होकर इस्लाम तथा ईसाई धर्मों ने भी यहाँ संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक सर्वनाम-संबन्धक कार्य नहीं किया। इस्लाम ने जहाँ हमारी कला और कुछ हद तक साहित्य को प्रभावित किया, वहाँ दर्शन के क्षेत्र में विशेष उपलब्धियाँ नहीं की। अवश्य ही मुसलमान शासकों ने हमारी राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी संस्थाओं पर अपना प्रभाव डाला। किन्तु इसमें साधें किया जा सकता है कि इस्लाम ने हमारी मोक्ष-साधना एवं गृहस्थ-जीवन-सम्बन्धी आदश्यों को बहुत ज्यादा प्रभावित किया। इन दृष्टियों से यहाँ के ईसाइयों का प्रभाव और भी कम रहा है। यूरोप से जो कुछ प्रभाव आया है और आ रहा है, वह हिन्दू चेतना एवं संस्कृति का अंग बनकर ही हमें प्रभावित करता रहा है।

हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि भारतीय संस्कृति को सम्प्रदाय में हिन्दू संस्कृति से समक्षित किया जा सकता है; हमारा आप्रव तरंग यह है कि हिन्दू संस्कृति इस देश की सबसे प्रधान और व्यापक संस्कृति है। संस्कृति शाखा के अर्थ पर विचार करते हुए आगे यह वात और भी स्पष्ट हो जायगी। इस पुनर्वर्तमान में हम सिर्फ हिन्दू संस्कृति के ही विकासमान या परिवर्तनमान रूप का अध्ययन करेंगे।
संस्कृति का अर्थ, जातीय संस्कृति

जैसा कि हमने शुरू में कहा था, संस्कृति शब्द का अर्थ बड़ा अनिश्चित है। नर-विज्ञान में संस्कृति का अर्थ "समस्त सीखा हुआ व्यवहार" होता है, अर्थात् वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस अर्थ में संस्कृति शब्द परम्परा का पर्याय है। स्पष्ट ही सब प्रकार की भारतीय परंपराओं का पूरा विवरण देना किसी लेखक के लिए साध्य नहीं है, और न ऐसा विवरण एक ही प्रयत्न में दिया जा सकता है। भारतीय वाक्यात्मक स्वयं में इतना विस्तृत है कि उसके विवरण से अनेक पोष्य भरे जा सकते हैं। कहाँ आदि संहिताएँ, श्रावण, आर्यक और उपनिषद् आदि बौद्ध साहित्य ही बहुत विस्तृत है। उसके बाद तर्क-तर्क के सूच-सूचन, रामायण और महाभारत हैं, विविध काव्य, नाटक, पुराण और दर्शन-ग्रन्थ हैं।

इनके वर्णों से हजार-दो-हजार पृष्ठ रंगकर कोई भी लेखक पाठकों पर अपनी जानकारी एवं विवेक का सिक्का जमा सकता है। किन्तु इस प्रकार के निःशुल्क विवरणों से सामान्य पाठकों का तथा जातीय चेतना का विशेष रूप से हित नहीं होता।

श्री मैक्समूलर ने ठीक ही लिखा है—

Knowledge which has no object beyond itself is, in most cases, but a pretext for vanity. It is so easy, even for the most superficial scholar, to bring together a vast mass of information, bearing more or less remotely on questions of no importance whatsoever.

अर्थात् वह ज्ञान जिसका अपने से परे कोई प्रयोजन नहीं है, अधिकांश व्यंग के अभिमान के लिए बहुता मात्र होता है। एक साहित्य परिप्रेक्ष्य के

1. मैक्समूलर, ए हिस्ट्री ऑव एशियन्स संस्कृति लिट्रेचर, पाणिनि ब्राफिस, भवनेश्वरी ब्राफिस, प्रयाण (१९१२), पृ ४।
लिए भी यह बहुत आसान है कि वह बहुत-सी ऐसी सूचना-राशि, जिसका महत्वपूर्ण प्रश्नों से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है, इकट्ठी करके रख दे।

संस्कृति के समबन्ध में अपना दृष्टिकोण हम पाठकों को बहुत संक्षेप में समझाने का प्रयत्न करते हैं। चूंकि 'संस्कृति' शब्द और उससे मिलनेवाला विशेषण 'संस्कृत' प्रशंसावाचक पद है, इसलिए कहना चाहिए कि संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता या विशेषताओं का समूह है जो उस व्यक्तित्व को एक बास अर्थ में महत्वपूर्ण बनाता है। यहाँ 'बास अर्थ' में व्यापकता आवश्यक है। किसी पुस्तक या स्टीर का कुछ महत्व उन गुणों के कारण भी हो सकता है जो मुख्यतः प्रकृति की दी है, जैसे स्वास्थ्य और शारीरिक सीन्द्राय। किंतु ये गुण विशिष्ट रूप में संस्कृतिक गुण नहीं हैं; सुन्दर एवं स्वस्थ स्त्री-गुण निराल हो सकता हैं। विश्व: संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का समबन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्तियों (एटीट्यूड्स) से है। संकेत में, संस्कृतिक विशेषताएँ मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव की विशेषताएँ होती हैं, इन विशेषताओं का अनिवार्य समलय जीवन के मूल्यों से होता है। ये विशेषताएँ तो स्वयं में मूल्यमान (और इस प्रकार व्यक्तित्व को सुन्दर अथवा उच्च बनानेवाली) होती हैं, अथवा मूल्यों के उत्पादन का साधन। प्रायः व्यक्तित्व में विशेषताएँ साध्य एवं साध्य दोनों ही रूपों में अवर्यूण समझी जाती हैं।

प्रश्न है, ऐसी स्थिति में जातीय संस्कृति का क्या अर्थ होगा? कोई भी जाति व्यक्तित्व-संपन्नता सत्ता नहीं होती, इसलिए ऊपर की परिस्थिति के अनुसार, वह संस्कृति नामक विशेषता की वाहक नहीं हो सकती। यदि संस्कृति व्यक्तित्व का धर्म है तो वह किसी जाति का धर्म कैसे हो सकती है?

हमारा उत्तर इस प्रकार है—जहाँ यह ठीक है कि संस्कृतिक विशेषताएँ व्यक्तित्व में आभिषिक होकर रहती हैं, वहाँ यह मानना पड़ेगा कि संस्कृतिक उत्कृष्ट के प्रतिमान या पैमाने एक विशेष ढंग से जातीय चेतना में रहते
और उसकी संपत्ति होते हैं। यहाँ विचारशील पाठक पूछ सकते हैं कि व्यक्तियों की चेतना से भिन्न, यह जातीय चेतना क्या चीज है? उत्तर में निवेदन है कि जातीय चेतना की स्वतंत्र स्थिति के लिए किसी समाज, समुदाय या जाति नाम के स्वतंत्र शरीरी (आर्मिनियम) या प्राणी का अस्तित्व स्वीकार करना ज़रूरी नहीं है। सच यह है कि मनुष्य अपने भौतिक व्यक्तित्व से भिन्न एक ऐसे आत्म (सेल्फ) की सृष्टि करता है जिसकी जिन्दगी उसके भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं रहती, और जिसका इतिहास विभिन्न भौतिक शरीरों के इतिहासों से अलग रहकर विकसित होता है। इस प्रतीक-निर्मित आत्म को हम जातीय चेतना का नाम दे सकते हैं। इस चेतना के अन्तर्गत वे सब चीजें आती हैं जिनका समावेश काव्य-शास्त्र, धर्म, दर्शन आदि में होता है।

जातीय चेतना किसी खास व्यक्ति की चेतना नहीं होती, यद्यपि यह ठीक है कि इस चेतना को निष्ठूल रूपाकार देनेवाले व्यक्ति ही होते हैं। 'अभिमुकान्त्र' में, शकुंतला के चित्रण के रूप में जिस सौन्दर्य-भावना को व्यक्ति किया गया है, उसे उस समय की भारतीय सौन्दर्य-चेतना का अंग कहा जा सकता है, यद्यपि वह अंकन एक व्यक्ति अयात्त कालिदास द्वारा सम्पन्न हुआ। इस मान्यता के पक्ष में कई गृहस्तियाँ दी जा सकती हैं। कालिदास की काव्यरचना सौन्दर्य-बोध के जिन प्रतिमाओं से निरंतर उद्भव उनका उस पूरी शिखा से सम्बन्ध था जिसने कवि की इस संबंधन को गठित किया। जीवन-मूल्यों का उत्पादन करनेवाले सांस्कृतिक प्रयत्न विकसित सूचि की अपेक्षा रखते हैं, और सूचि का विकास समाज द्वारा प्राप्त शिखा से होता है। इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृति के निमित्त नयी उद्भवानायें नहीं करते और सामाजिक चेतना को नयी वृद्धि एवं बोध से सम्पन्न नहीं करते। वास्तव में है कि यह वृद्धि और बोध ऐसे दंग से प्रस्तुत किया जाता है कि जातीय चेतना के विस्तार न पड़े। नये कलाकार द्वारा दिया गया नवीन सौन्दर्य-बोध जातीय चेतना को भी प्रत्येक लगता है जब वह उसका सहज विस्तार अथवा पूरक रूप जान पड़ता है। यहाँ
हम व्यक्तिगत निर्माण एवं जातीय चेतना के बीच दूसरा लगाव देखते हैं।
एक सम्पूर्ण जाति जिस कला अथवा विचारात्मक क्रृति को समालकर रखती या रखना चाहती है, उसका जातीय संवेदना एवं चित्तन से विशेष सम्बन्ध होता है। ऐसी क्रृति या तो जातीय मस्तिष्क एवं संवेदना को विशद रूपाकार तथा अभिव्यक्तित देती है, या उसके वांछनीय विस्तार का साधन बन जाती है। इन्हीं क्रृतियों से कहा जा सकता है कि कला तथा चित्तन की वे क्रृतियाँ, जो समय के निर्भय के सामने टिक पाती हैं, अपने रचयिताओं से सम्बन्धित जातीय चेतना की सम्पत्ति होती हैं।
प्रश्न है, महत्त्वपूर्ण क्रृतियों में निबद्ध जातीय चेतना का किसी जाति या राष्ट्र के ऐतिहासिक जीवन से, उस जीवन के विभिन्न युगों से, क्या सम्बन्ध होता है? क्या उस जीवन और उन क्रृतियों में बिभव-प्रतिबंध का सम्बन्ध होता है? क्या साहित्यी आदि सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों समाज का दर्पण होता है? एक ही तरह प्रश्न भी उठता है: क्या किसी जाति के विभिन्न जीवन-कालों में वैसा ही अविचित्तता का सम्बन्ध होता है जैसा कि उसकी कला, चित्तन आदि में? अथवा इन दो क्षेत्रों की अविचित्तताओं में अन्तर रहता या रह सकता है?
यह कहना कि साहित्य समाज का दर्पण है, एक अर्थ-सत्य से भी कम है। मनुष्य का कोई सांस्कृतिक प्रयत्न समूचे समाज के सम्पूर्ण जीवन को प्रतिफलित नहीं करता। एक दर्शन-प्रदर्शन समाज के सब सदस्यों के चित्तन को प्रकट नहीं करती, वह कुछ बुद्धि हुए लोगों के चित्तन को ही अभिव्यक्ति देती है। इन बुद्धि हुए लोगों का भी सिर्फ वहीं चित्तन अभिव्यक्ति पाता है जो जीवन और जगत की खास समस्याओं से सम्बन्धित है। एक दर्शन-प्रदर्शन जहाँ अपने निर्माण की चेतना के एक विशिष्ट पहलू को प्रकाशित करती है, वहाँ वह उस चेतना को भी सम्पूर्णता में व्यक्त नहीं करती। श्रीहरि के “बंदन बंदन बाचक” को पढ़कर कोई भी पाठक यह अनुमान नहीं लगा सकता कि उस विचारक की लेखनी से “नैपशीयचरित” जैसे काव्य-ग्रन्थ का उद्धव भी हो सकता है।
जातीय संस्कृति और शिष्ट लोग

मतलब यह कि एक दर्शन-पद्धति किसी ऐतिहासिक समाज के चिन्तन को प्रकट नहीं करती; वह उन विचारकों के आंशिक चिन्तन को व्यक्त करती है जो उस समाज में प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। सांस्कृतिक प्रयत्न सदा से एक छोटे वर्ग तक सीमित रहते हैं; संस्कृत में ऐसे वर्ग के लोगों को 'शिष्ट' कहकर पुकारा गया है। संस्कृति नाम की एकाधीक शिष्ट लोगों के जीवन का कोई अंग होती है, दूसरे लोग उन क्रियाओं में अपनी-अपनी सामाजिक के अनुसार कम-बढ़ भाग लेते हैं। कालिदास ने अपनी क्रियाओं में जिस सौन्दर्य-बोध को प्रतिष्ठित किया है वह उन शिष्टता, शिष्ट लोगों के जीवन का अंग था जो उस प्रकार के काव्य को स्वीकार एवं पौरोसाहित्य देते थे, और शिक्षा द्वारा उसे उत्पन्न करने तथा सराहने की योग्यता विकसित करते थे। कालिदास का सौन्दर्य-बोध उनके समय के सब भारतीयों का सौन्दर्य-बोध नहीं था, वह तत्कालीन शिष्टों के वर्ग का सौन्दर्य-बोध था।

इसका मतलब यह नहीं है कि शिष्टों तथा समाज के दूसरे सदस्यों की सांस्कृतिक चेतनाओं में कोई सामाजिक या लघु वर्ग होता ही नहीं। इस लघुवर्ग के कई पहलु होते हैं। जीवन की जिन अभिव्यक्तियों को शिष्ट लोग सुनते एवं शुभ कहकर स्वीकार करते हैं, वे अभिव्यक्तियाँ बहुत-कुछ सामाजिक जीवन में अनुस्पृश होती हैं। भारतीय माता-पिता लड़की को बिड़ा करते समय बड़ी खिलता महसूस करते हैं; 'अभिज्ञानशाश्वासन' के रचयिता ने इस जीवन-हृद की सार्थकता अथवा महत्ता की घोषणा की है। यही बात करते हैं जब लोग अपनी आदर्श के आदर्श के बारे में कहते जा सकते हैं। सुख-दुःख तथा नैतिकता के विविध अवस्थाओं के संबंध में शिष्टों तथा जन-साधारण की चेतनाओं में सामाजिक होता है। इसी प्रकार साहस, धीरज, उदारता, त्याग आदि गुणों के प्रति प्रशंसामय सांस्कृतिक चेतना का अंग होने से, पहले जातीय जीवन का स्वभाव होता है। किन्तु यही एक बेड़ा पर ध्यान देना जरूरी है। कृष्ण जैसे बालक का स्नेह या चतुराई की बातें करना और
किसी युवती का विशेष अवसरों पर ज्ञाना और मुख्यतः सांस्कृतिक चेतना का आंग नहीं है। वे प्राकृतिक जीवन के भाग हैं। इन क्रियाओं को सुन्दर एवं रोचक कहार वर्णित करना उस सीन्द्र-बोध की जन्म देता है जो सांस्कृतिक चेतना का आवश्यक और बहुमूल्य तत्व है। इस चेतना के रूप में संस्कृति शिष्टों के आधारित रहती है, यद्यपि यह ठीक है कि इस चेतना के प्रारम्भिक मूल रूप समाज के सभी सदस्यों में मौजूद होते हैं, और इस कथन का, अंतिम विशेषण में, यद्यपि अर्थ हो सकता है कि शिष्टों के सीन्द्र-बोध का मूल आधार मानवीय प्रकृति है जो समाज के सभी सदस्यों की गठन में विचार है। किन्तु इस स्वीकृति का भी यह अर्थ नहीं है कि शिष्टों को चेतना तथा साधारण जन-चेतना में दंत या दूरी नहीं होती। एक, दो आदि संख्याओं की वाचनीय विशेषताओं की चेतना सभी सामान्य मनुष्यों में होती है, फिर भी एक गणितीय और साधारण मनुष्य की संख्याओं तथा उनके परस्पर सम्बन्धों के लघुवाद रहनेवाली चेतनाओं में महत्व अंतर होता है। और जब हम किसी देश या जाति के गणितशास्त्र-सम्बन्धी शास्त्र की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान उसके शिष्टों की तत्त्व-सम्बन्धी उपलब्धियों पर केन्द्रित होता है, न कि उसके साधारण सदस्यों के बोध पर। यद्यपि जाति-शास्त्र की सीन्द्र-चेतना, नीति-चेतना, धर्म-चेतना सर्व उपर्युक्त प्रकृति पर लगू होती है। वास्तव: संस्कृति जीवन के महत्त्वपूर्ण एवं औपचारिक रूपों की आत्म-चेतना है। स्पष्ट ही उन रूपों के स्वतंत्र उदार चेतना से पहले है। इसलिए कहा जा सकता है कि आदिम मनुष्य संस्कृत नहीं था। उसके जीवन में सार्थकता-सम्बन्ध, अथवा निरुपयोगी सीन्द्र-या अर्थ-सम्बन्ध क्षण अवश्य आते होंगे, पर अभी उन्हें उन क्षणों को सचेत रूप में घटिया क्षणों से भिन्न करना नहीं सीखा था। प्रारम्भ में मूल्यांकन का एकमात्र प्रतिमा उपयोगिता रही होगी। उस उपयोगिता के दायरे से बाहर निकल कर मनुष्य ने धीरे-धीरे कम-बड़ा सार्थकता के दृश्य पैमानों को अवगति पायी या विकसित की होगी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह देखा होगा कि उसे उपयोगी पदार्थों से भिन्न बस्तुएं भी आकृष्ट करतीं एवं आनंद
देती है, जैसे शिष्यों की तोतली बोली, प्रेयसी की मुस्कराहट और कुछ लोगों का बहु वंदन-स्वर जिससे गीत फूटते हैं। बहुत धीरे-धीरे कुछ ऐसे लोग प्रकट हुए होंगे जिनहोंने इन निर्धक्योगी सार्वजनिकों को अपने अवशेष और चर्चा का विषय बनाया। सम्म समाजों में इस प्रकार के लोग ही क्रमशः शिष्ट कहलाने लगे होंगे।

शिष्टों की बातचीत तथा मान्यताओं में साधारण नागरिक अवसर अपनी निर्धक्योगी प्रतिक्रियाओं को अधिक विस्तार एवं विकसित हुए में पल्लवित होते देखता था पाता है। किन्तु ऐसे समाजों में जहाँ प्रतिक्रियाओं की भाषा बहुत समृद्ध बन गयी है, शिष्टों के अभिप्राय को समझने के लिए अवसर कम्पी तैयारी की जरूरत होती है। इस तैयारी का प्रचलित नाम विश्वास है।

प्रतिक्रियात्मक वृत्तियाँ

हम कह रहे हैं कि किसी जाती या राष्ट्र की सांस्कृतिक समस्तता के लिए हमें प्रयास करना: उसके शिष्टों द्वारा निर्मित प्रतिक्रियावादी साहित्य का अध्ययन करते बाहर। ये प्रतिक्रियाएं जिन पैमानों द्वारा अच्छी जाती हैं वे जातीय इतिहास में एक पीढ़ी से दूसरी में पहुँचते होते हैं। इन पैमानों का संकल्प भी शिष्टों के द्वारा सम्पन्न होता है। किसी जाती या राष्ट्र के सामाजिक राजनीतिक इतिहास में कभी-कभी विवेचनाओं के हमलों, अथवा हूसरे कारणों से, अवांछित अवरोध तथा संकट उपस्थित होता है। यदि वह संकट कुछ दिनों ही रहे तो यह आवश्यक नहीं कि उससे जातीय सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह में विशेष वांछा पड़े। एक-दो पीढ़ियों के व्यवस्थापन के बावजूद आगे आनेवाले शिष्ट लोग अपना सम्बन्ध पिछले शिष्टों की चेतना से जोड़कर होते हैं। भारत जैसे विशाल देश में यह भी संभव रहा है कि संकट एक बास नगर या क्षेत्र तक सीमित रहे और उसका दूसरे नगरों या राज्यों की सांस्कृतिक प्रगति पर विशेष प्रभाव न पड़े। प्राचीन भारत में यह संभव था कि देश के कुछ भागों में सांस्कृतिक प्रगति के मंद पड़ जाने पर भी
उसका विकास दूसरे भागों में होता रहा। किन्तु जब संकट बहुकाल्प्यापी और सारे देश या जाति को आराम करतेवाला ही तो वह सांस्कृतिक प्रगति के इतिहास को निश्चय ही प्रभावित करता है। बात यह है कि देश के संकटप्रस्तर वातावरण में तथाकथित शिष्ट लोग तटस्थता और लगन से वह साधना नहीं कर पाते, जो सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए आवश्यक है।

यहाँ एक दूसरी परिस्थिति का उल्लेख भी चर्चा है। हमने अब तक कहा कि सांस्कृतिक चेतना मुख्यतः कला तथा चित्तर्ण की प्रतीक-मूलक कुटियों में प्रकाश पाती है। किन्तु सांस्कृति का आंशिक प्रतीकलन विविध सामाजिक संस्थाओं में भी होता है। विवाह, शासन, शिक्षा आदि की प्रणालियाँ वे संस्थाएँ हैं जो जातीय संस्कृति को प्रतिफलित करती हैं। इन संस्थाओं का क्रमवार इतिहास संस्कृति के अध्ययन में निर्देश ही सहायक होता है। किन्तु देखने की बात यह है कि यह इतिहास भी प्रायः किसी जाति या देश के वास्तविक में ही उपलब्ध होता है। उपलब्ध अर्थात सुरक्षित जातीय वास्तविक में विभिन्न संस्थाओं के प्रायः उन्हीं रूपों का उल्लेख रहता है जो जातीय जीवन में लम्बे परिसंचरण एवं प्रयोग द्वारा सुप्रभावित हो सकेंगे।

हिन्दू संस्कृति का अध्ययन क्यों?

अब हम फिर इस प्रश्न की ओर लौटते हैं कि भारतीय संस्कृति के नाम पर हमें क्यों हिन्दू संस्कृति का विशेष अध्ययन करना चाहिए। बात यह है कि मानव-जीवन के अनेक पहलुओं का जितना विविध व व्यापक चित्र हिन्दुओं के साहित्य में मिल सकता है, वैसा किसी दूसरी जाति या धर्म के साहित्य में नहीं। यदि हम ईसाई संस्कृति का अध्ययन करना चाहें तो हमारे लिए यह उचित होगा कि हम ईसाई जाति के उस समूह साहित्य का अध्ययन करें जो यूरोप के उत्तर देशों में रचा गया। सिर्फ़ भारतीय ईसाइयों के जीवन और साहित्य को देखकर ईसाई संस्कृति के बारे में किसी निर्णय
पर पहुँचना उस संस्कृति के प्रति व्याप नहीं होगा। इसी प्रकार मुसलमानों की संस्कृति का समृद्धित अध्ययन करने के लिए हमें उन देशों के इतिहास में जाना होगा, जहाँ वह संस्कृति उद्भूत तथा विकसित हुई थी। बात यह है कि इन संस्कृतियों की उद्भवतम अभिव्यक्तियाँ हमारे देश की धरती पर नहीं हुईं। अवश्य ही बीड़ तथा जैं घरों से सम्बन्धित संस्कृतियाँ हमारे देश में जनमी और पनपी, किंतु जैसा कि हमने संकेत किया, वे उत्तम सार्वजनिक नहीं थे। सं की जितनी कि हिंदू संस्कृति। वे हिंदू संस्कृति के कम-बड़े आकार को ही रहीं। अवश्य ही दर्शन के क्षेत्र में बीड़ों तथा जैनों की, किसी से: बीड़ों की देव हिंदूओं की उपलब्धि से बहुत कम नहीं रही। किंतु दूसरे क्षेत्रों में या तो हिंदूओं की उपलब्धि उच्चतर रही, या फिर उनके प्रयत्न तथा बीड़ों आदि के प्रयत्नों में में भेदक केन्द्र का अभाव रहा।

उदाहरण के लिए जहाँ हिंदूओं के काव्य तथा नाट्य-साहित्य ने अपनी श्रेष्ठता से बीड़ों आदि के तत्संबंधी प्रयत्नों को पृथक नहीं दिया, वहाँ व्यक्ति, कोलो-रचना, गणित आदि क्षेत्रों में हिंदू तथा अन्य हिंदू कुलकों में भेद करना कठिन जान पड़ता है। बात यह है कि संस्कृति के कुछ क्षेत्रों में धर्मगत भेद महत्वपूर्ण नहीं होते।

संक्षेप में, हिंदू संस्कृति को भारत की प्रतिनिधि संस्कृति मानने के लिए नीचे लिखे कारण दिये जा सकते है—(१) हिंदू संस्कृति ने, कम से कम प्राचीन काल में, बीड़ों आदि के मूल्यवान विचारों एवं शिक्षाओं को बहुत कुछ आत्मसात कर छिया। हिंदू संस्कृति की इस सफलता के दो कारण थे, एक उसकी बिंदुता और दूसरे उसकी समन्वय-बृत्ति। (२) इस देश में हिंदू संस्कृति का जैसा सार्वजनिक विकास हुआ, वैसा किसी दूसरी संस्कृति का नहीं हो सका। 'रामायण' व 'महाभारत' जैसे जातीय महाकाव्य तथा कालिदास, भारती, भागवत, भास, भविष्यत आदि की कक्षा के महाकवि एवं नाटककार तथा अन्य साहित्य-प्रेमिता किसी दूसरी जाति या धर्म ने उत्पन्न नहीं किये।

इसलिए हम सिर्फ हिंदू संस्कृति का अध्ययन करके उन सब गुणों या
विशेषताओं की चेतना प्राप्त कर सकते हैं, जो भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव व्यक्तित्व को विभिन्न कोटियों का उत्कर्ष देती है। केवल बौद्ध अथवा जैन ग्रंथों का अध्ययन करके संभवहैं: हम यह जान सकते हैं कि एक मोहककामी जिन्दाबाद एवं साधक का जीवन कैसा होना चाहिए। किन्तु दूसरे वर्गों के नर-नारियों के चरित्र उत्कर्ष और उसके पैमानों को समझने के लिए हमारा सबसे बड़ा कोट हिंदुओं का तथाकथित लौकिक या लोक-सम्बन्धी (सिकूरल) साहित्य ही होगा। लोकजीवन से संबंध सौन्दर्य-बोध तथा नैतिक आदर्शों के मामले में दूसरे धर्म तथा जातियों भी हट कुछ हिंदू संस्कृति से ही प्रभावित रहें।

अब तक हमारे संस्कृति, जातीय संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति व्यज्ञानों का अर्थ निश्चित करने का प्रयत्न किया। अब हम अपने इस अध्ययन के प्रयोजन का संकेत करने देंगे। प्रयोजन के निष्ठल हो जाने पर यह देखना आसान हो जायगा कि हम भारतीय संस्कृति को समझने के लिए किस तरह अप्रसार हों?

किसी जातीय संस्कृति का अध्ययन अनेक दृष्टियों तथा उद्देश्यों से किया जा सकता है। मनुष्य से समवाहित प्रत्येक घटना या संस्था का अनुशालन, मोटे तौर पर, दो प्रकार का हो सकता है: एक कारण-मूलक और दूसरा मूल्यांकन रूप। वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा: घटनाओं तथा स्थितियों के कारणों की खोज करती है। मानव-जीवन तथा संस्कृति के अध्ययन में इतिहासकार का यही दृष्टिकोण होता है। बौद्ध धर्म को भारत से भिन्न देशों में सफलता कहें हुई और वह भारत से कहें हिंदुस्तान तथा इतिहासकार का इतिहास के हैं और उनके उत्तर विविध कारणों के संकेत-रूप होंगे जिनमें यहाँ भारतीय संस्कृति का अध्ययन इस ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं करता है।

मूल्यांकन का दृष्टिकोण

दूसरा दृष्टिकोण मूल्यांकन का होता है। यह मूल्यांकन तुलनामूलक भी हो सकता है और तुलना-निरपेक्ष भी। यह संभव है कि भारतीय
संस्कृति के किसी अंग की तुलना चीनी, युनानी, अरब, पारसी, आधुनिक यूरोपियन आदि संस्कृतियों के उसी अंग से की जाय, और यह निर्णय करने की कोशिश की जाय कि उनमें से इस या उसकी अपेक्षा भारतीय संस्कृति के उस विशिष्ट अंग की क्या स्थिति है। उदाहरण के लिए यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि महाकाव्य, नाटक-रचना, गणित, दर्शन आदि क्षेत्रों में प्राचीन भारत की उपलब्धियाँ यूनान आदि की तुलना में कैसी थीं। इस पुस्तक में इस तरह के प्रश्न उठाना भी हमें इस्तेमाल नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि हम संस्कृतिक मूल्यांकन की समस्या से विमुक्त हैं, अथवा उसमें दिलचस्पी नहीं रखते। वस्तुतः प्रस्तुत अध्ययन का दृष्टिकोण गहरे अर्थ में मूल्यांकन से संबंधित है; उसका प्रधान लक्ष्य पाठकों में संस्कृति-तर्क के उदार स्तरों तथा पैमानों की चेतना जगाना है। किन्तु इस लक्ष्य के लिए हमने यह आवश्यक नहीं समझा कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न स्तरों की तुलना दूसरी संस्कृति के वैसे स्तरों से की जाय। यह भी नहीं कि हमने तुलनाएं बिलकुल ही नहीं हैं। किन्तु हमारे द्वारा की गयी तुलनाएं भारतीय संस्कृति के लेख में प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्तर हैं अपने दायरे तथा क्षेत्रफल के सीमित रही गयी हैं। वस्तुतः यह समूचा अध्ययन एक पूर्व-मान्यता (एजेंस) या विश्वास पर आधारित है; यह मान्यता यह है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति एक ऊँची एवं महत्वपूर्ण संस्कृति थी, जिसका न्याय विश्व-इतिहास की चार-छह उन्नत एवं महत्वपूर्ण संस्कृतियों में है। हम मानते हैं, और हमारा अनुमान है कि विश्व के अरु-से समाधाय इतिहासवेता तथा मनीषी इस मान्यता में हमारे साथ हैं, कि प्राचीन आर्य अथवा हिन्दू जाति एक विश्वका अवतरणासम्पन्न जाति थी, जिसने उच्च संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों—साहित्य, दर्शन, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित आदि—में विशेष उल्लेख योग्य प्रगति की। लम्बी-चौड़ी तुलनाओं में न पड़ते हुए हम कह सकते हैं कि संस्कृतिक उपलब्धि की दृष्टि से प्राचीन आर्य या हिन्दू विश्व की किसी दूसरी सम्प्रदाय जाति से ही नहीं थे। इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिए कि हम भारतीय आर्य या हिन्दूओं को प्राचीन बहिनियों
अथवा यूनानियों एवं आधुनिक यूरोपीयों से श्रेष्ठ समानते हैं। इसके विपरीत हम मानते हैं कि वे जातियाँ भी सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ी गौरवशाली थीं और उन्होंने विश्व-संस्कृति को अपने अंशदानों से समृद्ध किया है।

हम सिर्फ यह दावा करना चाहते हैं कि भारतीय आयों या हिंदुओं का अंशदान भी प्रायः उतना ही महत्त्वपूर्ण है और इस पुस्तक में हम जिस प्रश्न का उत्तर खोज रहे हैं वह यह है—प्राचीन भारत में रहनेवाले लोगों की वे कौन-सी जातियों विशेषताएँ थीं जिन्होंने उन्हें बैद्धी ऊँची संस्कृति के निर्माण के योग्य बनाया? एक ऐसी जाति में जो संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में उत्तम सर्जनशील होती है और जो स्वतंत्र एवं प्रभावपूर्ण जीवन व्यतीत करती है, क्या-क्या विशेषताएँ पायी जाती हैं? उसके दस्तों का आचार-विचार किस प्रकार का होता है और जीवन के विभिन्न रूपों व संभावनाओं के प्रति उनके मनोभाव क्या होते हैं? अपनी विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से वे किन प्रयोजनों को पूर्ति करते हैं और किन क्षेत्रों को और अप्रसर होते हैं? जीवन की विभिन्न मांगों, ध्येयों या पुल्चारों के प्रति उनका क्या रूढ़ि होता है, और वे उनके बीच उन्होंने इन्होंने अथवा संघर्षों का किस तरह निपटाया करते हैं?

संक्षेप में, हम प्राचीन भारतीयों की उन चरित्रवर्ग तथा विचारार्ग विशेषताओं की चेतना अप्रत्यक्ष करना चाहते हैं जिन्होंने उन्हें विश्व की महान् जातियों में से एक बनाया था। स्पष्ट ही ऐसी चेतना हमारे नव-स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों के लिए उपादेय सिद्ध होगी। वह उन्हें यह प्रेरणा देगी कि वे अपने को उन गुणों से सम्पर्क करें जो किसी जाति को गौरवशाली बनाते और उसे महत्वपूर्ण उपलब्धियों के योग्यता देते हैं। बैद्धी योग्यता सम्पादित करके ही आज हमारा देश और हम सचमुच आगे बढ़ सकते हैं।

कुछ हद तक हम्म यह लाभ यूनानी आदि जातियों के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के अनुशीलन से भी हो सकता है। किन्तु हमारे लिए प्राचीन भारतीयों को ठीक तैयार सज्जनता सुकर है, उन्नत पूर्वी जातियों को समझना नहीं। बात यह है कि अपने देश की संस्कृति के अनुशीलन में हम
जितनी सहानुभूति का संबल जुटा सकते हैं, वैसा इससे संस्कृतियों के अध्ययन में नहीं। इससे, एक उस्ताजाति—प्राचीन भारतीयों—की विशेषताओं को समझ लेने पर हमारे लिए यह सरल होगा कि इससे उस्ताजाति के चरित्र को सहानुभूति से समझ सकें। संभावना यह है कि प्राचीन भारतीयों और प्राचीन यूनानियों एवं आधुनिक यूरोपियों में उससे अधिक समानता पायी जाय जो आधुनिक भारतीयों तथा उल्लिखित जातियों के बीच पायी जा सकती है। किन्तु भी दो उस्ताजाति के बीच समानता होनी चाहिए, कोई भी अवनत जाति या राष्ट्र किसी उस्ताजाति या राष्ट्र से विषम होगा। इसलिए हमारा विचार है कि प्राचीन यूनानियों, प्राचीन चीनियों, मध्ययुगीन अरबों तथा आधुनिक यूरोपियों को अपेक्षित सहानुभूति से और उचित परिप्रेक्षित (Perspective) में समझने के लिए यह जहरी है कि हम प्राचीन काल की उस्ताज भारतीय जाति की चारित्र-सांस्कृतिक विशेषताओं से ठीक-ठीक परिचित हों।

अपर के वक्तव्य में दो ध्यनियाँ लिखित हैं---एक यह कि प्राचीन भारतीयों तथा प्राचीन यूनानियों आदि में कुछ समानताएं थीं, और इससे यह कि आधुनिक भारतीय प्राचीन भारतीयों से भिन्न हो गये हैं। पहली मान्यता का यह अर्थ नहीं है कि पुराने भारतीयों तथा यूनानियों आदि में कोई चारित्रिक व सांस्कृतिक भेद नहीं था। कुछ भेद अवश्य थे, किन्तु जहरी तक उन जातियों ने ऐसे मूल्यों की सृष्टि की जिनका महत्त्व सार्वभौम व सार्वकालिक है, उनमें अवश्य ही कुछ समानताएं रही होंगी। यदि दो जातियाँ लगभग समान महत्त्व के साहित्य एवं दर्शन की सृष्टि करती हैं तो उनकी संबंधना एवं मानसिक गठन में अवश्य ही कुछ समान तत्त्व होने चाहिए। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि कुछ परिवर्तनों ने यह दिखाया की कोशिश की है कि पुराने भारतीय इस्तीफ सभ्य जातियों से एकदम ही भिन्न थे। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति के अन्य तत्त्व सहानुभूतिशील अध्येता श्री मैक्समूरर ने लिखा हैः
A people of this peculiar stamp of mind was never destined to act a prominent part in what is called the history of the world. This exhausting atmosphere of transcendental ideas could not but exercise a detrimental influence on the active and moral character of the Indians."

अर्थात् 'वह जाति जिसकी मनोवृत्ति इस प्रकार की थी, विश्व के इतिहास में उल्लेखनीय पार्ट बेलने के लिए नहीं बनी थी। यह अनिवार्य था कि अगोचर-अतीतिहाय-सम्बन्धी विचारों का थकाने-वाला वातावरण भारतीयों की क्रियाशीलता तथा नैतिक चरित्र पर खराब प्रभाव डाले। हम इस सम्मति के नितांत भ्रामक समझते हैं। यह कथन अजीब जान पड़ता है कि भारतीयों ने विश्व के इतिहास पर कोई प्रभाव नहीं डाला। मनुष्य का महत्त्वपूर्ण इतिहास उसकी सम्बन्धता और संस्कृति का इतिहास है; कौन कहेगा कि प्राचीन भारतीयों ने इस इतिहास को प्रभावित नहीं किया?

भारतीय साहित्य ने समय-समय पर इसी सभ्यता जातियों को प्रभावित किया है; भारतीय कहानियों तथा शाकुंतल आदि नाटकों की व्याप्ति तथा प्रभाव भारत तक ही सीमित नहीं रहा; भारतीय उपनिषदों तथा दर्शन ने कल्याण इस्लामी तथा यूरोपीय विचारकों को प्रेरित या प्रभावित किया; अंकों के लिखने की भारतीय पद्धति आधुनिक गणितशास्त्र की प्रगति का आधार बनी; और भारत में उत्पन्न हुए बोध धर्म तथा दर्शन ने अनेक देशों की संस्कृति पर अपनी छाप डाली। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भारतीयों ने राजनीतिक क्षेत्र में विश्व-इतिहास को अछूता छोड़ दिया; उत्तर पश्चिम में अफगानिस्तान, दक्षिण में लंका तथा पूर्व में बम्बे, हिन्दुस्तान, जावा आदि पर भारत का प्रभाव रहा था। उच्च-क्षेत्र में यह प्रसिद्ध ही।

1. ए हिस्ट्री ऑफ एनिशाएस्ट संस्कृत लिट्रेचर, भूमिका, पृ० १५।
है कि प्राचीन भारत के व्यापारी रोम तक के बाजारों में अपना सामान बेचते थे।

वस्तुतः प्राचीन भारतीय का बहु चित्र, जिसमें उन्हें सिर्फ़ दार्शनिक, परलोक-परार्य एवं इस लोक से विमुख दिखाया जाता है, अतिरिक्त व एकांगी ही नहीं, झूठा एवं भ्रामक भी है। आगे के पृथ्व हमारे इस वस्त्त्व को प्रमाणित करेंगे। भारतीय का इस प्रकार का चित्र न तो वैदिक काल के आयों पर ही ठीक घटता है, और न उस हिंदू जाति पर, जिसने अनेक महाकाव्यों, नाटकों तथा बहुत-से व्याकरण, दर्शन, ज्योति, छन्दःशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनय, गणित आदि से सम्बन्धित विचार-प्रवचनों का प्रणयन किया।

हमारा यह कथन कि आधुनिक भारतीय प्राचीन आयों तथा हिंदूओं से विशेष भिन्न हैं, कुछ लोगों को चकित कर सकता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि हमारी प्राचीनों के प्रति भक्ति, हमारी हुड़ड़िवादिता व परम्परा-प्रियता इसका लेख मात्र भी प्रमाण नहीं है कि हम अपने चरित्र एवं स्वभाव से उन लोगों के समान हैं। वस्तुतः परम्परा के प्रति हमारा मोह व आदरमाह भी इस बात के सूचक हैं कि हमारी दृष्टि में प्राचीन लोग हमसे कहीं अधिक अभिलेख्य थे।

अब हम दूसरा प्रश्न उठाते हैं। भारतीय संस्कृति का अध्ययन किस प्रकार किया जाय? उपर हमने इस संस्कृति के सम्बन्ध में, अथवा भारतीयों के संबंध में, मैकसमूलर की सम्मति उद्धृत की। उस सम्मति का आधार, इस देश का विशिष्ट साहित्य है। प्रश्न है, किसी जाति की संस्कृति किस कोटि के साहित्य में समग्र अभिव्यक्तिपूर्ण पाती है? अधिकांश पत्रिकामध्ये पंडितों ने भारत के दार्शनिक साहित्य में यहाँ की संस्कृति के मर्म को खोजने की कोशिश की है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश में दार्शनिक जिज्ञासा तथा विचार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह भी माना जा सकता है कि दार्शनिक आस्थाएँ किसी संस्कृति की नींव का निर्माण करती हैं। विशेषतः हमारे देश में धर्म अथवा आध्यात्मिक साधना तथा दर्शन का खास स्थान रहा है।
यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की एकता मुख्यतः आध्यात्मिक दृष्टि तथा साधना की एकता है। तत्वज्ञान की दृष्टि से यद्यपि वैदिक, जैन तथा हिंदू विचारकों में मतभेद है, फिर भी सब में मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रायः एक-सी साधना का निर्देश है। इस साधना में इस लोक तथा परलोक के भोगों के प्रति अनासक्ति, इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण, राग-द्वेष आदि विकारों पर विजय आदि का समावेश है।

फिर भी हमारा विचार है कि भारतीय धर्म और दर्शन यहाँ की संस्कृति का पूरा प्रतिफलन नहीं करते। जहाँ उस तरह के साहित्य का अल्पाया यहाँ जान सकता है कि मोक्ष या निर्वाण-पत्थर के पथ की संबंधना एवं जीवन कृत्ति होता है, वहाँ वह देश के निन्यानबे प्रतिबाद मनुष्यों के सम्भव में आरम्भ कारी प्राप्त नहीं कर सकता। हमारे यहाँ गूढ़व आध्यात्मिक को बाकी सब आध्यात्मिक का आश्रय या आधार कहा गया है; दर्शन तथा अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रंथ इस आध्यात्म से समबद्ध जीवन तथा समस्याओं के बारे में कोई संकेत नहीं देते। इसलिए हमारा विचार है कि किसी जाति की संस्कृति को समझने के लिए उसके दर्शन तथा धर्म-प्रन्यों को जानना काफी नहीं है।

भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालने से कुछ और बातें दिखाई देती हैं। अनेक परिक्षणों की समस्त में हिंदू संस्कृति का स्वर्णयुग महाकाव्य कालिवास के निकट की कुछ शक्तिविश्वा है। इस समय तक हिंदूओं के प्रसूच समस्त जानेवाले दर्शन अपेक्षा वेदांत का ठीक से प्रतिपादन भी नहीं हुआ था। उसकी प्रखण्डन का तो कहना ही क्या? जिन शंकराचार्य ने अपैत क मत को ठीक से प्रतिष्ठित किया, उनका आवार्त हिंदू संस्कृति के स्वर्ण-युग के बाद हुआ। शंकर से पहले के काव्य-साहित्य में, और भगवद्गीता में भी, सांख्य दर्शन का विशेष महत्त्व दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में वे परिक्षण, जो हिंदू जितना को वेदांत से समीक्षत करते हैं और वेदांत दर्शन को भारतीय संस्कृति को समझने की कुंजी मानते हैं, अपने को हिंदू संस्कृति के स्वर्णयुग को समझने के अयोग्य बना लेते हैं।
महाकाव्यों का आधार

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दू अथवा भारतीय संस्कृति का अध्ययन यहाँ के महाकाव्यों के आधार पर किया गया है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि भारतीय साहित्य इतना विशाल है कि समप्रता में उसका विशिष्ट अध्ययन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता है। अर्के वैदिक साहित्य का ही विस्तार इतना है कि उसके अनुशीलन के लिए एक पूरा जीवन चाहिए। यहीं बात यहाँ के वर्णनशास्त्र पर लागू होती है। यहाँ का काव्य-साहित्य भी बड़ा विस्तृत है, केवल संस्कृत साहित्य का ही बड़ा विस्तार है, आधुनिक भाषाओं का तो कहना ही कया। दूसरे, संस्कृति-तत्त्व की हमने जो व्यंग्य की है उसके अनुसार किसी जाति की संस्कृति को समझने का सबसे बड़ा आधार एवं उपकरण यहाँ का काव्य-साहित्य ही ठहरता है। बात यह है कि जाति-विशेष के काव्य-साहित्य में उसके दूसरे मूल्यों के साथ आधारात्मिक मूल्य भी प्रतिफलित हो जाते हैं। इसके विपरीत केवल दार्शनिक एवं आधारात्मिक साहित्य के अनुशीलन से जीवन की विविधता व उसके मूल्यों का व्यापक परिचय हो जाता है।

भारतीय साहित्य में महाकाव्यों का विशेष स्थान है। इस देश में जितने महाकाव्य लिखे गये उनने कम देशों में मिल सकते हैं। संस्कृत साहित्य में रामायण-महाभारत के अतिरिक्त पाँच-छह महाकाव्य विशेष प्रसिद्ध है। महाभारत अपने में हिन्दू संस्कृति का विश्वकोश ही है, उसमें भगवद्गीता जैसे महत्वपूर्ण दार्शनिक-आधारात्मिक प्रत्य न कर समावेश है। किन्तु यहाँ हमने गीता का विशेष उपयोग नहीं किया है। बौद्धों के महाकाव्य 'बुद्ध-चरित' का उपयोग किया गया है, पर कम। लक्ष्मी साहित्य के दूसरे अंगों, जैसे नाटकों का उपयोग भी कम हुआ है; कारण यह कि महाकाव्यों में प्रायः वह सब सामाप्री उपलब्ध है जो नाटकों में मिलती है।

वस्तुतः अपने अनुशीलन को मुख्यतः महाकाव्यों तक सीमित रहने में एक लाभ यह है कि उनकी विषय-वस्तु से हमारा विस्तृत व पूर्ण परिचय हो जाय।
कालविभाग

भारतीय संस्कृति के नितांत लम्बे इतिहास को विभाजित किया जा सकता है। अपने विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति के लिए हम यहाँ की संस्कृति के विकास की परम्परा को चार कालों या युगों में विभक्त कर सकते हैं। पहले युग का प्रसार वैदिक काल से लेकर रामायण-महाभारत के निर्माण तक माना जा सकता है। इस लम्बी अवधि में, जिसका विस्तार 1,500 अष्ट्रा (कुछ, परीक्षण के अनुसार) 3,000 ई-पूः से लगभग 500 ई-पूः तक है विविध एवं जटिल भारतीय संस्कृति की विभिन्न प्रवृत्तियों का उदय हुआ। दूसरा काल भारतीय संस्कृति का स्वर्ण-युग है, जिसके प्रतिनिधि गायक व प्रबक्ता महाकवि कालिदास, भारवि तथा माण्डल तथा। पहले और दूसरे युगों के बीच के समय को हम उक्त स्वर्णयुग की भूमिका के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इस बीच के समय की सबसे बड़ी घटना बौद्ध धर्म का उदय तथा बौद्ध दर्शनों का विस्तार है। यह कहना धार्मिक एवं अन्यायपूर्ण होगा कि बौद्ध दर्शनों का एकमात्र कार्य हिंदू दर्शनों के तर्कपूर्ण संधान के लिए भूमि प्रस्तुत करना था। वस्तुतः दर्शन के क्षेत्र में बौद्धों की देन हिंदूओं की उपलब्धि से कम नहीं है। फिर भी यह ठीक है कि बौद्ध दर्शन के अभाव में हिंदू दर्शन वह प्राचीन रूप प्राप्त न कर पाते जो उन्होंने सूत्र-प्रत्ययों तथा उनके भाष्यकारों की क्रियाओं में पाया। हिंदू दर्शनों का यह संग्रहण ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुआ, ऐसा माना जाता है। स्वर्णयुग में भारत की दार्शनिक चेतना बहुत-कुछ व्यवस्थित रूप के चुकी थी। इस युग में हिंदू जगत में साक्ष्य से अनुप्राणित वेदांत का प्राधान्य था—उस वेदांत का जिसका प्रतिपादन भगवदगीता में पाया जाता है। अभी शंकर के मायावाद का जतन नहीं हुआ था, यदि हुआ भी था तो वह शिष्यहों की साधारण चेतना का अंग नहीं बना था। स्वर्णयुगीन महाकाव्यों के प्रशंसक मायावादी सिद्धान्त से परिचित व प्रभावित नहीं दिखाई देते। कालिदास का समय सम्भवतः गुप्त-साम्राज्य का उत्कर्ष-काल है, अर्थात् ईसा की बोधी और पाँचवी
शतावद्यायः। इस अवधि में गुप्त वंश में चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्र-
गुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम तथा सकंदगुप्त नाम के महत्वशाली सम्राट्
इति। कालदास इति में ये किसी सम्राट की सम्पा के आभूषण थे। चन्द्र-
गुप्त द्वितीय ने 'विमानादित्या' का अभिधान धारण किया था, ऐसा कहा
जाता है। कौशिक के अनुसार भारती का समय इसी की छठी शताब्दी है और
माध्य का लगभग सातवीं शताब्दी।

भारतीय संस्कृति का तीसरा काल हमारे इतिहास का मध्ययुग है,
जिसका आरम्भ मुसलमानों के आक्रमण के साथ मानना चाहिए और
जिसका प्रत्याश अंग्रेजों के आगमन तक रहा। इस युग का पहला महावर्ष
महाकाव्य श्रीहर्ष का 'नैवधीय चरित' है और अन्तिम तुलसीदास का 'राम-
बरसितमानस'। श्रीहर्ष का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है और
tुलसीदास का सोलहवीं शताब्दी। मध्य युग में हिन्दू जाति प्राधिक
रही। यह युग उसकी संस्कृति के उत्तर का समय है, यथापन भक्त विचारकों
तथा कवियों के आन्दोलन ने उस संस्कृति में कतिपय प्रगतिशील तत्त्वों का
समावेश भी किया। भारतीय संस्कृति का अन्तिम युग आधुनिक काल है
जिसका प्रारम्भ अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बास-पास से माना जा सकता
है। इस युग में कोई महावर्ष महाकाव्य नहीं लिखा गया। कारण यह
है कि इस कालावधि में भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी देशों का विशेष
प्रभाव पड़ा, जिससे उसकी आत्मा विचित्रित होने लगी। इस युग के
अन्तर्गत उम्मीदवार शताब्दी में एक प्रकार का संस्कृतिक पुनर्जीवन भी
hुआ। इस जागरण का रूप मुख्य: धार्मिक रहा; उसने देश के स्वतंत्रता-
आन्दोलन के लिए भूमि तैयार की।

जैसा कि हमने कहा, प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य जातीय चेतना या संस्कृति
की उन विशेषात्मकों को प्रकाश में लाना है जो जातीय जीवन को सर्जनोन्मुख
अथवा प्रगतिशील एवं प्रभावित बनाती हैं। इसलिए यहाँ सबसे विस्तृत
अध्ययन दृष्टे युग का किया गया है। यह युग का अध्ययन हूँ दृष्टे युग के
अनुच्छेद के लिए तैयार-रूप है, और तीसरे युग का संस्कृतिक विकल्पण
यह दिखाने के लिए किया गया है कि वह युग हमारी संस्कृति के स्वर्णयुग से किन बातों में भिन्न एवं हीनतर था।

उपर कहा जा चुका है कि इस पुस्तक का उद्देश्य भारतीय संस्कृति तथा दूसरी उपन्यास संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। सिर्फ ‘उपसंहार’ में, भारतीय संस्कृति के भाव विकास की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए, चीनी, यूनानी तथा वर्तमान यूरोपीय संस्कृतियों का धोंगा-बहुत जिक्र किया गया है। वहाँ देश की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति को उत्कर्षकालीन संस्कृति के आलोक में देखने का प्रयत्न भी हुआ है।
प्रथम खंड
बीच और अंकुर
पहला अध्याय

बैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

विषय-प्रवेश

भारतीय संस्कृति एक विस्तृत व जटिल वस्तु है। उसके विस्तार तथा जटिलता के अपने कारण हैं। यह संस्कृति, जिसका उद्देश्य मुख्यतः उत्तर भारत के कुछ भागों में हुआ, कमश: इस देश की समूची लम्बाई-चौड़ाई में फैल गयी। अनेक प्रकार की ज्ञानता तथा स्वभावों वाले लोगों के बीच उसका प्रचार-प्रसार हुआ, और अनेकविध जन-समुदाय के बीच वह शास्त्रीयताओं । तक विविधति व विकसित होती रही। इन कारणों से यह अविभाज्य था कि भारतीय संस्कृति का रूप निर्तात विविध, वैचित्र्यपूर्ण एवं जटिल बन जाय। मूल्य-भावना की दृष्टि से यह जटिलता अपने को अनेक रूपों में प्रकट करती है—अद्वैत नर-नारियों की विविध कल्पनाओं में, जीवनध्रुवों की अनेकजातियों के भीतर, अनेक पंथों, सम्प्रदायों तथा मार्गों के उदय और प्रचलन में।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि आयार्व एवं हिन्दू संस्कृति की इस विविधता में कल्पित जीवन-मूल्यों प्रथम मूल्य-दृष्टियों की विशेष गौरव दिया गया है। गौरव देने की इन विशेष प्रवृत्तियों का आरम्भ उस समय की असाधारण विशेषताओं में देखा जा सकता है जिसे बैदिक युग कहते हैं। कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन-दृष्टि की प्राय: सभी विशेषताओं का उद्देश्य इस युग में हुआ। अवश्य ही बैदिक काल मनुष्य की अपेक्षाकृत सरल मनोवृत्तियों का युग था। उस समय भारतीय संबंधों को उन विरोधाभासों की चेतना न थी जो बाद में, अनेकविध प्रवृत्तियों के विस्तार तथा विकास से, उनके बीच विचारदारों देने लगे। बैदिक युग की प्रवृत्तियों जब नमूना: जटिल होते हुए सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अभिव्यक्ति पाकर तीख्य एवं परस्पर...
भारतीय संस्कृति

विरोधी रूप धारण करने लगीं, तब उनके आपेक्षिक महत्त्व व सीमाओं के निर्धारण का प्रश्न जोर-शोर से उठाने लगा। प्रश्नक प्रवृत्ति का सम्बन्ध जीवन-दर्शन से जोड़ा जाने लगा, और विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले नर-नारियों अथवा नायक-नायिकाओं की कल्पनाएँ एवं प्रशास्तियाँ उल्लिखित होने लगीं।

वैदिक युग में मूल्य-दृष्टि अथवा जीवन-दर्शन की जो प्रवृत्तियाँ बीज-रूप में दिखाई देती हैं, वे रामायण तथा महाभारत के युगों में स्पष्ट रूप में अकृतित दीपक पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों को एकांगी गौरव एवं संचरण की भूमिका से निकाल कर अधिक समझौता एवं सुदरूप रूप में प्रबोधित करने का कार्य हुआ संस्कृति के उल्काक-कलाम में सम्पन्न हुआ।

प्रश्न है, वैदिक युग की भारतीय अथवा आर्य-संस्कृति में वे कौन-सी प्रवृत्तियाँ हैं जो उस संस्कृति के उत्तरकालिन विकास को निर्यातित या निर्धारित करती हैं?

जिसे हम वैदिक साहित्य कहते हैं उसके तीन मुख्य विभाग हैं, जो आर्य-मस्तिष्क की तीन मौलिक प्रवृत्तियों अथवा पक्षपातों को विशद रूप में प्रकट करते हैं। वेद अथवा वैदिक वाङ्मय के ये तीन विभाग निम्नलिखित हैं—संहिता अथवा मन्त्र भाग, ब्राह्मण और उपनिषद्।

मन्त्रों या संहिताओं का युग

ऋग्वेद की आदायां में आर्य जाति की जिस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है उसकी दो प्रमुख विशेषताएं हैं: जीवन में सहज उल्लास की भावना, और विश्व के मौलिक दृष्टि से नियंत्रित होने का विश्वास।

वैदिक काल के आर्यों के मस्तिष्क में किसी प्रकार की उल्लास नहीं है। जीवन का प्रयोजन क्या है, इस सम्बन्ध में वे पूर्णत्या स्पष्ट हैं; विश्व का नियंत्रण करनेवाली शक्तियों के बारे में भी उनके निर्दिष्ट विश्वास हैं। वे यह भी मानते हैं कि उन शक्तियों को प्रसन्न करके जीवन के उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं को पाया जा सकता है। वैदिक काल के आर्य-
बौद्ध काल और रामायण-महाभारत-युग

जीवन की आवश्यकताएँ व प्रयोजन पूर्णतया स्पष्ट हैं—दन-संपति, संतान, विशेषतः बीर पुत्र, स्वास्थ्य व दीर्घायु, शान्तियों पर विजय आदि। इन चीजों की प्राप्ति देवताओं की हृदय के बिना नहीं हो सकती, इसलिए देवताओं का अनुग्रह, कम-से-कम उनकी अप्रसन्नता का अभाव भी प्रयोजनीय वस्तु बन जाती है।

शक्ति, ऐश्वर्य और जीवन-संबंधों

ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों का विषय देवताओं की स्तुति है। आराध्य अथवा उपास्य देवों की प्रणाम संग्रह करते हुए वैदिक कवि उन गुणों का निर्देश कर देते हैं जिन्हें वे बाणनीय समझते हैं। ऋग्वेद का सबसे महत्वपूर्ण देवता इन्द्र है, कम-से-कम चोथाई मंत्रों में इन्द्र का तीर स्तवन है। इन्द्र शक्तिमान् है, उसने दस्यु, वानु, रोहिण तथा बृण का हृदय किया है; बच्चय विजली उसका शक्तिशाली अस्त्र है, जिससे उसने बृण का वध किया। बच्च का निमित्त तवदा ने लोहे से किया। इसी से इन्द्र का नाम बजरवाहु पड़ा। इन्द्र को सोम-पान का वध चाहा है; सोमपान करके वह युद्ध में जाता है। वह अपने उपासियों को युद्ध में विजय देता है। जब इन्द्र बृण से लहता है तो पृथ्वी और आकाश काँपते हैं। बृण अथवा ब्रह्म का वध करके इन्द्र वरसने के लिए जल का मोचन कर देता है। 'जिसके नियंत्रण में घोड़े, गो, गाय और रथ हैं, जो उषा तथा सूर्य का सहम्मा है, जो जलों का नेता है, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है। जिसकी सहायता के बिना मनुष्य विजयी नहीं होते, युद्ध करते समय जिसे मदन के लिए पुकारते हैं, जो सबसे अधिक बलवान् है; जो चचल चीजों को भी चला देता है; हे मनुष्यो, वह इन्द्र हैं।' इन्द्र के लिए जो सोमसर निचःबूता है और जो पकाता है उसे भयंकर इन्द्र ऐश्वर्य देता है। हे इन्द्र! हम तुम्हें सदैव प्यारे हों और बलवान् पुत्रों के साथ सदैव तुम्हारी स्तुति-उपासना करें।

1. ऋग्वेद २, २२, ७ और २, १२, ६
2. महो २, १२, १५
भारतीय संस्कृति

इन्द्र की उक्त स्तुतियों से इसका अनुमान किया जा सकता है कि बैदिक काल के आर्य ब्रह्मचारी थे और किन गुणों का आदर करते थे। उनकी प्रार्थना थी—‘हम सो वर्षों तक देखें, सो वर्षों तक जीयें, सो वर्षों तक गुरुएं, बोलें और सत्यम बने रहें; और यदि सो वर्ष के बाद जीवित रहें तो भी इसी तरह बने रहें।’

आर्यों की दृष्टि में खान-पान तथा एंबेवं-संपादन के बाद सबसे महत्वपूर्ण काम श्रवणों को नीचा दिखाना, विजयी व यशस्वी होना था—‘अभिन के द्वारा हम प्रतिदिन धन और संपत्ति को पायें, यश प्राप्त करें और बहुत से बीरों (बीर पुत्रों) बाले हों।’

बैदिक आर्यों में अनुक्रम, क्षमा तथा अहिःशा की भावनाएं कम मिलती हैं। इस समय तक वे इन कोमल भावनाओं से सुपरिवर्तित नहीं हो सकते थे। कारण यह था कि अब तक वे जो कुछ पा सके थे वह भौतिक शक्ति तथा युद्ध से। इन्द्र की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—‘रथ में बैठे उस प्रसिद्ध इन्द्र की स्तुति करो जो शाक्तिशाली है और भयंकर पशु की तरह मरात है।’

यों ऋग्वेद में तरह-तरह के नैतिक विचार पाये जाते हैं। आसाकारी पुत्र प्रशंसनीय होता है। ‘जिस प्रकार पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार यजमान लोग अभिन का आदेश मानते हैं (१, ६८, ५)।’

एक जमाने अभिन की ‘संसार के हितवी’ पुरुष से तुलना की गयी है, जिसके माने हैं कि विवश का हितवी होना श्लावनीवाच है (१, ६९, २)। एक अंतर में अभिन से ऐसे पुत्र की याचना की गयी है जो सत्य का पालन करनेवाला।

3. पश्येम शर्व: शतं, जीवेम शर्व: शतं, भृणुयमान शर्व: शतं, प्रबवाम
शर्व: शतमदीना: स्याम शर्व: शतं, भृयर्ष शर्व: शतात्।
यजुवेद ३६, २४

4. ३० १, १, ३।

5. हतुहि भूतं गर्तसंयुतां युवां तु भीममुपहल्लु मुग्रम।
भृ २, २३, ११
बैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

हो; शत्रुओं को जीतनेवाला और बाप-दादा के यश को बढ़ानेवाला हो (४, २५, ५—६)। वरुण के लिए कहा गया है कि वे असल के विषयक हैं (७, ८४, ४)। एक मंत्र में अनेक पापों का उल्लेख है—‘ब्रह्महृद्या, शाराबोरी, चौरी, भुस्त्रोग, जुज्जुर: पुनः-पुनः पापाचरण, बाप करके न कहना (१०, ५, ६)।

ऋषबेद में आपद्वर्म का भी उल्लेख है। स्तुतिकर्ता अपनी सफाई देते हुए कहता है—‘हमने जीवनोपाय के अभाव में कुली को अंतःको पक्कर बाया था’ (४, १८, १३)। मतदान यह था कि जीवन की रक्षा के लिए अमृत पदार्थ को भी बाया जा सकता है। आगे यही विचार विवास-मित्र और चाँदनान की कथा में मिलता है। एक स्थल में कहा गया है कि कर्महीन मनुष्य गाहित होता है—‘हे इदु, तुम कर्महीन मनुष्यों को गाहित बनाते हैं’ (४, २८, ४)। तात्पर्य यह है कि कर्महीन मानव निन्दनीय होता है। यह विचार भी महाभारत में मिलता है।

वरुण और नैतिक चेतना

‘अश्वम, विजय तथा यश के इलख होने हुए भी बैदिक आर्य नैतिकता के प्रति विमूख नहीं थे। वे मानते थे कि विश्व में तथा मानव-जीवन में नैतिक नियमों का शासन है। उनकी यह आत्मा ‘कृत्त’ की धारणा में सत्सहित है। बैदिक कृत्त शब्द व्यवस्था या नियमशीलता का वाचक है। बैदिक आर्यों की दृष्टि में वरुण नामक देवता कृत्त अर्थात् नैतिक व्यवस्था का रक्षण करनेवाला है; उनकी मान्यता में उस देवता को नाराज करना कंध की निमंत्रण देना था。

बैदिक देवताओं में वरुण का विशेष स्थान है। वरुण शांतिप्रिय देवता है। वह विश्व का नियन्त्रण और शासक है। अपने स्थान में गुप्तचरों से चिम हुए बैठकर वरुण जगत का शासन करता है। वरुण का एक विशेषण धृतत्रत है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमों का संरक्षक है। धर्म के विश्व चर्चनेवालों को वरुण द्वारा दंड मिलता है। प्रकृति और नैतिक
भारतीय संस्कृति

जीवन दोनों पर अखंड नियमों का शासन है। नियमों की इस व्यापकता को ऋग्वेद में ‘अष्ट’ नाम से संकेतित किया गया है। ‘अष्ट’ से ही सारा संसार उच्चता होता है। वर्ण अष्ट का रक्षक है (गोपा अष्टतस्व)। मनुष्यों के अन्तर्न-बुरे कर्म वर्ण से छिपे नहीं रहते; वह सर्वत्र है जो आकाश में उड़नेवाले पक्षियों का मार्ग जाता है, और समुद्र में चलनेवाली नावों को जाता है। वर्ण वार्ता मासों को जानता है और जो तेरहाँ (लौं द का) महीना पैदा हो जाता है उसे भी जानता है। ॥ ॥ स्पष्ट ही वर्ण से किये हुए पापों को नहीं छिपाया जा सकता। जाने या अनजाने कुछकर हो जाने पर एक ही रास्ता रह जाता है, वर्ण से क्षमा मांगना।

‘हे वर्ण, यह मेरा संकल्प (संकल्पित पाप) नहीं था; यह अहकावा था; यह मदिरा, कोध, जुआ, बिचारहँनीता थी; बड़े की प्रेरणा से छोटे द्वारा अर्थात् हुआ है; नींद भी पाप (की स्मृति) को हूँ नहीं कर पाती।’

‘हमें पितारों के पाप से मुक्त दो और उनसे, जो हमने स्वयं किये हैं।’
हमने सैकड़ों आयों को मनोवृत्ति के दो पहलूओं का वर्णन किया।
उनका यह विश्वास था कि मानव-जगत् का देवताओं के संसार से धना संबंध है। ऋग्वेद के अधिकुंशा देवता प्राकृतिक शक्तियों में चेतना के आरोप द्वारा उद्भूत हुए विख्यात देते हैं। वे बाद के ब्रह्म की भावना अतिरिक्त के असारों नहीं हैं। फिर भी वे प्राचीन आयों को रहस्यमय प्रतीत होते ही रहे होंगे। बाद के सांस्कृतिक इतिहास में इन्द्र, वर्ण आदि देवताओं के महत्व में अंतर पड़ता गया। किंतु यह विश्वास कि मनुष्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसी चेतन शक्तियाँ भी हैं जो मनुष्य पर क्रोध व अनुग्रह कर सकती हैं, उसे सुख-दुःख पहुँचा सकती हैं और उसके प्रयत्नों में हस्तक्षेप कर सकती हैं, लगभग विद्वेष जाति के साथ रहा। इस विश्वास ने हिंदुओं के धर्म व साहित्य को गहरे तथा विस्तृत रूप में प्रभावित किया।

6. अठ २, २५, ७-द। 7. अठ ७, ६६, ६।
8. अठ ५, ६६, ५।
प्रकृति-प्रेम

ऋग्वेद के सूक्तों में भारतीय संवेदना की एक और विशेषता लक्षित की जा सकती है—उसका प्रकृति-प्रेम। जैसा कि हमने संकेत किया, ब्रह्मी देवता प्रायः प्राकृतिक शक्तियों के ही अधिष्ठात्र हैं। फलतः इन देवताओं के वर्णन में अक्सर कवितापूर्ण चित्रों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से कुछ देवता विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे उपसु, सूर्य, चन्द्र, मर्ग तथा परज्ञा। उदय होते हुए सूर्य के वर्णन में ब्रह्मी कवियों ने स्वर्ण के रंग का संकेत देनेवाले विशेषणों का प्रचुर प्रयोग किया है। 'स्वर्ण के रूप में जाता हुआ अरुण समस्त मुख्यों को देखता है।' सूर्य हिरण्यपालि अथवा हिरण्यहस्त (सुवर्ण के हाथोंवाला) है। उसकी उपस्थिति पर भी भी दी गयी है जो अंतरिक्ष का पर्यवेक्षण करता है। सूर्य दुरे सपनों को भी हटाता है, वह भूत-प्रेम की बाध्य को दूर करता है और मनुष्यों को पापों से निवृत्ति देता है।

ऋग्वेद में उपस्रू के वर्णन भी बड़े कार्यमय हैं। नतीजतः के समान सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई उपस्रू प्राची में प्रकट होकर अपने संवेदन का प्रकाशन करती है। प्राचीन होने पर भी उपस्रू सदैव नवयौतन है, ज्यादा बार-बार नया जन्म लेती है। उपस्रू का सूर्य से घनिष्ट संबंध है; वह सूर्य की प्रिया या प्रेयति है। चूंकि उपस्रू अवश्य में जन्म लेती है, इसलिए उसे 'दिव की दुहिता' कहा जाता है। एक गुरुत के कुछ पद इस प्रकार हैं—

हेत्ते कहूँ भूत-प्रेम की धारी प्राची,
हे बीरव-शालिनि हुमारा हो स्तवन स्वीकार,
अहूँ प्राणी तुम्हारा है अचल योवन,
विश्व-कथनीय नियम से कर रहीं पद - चार।

6. हिरण्यन सेवता रथेन देवो याति मुख्नानि परस्यः। ॥ १३॥
10. ऋग्वेद ३, ६९, १-५
भारतीय संस्कृति

स्वर्णमय रथ पर उदित होतीं अमर देवी; मुक्त तुम करतीं विहंगों का सुरीला गान; आयुग्मती ओझसिनी रवि की कनक-वर्ण, रशिमयी करतीं बहन सुंदर तुम्हारा यात्र। विश्व के संमुख अमरता की पताका-सी, किवर्ण नम में तिया तुम होतीं उषे शोभित; अयि सदा - नवयौवने! इस एक ही पथ में, करक-सी मूर्खो निरंतर कर भुवन मोहित। तिमिर का अंचल हुटाती रवि - प्रिया सुंदर, भूमि - नम के बीच जब करतीं चरण - निकोप, सुभग अंगों की प्रभा से बिस्मल देवी के, जगत हो उठता प्रकाशित निमिष भर में एक। सामने आभारमयी के सब प्रणति के साथ, ला धरो यज्ञश्राव का, हुवि का मधुर उपहार; रोचना, रमणीय रूपा की मनोहर कांति, ढालती आकाश में आलोक की मधु - धार।

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में जहाँ-तहाँ प्रकृति के बड़े अलंकृत वर्णन मिलते हैं, किन्तु स्वतःशूर्त भावुकता एवं स्वाभाविक चित्रमयता में वे वर्णन वैदिक वर्णनों से होइ ले सकते हैं; इसमें सदेह है।

ब्राह्मण-युग

अब हम ब्राह्मण-युग की पर्यावृत्ता करेंगे। ब्राह्मण प्रन्यों का उद्देश्य वैदिक संहिताओं की, एक विशिष्ट दृष्टि से, व्याख्या करता है। किन्तु उनकी भावना वैदिक सूक्तों से एकदम भिन्न, लगभग विपरीत है। वैदिक आर्य स्वाभाविक भक्तिभावना के साथ अपने इष्ट देवों की उपासना करते थे। स्तुतियों के अवसर पर वे हुवन आदि कियाएं भी करते थे, किन्तु वे कियाएं गोष्ण ही थीं। देवताओं तथा उनके बीच स्थापित होनेवाले संबंध
वैदिक काल और रामायन-महाभारत-युग

में भावना की ही प्रधानता थी। किन्तु वैदिक-युग में वह संबंध यात्रिक
देन-खेत का रूप धारण करते रहा; उसमें स्वार्थपूर्ण हिसाब करते की
प्रवृत्ति का समावेश हो गया और उसकी सहजता नष्ट हो गयी। यह ठीक
है कि ऊर्जवेद के आर्य भी ऐश्वर्य सुख-भोग एवं सफलता के प्रार्थी थे, किन्तु
उनकी ये वृत्तियाँ भावनाहीन, कठीर व्यावहारिकता का रूप नहीं ले पाई
थीं। वैदिक-युग के आते-आते आर्य मनोवृत्ति संकीर्ण रूप में व्यावहारिक
तथा उपयोगितावादी बन गयी।

वैदिक-युग में पुरोहितों का अलग वर्ग बन चुका था। ये पुरोहित बेड-
मंत्रों के अभिप्राय को बिलकुल ही गलत ढंग से समझते-समझाते थे, उनका
बिचार था कि वे मंत्र यज्ञ-विधानों के सहकारी साधन मात्र हैं। मंत्रों का
संबंध यात्रिक कियाओं से होना चाहिए। जिन मंत्रों का इस तरह संबंध
स्थापित नहीं किया जा सकता था, वे उन्हें निराकर साद पड़ते थे। चार
तरह के पुरोहित होते थे—होता, अच्छवु, उदगाता और भ्राह्म। पहले
तीन वर्गों के पुरोहित यज्ञ के समय क्रमशः ऊर्जवेद, यजुर्वेद तथा सामवेद
के मंत्रों का पाठ करते थे। अच्छवु का काम मुख्यतः यज्ञ से संबंधित भौतिक
कियाओं को ठीक से अनुमोदन कराना था। भ्राह्म का नाम का पुरोहित इस
बात का ध्यान रखता था कि होता आदि पुरोहित अपना कार्य ठीक-ठीक करें,
उनसे कहीं भूल न हो। यह समझा जाता था कि यज्ञ के अनुष्ठान को एक
विशेष क्रम से ठीक से करना चाहिए; इस प्रकार किया अनुष्ठान ही उचित
रूप में फल देता है।

यों वैदिक-युग में जीवन के लक्ष्य तथा प्रयोजन के बारे में कोई ऐसी
धारणा नहीं बनायी गयी जो वैदिक युग से मिलत ही न। अब भी आर्य लोग
तेज की, अच्छवुर्चस की, स्वर्ग की तथा यज्ञ की कामना करते थे; अब भी
वे सांसारिक ऐश्वर्य, सुख-भोग, पुत्रों आदि के लिए प्रार्थी रहते थे।” किन्तु

11. तुलना कीजिए—तेजस्वी ब्रह्मवर्चसों भवति य एवं विद्वान्-
गायत्रियों कुरैते। अनुष्ठानी स्वर्गकामः फुरैत। बृहस्त्री श्रीकामो यस-
भारतीय संस्कृति

अब उन्हें कुछ यह आभास होने लगा था कि इन चीजों की प्राप्ति उतनी देवताओं की दुका पर निर्भर नहीं है, पुरोहितों के द्वारा ठीक से यज्ञों के अनुशासन कराकर वे अभिलक्षित वस्तुओं को प्राप्त कर सकते थे। इस विश्वास के उत्पत्ति करने में, स्पष्ट है, पुरोहित ब्राह्मणों का विशेष हाथ था। उन्हें उससे लाभ की संभावना भी थी।

इस प्रकार की आस्था का एक खास पहलू है जिस पर हमें ध्यान देना चाहिए। मनुष्य में शक्ति के संपादन की बलवती आकांक्षा है। आधुनिक युग में मनुष्य ने वैज्ञानिक बोध द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण स्थापित किया है। वैज्ञानिक लोग शक्ति की प्राप्ति के लिए भक्ति-विरह लोक या देवता का चुनना नहीं करते। ब्राह्मण-युग के पुरोहितों के अनुसार भी इस वस्तुओं की प्राप्ति के लिए देवताओं की भक्ति आवश्यक नहीं थी। भक्ति के रूप में होता था, ठीक अवसरों पर मंत्रों के ठीक उच्चारण द्वारा देवताओं को देखा जा सकता था और उन्हें मजबूर किया जा सकता था कि वे यज्ञकर्ता को अभिषेक फल दें। यह समझा गया कि यज्ञ-विभागों तथा विशिष्ट फलों की प्राप्ति में यात्रिक कार्य-कारण जैसा संबंध था। इस मान्यता का एक व्यावहारिक निष्कर्ष पुरोहितों के महत्त्व का विश्वास था। जैसा कि बाद में कहा गया—

देवाधीनः जगत्सर्वं मंत्राधीनानाश्च देवताः।
ते मंत्रं ब्राह्मणाधीनानस्तस्माद् ब्राह्मणदेवतम्।

अर्थात् संसार देवताओं के अधीन है, देवता मंत्रों के और मंत्र ब्राह्मणों के। इसलिए मानना चाहिए कि ब्राह्मण देवता हैं। ब्राह्मण-काल के पुरोहितों की दृष्टि में वेदमंत्रों का कुछ वैसा ही महत्त्व था, जैसा कि वैज्ञानिकों

स्कामः कुवात। त्रिषुभो वीर्यकामः कुवात। जगत्यो पशुकामः कुवात।
मैत्रसूलरः क्रृत 'ए हिस्ट्री आव एंशिएप्ट संस्कृत स्ट्रिटेचर' में एंटरेत्र ब्राह्मण से उद्घृत, पृ २०६-२०७।
तथा इंजीनियरों द्वारा निर्मित वर्तमान समय में वैज्ञानिक सिद्धांतों के प्रतिपादक गणित के सूत्रों का।

तात्पर्य यह कि आयों के यज्ञ-विधान, जिनका भारत-युग में प्रचार हुआ, उनकी वैज्ञानिक विवृति के प्रकाशन थे, न कि धार्मिक भावना के। वैज्ञानिक विवृति का लक्ष्य ज्ञान के साथ-साथ शक्ति का संपादन भी होता है। वस्तुतः साइंस या विज्ञान का बोध इस प्रकार का होता है कि उसके द्वारा तथ्य-ज्ञातु पर प्रभुत्व या नियंत्रण स्थापित कर छिया जाय। भारत-युग के पुरोहितों ने अपनी वैज्ञानिक वृत्तियों का उपयोग या दृष्टिझंदगी मंत्रपाठ के जैसे रूपों की सृष्टि और उन पर अविकार प्राप्त करने में किया, प्रकृति के वस्तुनिष्ठ निरीक्षण व अख्यायन में नहीं।

भारत-युग की यह प्रवृत्ति बाद में मीमांसा-शर्त तथा उसकी व्याख्याओं के रूप में पल्लवित हुई। इतना ही नहीं, उसने आयों मस्तिष्क को गलत दंग से कल्पनाशील भी बनाया। कहा गया है कि संस्कृत काव्यों में पाये जानेवाले युद्धों के वर्णन बहुत हद तक कल्पित हैं। उनका उन वास्तविक युद्धों से, जो यहाँ लड़े जाते रहे, दूर का लगाव भी नहीं है। भीष्म तथा द्रोण, अज्ञतु, आर्कृ, लक्ष्मण और मेघनाद, राम और रावण, सब अपने बाणों तथा उससे बनाये आर्कृ को अभिमभिरत करके, मंत्रों द्वारा क्षमता-संपन्न बनाकर, प्रयुक्त करते हैं। इस अभिमभिरण से उन शास्त्राङ्कों को कल्पित शक्ति बेहद बढ़ जाती है, जिससे कवि तथा उसके पाठक यमातार चकित होते रहते हैं। संभवतः मंत्र-शक्ति के इस कल्पना-मूलक विश्वास ने हमारे देश में निरीक्षण व प्रयोग पर आधारित विज्ञान के उदय होने में बाधा दी।

उपनिषद-काल

वैदिक वाङ्मय का तीसरा महत्वपूर्ण भाग उपनिषद हैं। भारत-प्रायों के कुछ अंश आराम्यक नाम से भ्यात हुए और आराम्यकों के कुछ अंश उपनिषद कहलाने लगे। इस प्रकार उपनिषद-भारतों से संबंधित
भारतीय संस्कृति

हैं, किन्तु वास्तव में दोनों की भावनाओं में आकाश-पाताल का भेद है । 

ब्राह्मण-प्रत्यक्ष के कर्मकांड में निक है, तो उपनिषदों की जान में । ब्राह्मणों 

के यज्ञ-विधान इस लोक में संतान, ऐश्वर्य, राज्य आदि तथा परलोक में 

स्वर्ग की प्राप्ति के लिए थे, इसके विपरीत उपनिषद् इन चीजों के प्रति 

ब्राह्मण का प्रदर्शन तथा उपदेश करते हैं । उपनिषदों का परम श्रेय 

आत्मा या ब्रह्म है, और परम श्रेय मुक्ति या अमृतत्व । उनमें ब्राह्मणों के 

कर्मकांड के विशद तीव्र प्रतिक्रिया है । मुंडनरसिरकीय कहता है—

प्लवा हों अद्रूण यज्ञसेवा अष्टादशोकावर्ग सिद्ध कर्म ।

एतक्षेरये आर्थिक प्रभुत्व मूढा जरामूर्यूरु पुनरेरावि यानि ।। 1,2,7

अर्थात् यज्ञसेवा कर्म, जिनमें सोलह आर्थिक, यज्ञादि और उसकी 

पत्नी के बधारु भाग लेते हैं, पुरानी अर्थात् कमजोर नीतियाँ के समान 

हैं । जो मूढ़ लोग श्रेय समझकर उनका अभिनंदन करते हैं वे बार-बार 

बृजावधि तथा मृत्यु को प्राप्त करते हैं । मतलब यह भी कि यहाँ के अनुष्ठान 

परम श्रेय के लिए पर्याप्त नहीं हैं ।

चूँकि यज्ञ-विधान पुरोहितवर्ग के आधिक लाभ से संबंधित थे, इसलिए 

कुछ विद्वानों का विचार है कि कर्मकांड-विरोधी यह प्रतिक्रिया, जो उप- 

निषदों में पायी जाती है, विचारशील क्षणिकों के बीच शुरू हुई । उपनिषदों 

के अनेक शिक्षक क्षणिक हैं, जैसे जनक और अजातशत्रु । गीता में कर्मयोग 

के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन, इस अविनाशी योग को मैंने 

(शुरू में) विवर्षावन् से कहा था, विवर्षावन् में मनु से कहा और मनु ने 

इक्ष्वाकु से इस प्रकार परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राज्यविद्याओं ने 

जाना । किन्तु हे अर्जुन, यह योग बहुत काल से यहाँ लुप्त हो गया था ।'१३

1२. गीता, अध्याय ४, श्लोक १, २

'बुद्धचिन्ता' में भी लिखा है कि 'योगविधि' में हिंदुओं का आचार्य होने 

का जो पद हृदयों को प्राप्त नहीं हुआ, उसे जनक ने पाया 'आचार्यकं प्रयासित 

हिंदुनामप्राप्तसन्न्यासी जगाम ।' सर्ग १, श्लोक ४५।
बैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

इस कथन से जान पड़ता है कि गीतोक्त योग की शिक्षा का प्रारंभ क्षणिय राजाओं के बीच हुआ, और अर्जुन से पहले भी वह राजषीयों की ही संपत्ति थी। इस स्थापना में कुछ सचाई ही सकती है। किन्तु यह जबर्दस्त नहीं है कि बैदिक कर्मकाण्ड के प्रति विश्वदेह की भावना सिर्फ क्षणियों में ही उत्पन्न हुई ही। वैसी प्रतिक्रिया कूल व्यक्तों के संबंधित वर्णों में सबसे महत्वपूर्ण सदस्यों में भी उभर सकती थी। उपनिषदों के अनेक शिलालेख भी हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि कर्मकाण्ड अथवा हिसापूर्ण यज्ञों के विश्वदेह प्रथम प्रतिकर्षा बीड धर्म में हुई, जिसके प्रवाह में बुद्धदेव क्षणिय थे।

देखने की बात यह है कि भारतवर्ष के संबंधित विचारों के उस जीवन तथा उन जीवन-सूचनाओं के प्रति, जिनका संबंध भौतिक-शारीरिक संपत्ति तथा सुभोग से है, विरक्ति का अनुभव किया। सांसारिक धर्मक्षेत्र के प्रति यह वैदिक-भावना, भौतिक सुखों की सीमाओं तथा नस्तवट की यह तीखी अवगति, भारतीय सांस्कृतिक वैज्ञानिक की एक स्वयं प्रबुद्ध है। हम देखेंगे कि यह भावना उन शासकों तथा विज्ञाताओं में भी, जिनका प्रमुख कार्य भौतिक शक्ति तथा ऐतिहासिक धर्म का संपादन है, अक्षर उभर आती है। उपनिषदों में कहा है—‘जो भूमा है अर्थात् वृहत् या विशाल अथवा असीम है, उसी में सुख है; बल्कि, लीभित में, सुख नहीं है।’ तात्पर्य यह है कि भारतीय संबंधित भौतिक सुभोग तथा ऐतिहासिक धर्म में निहित ससंग्रह तृप्तियों यह संगुंठ नहीं होती। यात्रावलोकन के यह कहने पर कि ‘यद्यपि में लुम्बड़े और दूसरी पल्लव के बीच संपत्ति का बंदवार राख दूर’, मैं ने उल्लेख में पूछा—‘क्या संपत्ति पाकर मैं अभर हो जायंगी?’ यदि संपत्ति से अभरता नहीं मिलती तो संपत्ति अपर्याप्त है। इसी प्रकार राज्य के प्रलोमन देने पर निवेदिता ने कहा—‘राज्य, ऐतिहासिक, स्नित्रिक और यीवन सब नाशवान है; शुष्क ये सब नहीं चाहिए, शुष्क आप ज्ञान का उपदेश कीजिए।’

संक्षेप में, बैदिक-काल के विभिन्न युगों में भारतीय मनोवृत्ति की उपयुक्त विशेषताओं परिवर्तित होती है। आगे के युगों में इन विशेषताओं का बड़े होते जगत्त रूपों में विकस होते है।
भूमिका में हमने संस्कृति को मानवीय व्यक्तित्व की विशेषता के रूप में लक्षित किया था। संस्कृति से तात्पर्य है व्यक्तित्व की वे विशेषताएँ, जिनका उपयोग वाणिज्य मूल्यों के प्रभावण व उत्पादन में होता है। प्रश्न है, किसी संस्कृति के विकास या परिवर्तन के पीछे कौन सा कारण या स्थितियाँ रहती हैं?

इसका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा। जीवन के लक्ष्य की जो घारणा लेकर हम चलते हैं वह निरंतर विकसित व परिवर्तित होते हैं। एक जाति यह मानकर अपना ऐतिहासिक जीवन शुरू कर सकती है कि उसका लक्ष्य सुख-भोग है, किन्तु जीवन के बढ़ते हुए अनुभव, संपत्ति के बढ़ते-विकसित होते रूपों और उनसे संबंधित बदलते-बढ़ते सुख-भोग के साधनों के साथ उक्त घारणा भी सरल से जटिलतार बन जाती है। सुख-भोग का एक ही रूप नहीं है, और उसके अनेक रूप एक-दूसरे से विभिन्न तथा परस्पर-विरोधी भी हो सकते हैं। यदि कोई जाति सुख-भोग के अनावश्यक दूसरे मूल्यों को भी स्वीकार करती है, तो उसके लिए, कालांतर में, यह निर्णय करना भी ज़रूरी हो सकता है कि दो या अनेक मूल्यों के बीच किसकी कितनी मुख्यता है। इस प्रकार विभिन्न मूल्यों के उत्पादन अथवा लाभ के लिए अपेक्षित साधनों में भी असामान्य उपस्थित हो सकता है। यह असामान्य व्यक्तित्व के उन गुणों के बीच भी प्रतीत हो सकता है जो व्यक्ति को मूल्योत्पादन के लिए सक्षम बनाते हैं। उदाहरण के लिए यह प्रश्न उठ सकता है कि राज्य तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए तेजस्विता अथवा उपयुक्त कोध व दृढ़ता अधिक उपादेय गुण है, या मृदुता और क्षमाशीलता। किसी जाति के सामने ऐसे प्रश्न तब उठते हैं जब उसके जीवन और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जटिल हो जाती हैं। वैसी स्थिति में उस जाति को विभिन्न जीवन-मूल्यों के आपेक्षिक महत्व और उनका लाभ करानेवाले साधनों की आपेक्षिक उपादेयता के संबंध में लम्बा एवं गहरा चिंतन करना पड़ जाता है। इस प्रकार का चिंतन करते हुए कोई
वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

जाति किसी सामाजिक अथवा सम्बन्ध तक पहुँच ही जाय, यह आवश्यक नहीं है। इसलिए, बहुत काल तक असामाजिक, अंतर्विरोध एवं अंतर्दर्श्न की स्थिति में पड़ी रह सकती है। यह भी संभव है कि बहुत अनेक विचारकों के साहसपूर्ण, मौलिक एवं दूरगामी चित्रण में किसी ऐसे सम्बन्ध को प्राप्त कर ले जो बहुत काल तक मनुष्यों को प्रेरणा देता रहें।

जिस युग तथा जीवन का चित्र महाभारत में है वह अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों तथा बाहरी-भीतरी द्वारों से पूर्ण है। महाभारत में इन विरोधों तथा संघर्षों की तीखी चेतना पायी जाती है। महाभारत में जिस युग तथा समाज का चित्रण हुआ है वह निरांत जटिल एवं संघर्षपूर्ण है। वैदिक काल के आर्य सव आपस में एक होकर तथाकथित दस्यों से लोहा लेते थे, किन्तु महाभारत-काल में युद्ध तथा वैषमन्य का क्षेत्र स्वयं आयों का अपना जीवन था। वहाँ संघर्ष दो सभ्यताओं या संस्कृतियों के बीच नहीं, उसका रंगमंच स्वयं आयों का भीतरी तथा बाहरी जीवन-प्रवाह था।

इसके विपरित रामायण में चित्रित संघर्ष बहुत हद तक दो भिन्न संस्कृतियों या सभ्यताओं का संघर्ष है। जहाँ युद्धकेंद्र तथा दुर्गों में भिन्न संस्कृतीय आदर्शों को लेकर अग्रसर होते हैं, वहाँ राम और भरत के बीच बैंसी कोई भिन्नता नहीं है। दक्षिण रुपरेखा द्वारा वर्णन किया जाता है। वर्णपति में संस्कृति के निर्माण के लिए रामायण में ये बीच अंतर्विरोध होकर कोई ख़राब फल नहीं देते। वहाँ संघर्ष का मुख्य क्षेत्र भंडार है, अयोध्या नहीं; और संघर्ष दो भिन्न संस्कृतियों के बीच होता है। आदिकाव्य की दृष्टि में ये संस्कृतियों नितांत भिन्न संस्कृति जीवन-मूल्यों की प्रतीक है।

महाभारत में कर्म व संघर्ष की प्रधानता है, इसीलिए हमारी परंपरा में महाभारत को काव्य की संस्था नहीं दी गयी है। विचुढ़ काव्य सौन्दर्य-दृष्टि की प्रधानता होती है, वहाँ कर्म का वर्ण प्रधान नहीं होता। इस के विपरित हमारे यहाँ रामायण को काव्य और आदिकाव्य का गौरवपूर्ण
भारतीय संस्कृति

नाम दिया गया है। निश्चय ही महाभारतकार की अपेक्षा आदि-कवि की दृष्टि सौन्दर्य की ओर अधिक उम्मुख है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कर्म अर्थात् युद्धों तथा दूसरे संघर्षों का वर्णन काफी प्रभावीता लिये हुए नहीं है।

अब हम रामायण-महाभारत में निहित संस्कृतिक बेंतना के विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग दृष्टिपात करेंगे।

सौन्दर्य-बेंतना

मानव-जीवन के दो प्रधान पहलू हैं, जिनका संबंध उसकी दो प्रकार की जातियों से रहता है। प्राय: सभी प्रकार के समाजों में जीवित रहने के साधनों अथवा उपकरणों को जुटाने की समस्या उपलब्ध होती है। इस संबंध में मानव-समाज में एक विचित्र स्थिति देखी जाती है; तथाकथित बड़े या महत्वपूर्ण लोग अस्तित्व की जातियों से संबंधित घटिया का काम दूसरों से करा लेते हैं। प्राचीन आर्य जाति के सदस्य यहाँ अपना उस प्रकार का काम शून्यों से करते थे। बहुत हुआ तब यह स्थिति आज तक बनी हुई है। इस प्रकार की सेवा-प्राप्ति इस पर निर्भर करती है कि एक वर्ग के सदस्यों का दूसरे वर्ग के सदस्यों पर किसी-न-किसी प्रकार का आधिपत्य हो। यह आधिपत्य प्राय: राजनीतिक या दूसरी कोटी की शक्ति द्वारा प्राप्त होता है। प्राचीन काल से राजनीतिक प्रभुत्व शक्ति का केंद्र रहा है। वैदिक काल के आर्य प्राय: इस देश के आदिम निवासियों से लड़ते थे। वाद में स्वयं आर्य राजाओं के बीच भी युद्ध होने लगे। 'महाभारत' का प्रधान विषय एक ऐसा ही बड़ा युद्ध है। महाभारतकार की मुख्य दिलचस्पी उन वीरों अथवा नायकों में है जिन्होंने भारत-युद्ध में भाग लिया; इन वीरों की जय-पराजय की कथा ही 'महाभारत' का प्रधान विषय है। महाभारत का युद्ध मुख्यतः राज्य तथा शक्ति के लिए हुआ था; जैसा कि हमने संकेत किया, वह दो संस्कृतियों का संचय नहीं था।

किन्तु मानव-जीवन का ध्येय केवल शक्ति का संचय और उसके द्वारा
बैद्य काल और रामायण-महाभारत-युग

अस्तित्व के साधनों पर आधारण ही नहीं है। मनुष्य विशुद्ध सौन्दर्य की खोज भी करता है, और वह अस्तित्व के कुछ क्षणों में केवल रस के लिए भी जीवित रहता है। इस रस की प्राप्ति सृजनात: सौन्दर्य-साधना से होती है; सौन्दर्य की वृष्टि एवं अनुभूति जीवन-संभोग का एक प्रधान उपकरण है। प्राय: हमारी दृष्टि सौन्दर्य की ओर तब जाती है जब हमारे सामने अस्तित्व-संबंधी संरचना से लगभग रखने-लगने-लगनी समस्याएँ न हों। 'रामायण' में शुष्क के दो काण्डों में राम के जिस जीवन का चित्रण है, वहाँ सौन्दर्य-साधना का समावेश है। बाद में, रावण द्वारा सीताहरण होने पर, राम-सीता के सामस्त-संयुग पूर्ण जीवन में व्याघ्र उपस्थित हो जाता है। इस व्याघ्र के लिए उत्तरदायी रावण को दण्ड देना राम का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य बन जाता है। आदिकवि ने इस व्याघ्र के परिणामों का विश्वास वर्णन किया है। नियोजित राम और सीता के कष्ट का अनुभव और उल्लेख सर्वप्रथा दिखाई देता है। इसी प्रकार, अयोध्याकाण्ड में पिता-माता के पुत्रों से जुड़े होने के कष्ट का विस्तृत उल्लेख है। एक मनुष्य जिस आनन्द अवसर दृढ़ के सौर मनुष्य के संयोग या वियोग मात्र से पाता है वह काल्य का उपयुक्त विषय है। 'महाभारत' में इस कोटि के सुख-दुःख का बैताल वर्णन कम ही मिलता है, और जहाँ मिलता भी है—जैसे अभिमन्यु के वध के अवसर पर और फिर सौदिक-पर्व तथा स्त्री-पर्व में—वहाँ नैतिक विषयक एवं व्यूति-विषयक सौन्दर्य-भोध की नहीं है।

बस्तुत: 'महाभारत' में जहाँ सुख में भाग लेनेवाले चीजों की नैतिकता एवं नैराश्य का वर्णन कोई है, वहाँ विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि के उद्घाटक विवेचन बहुत कम है। यही बात स्त्री-पौर्ण के संबंधित चीजों पर भी लागू होती है। महाभारत में प्रकृति-वर्णन 'की भी विश्लेष' है। ऐसा कहते नहीं जान पड़ता कि लेखक विशेष रस के साथ किसी नायिका के अवसर प्रकृति का वर्णन कर रहा हो।

हमने कहा कि 'महाभारत' में प्रकृति-संबंधी चीजों की विश्लेष है। दोष-पर्व में एक जगह चन्द्रोदय का वर्णन है,
तत: कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेनानन्देन चन्द्रेण माहेश्वरी विगलकुंकुल।

द्रोणपर्व, १८४२६

‘तब कामिनी के कपोल के समान शुभ्रवर्ण, नेत्रों को आनंद देनेबारे कुमुदनाथ चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया।’ यह पद प्रकृति-वर्ण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ कवि ने एक आकर्षक उपमा द्वारा चन्द्रमा के स्वतंत्र सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। भाषा में एक विशिष्ट प्रकार का सौंदर्य एवं चमत्कार है, जो इस बात का ही ठोक है कि उसे विशेष प्रयत्न से संवारा-संजोया गया है। इस स्थल में कुछ दूसरे पद भी सुंदर हो सकते हैं।

‘महाभारत’ में इस कोटि के प्रकृति-वर्ण बहुत कम हैं। बत-पर्व में एक जसह गंधमादन प्रवेश का वर्ण है। बहु वर्ण राय: विवरणात्मक है, बहुभाषात्वों का ऐसा चमत्कार दिखाई नहीं पडता। फिर भी उसमें निरीक्षण की समृद्धि एवं व्यंजना की सहजता का आकर्षण है—

तत: किपुष्पावासं सिस्मार्कारसेवितम्।
ददृशुष्टेण्टिरोमाण: पर्वंत गन्धमादनम्।
विबधारानुचरितं किश्चारणितं स्थितव।
गजसंघसमावासं सिस्मार्कारसेवितम्।
शरमोकासंस्थुतं नास्मामुगनिष्टवितम्।
ते गन्धमादनवं तस्मानवनोपमम्।
मुदिता: पाण्डुतनया वनोहोदयन्तनम्।
विविषु: कमशो बीरा: शरणं शुभक्षानमं।
श्वेतस्वर्यात् सुमधुराश्चिन्दनानु ृत्य गुगुरुर्वितितानु।
सर्वेऽफलमाराध्यामानं सर्वेऽकशुमोज्जवलान्म।
पश्चात्: पादपांश्चापि फलभारवनामितान्।
आर्णानाराष्ट्रकान्तम्यावारकिलान्म सत्तिनदकान्म।
वैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

मुन्नजातकांतयाक्षरोन्मान्ब्रजपुरकानू। पनसांलकुचनू मोचानू खर्जूरानमलबतसानू।

×××

चकोरैः शतप्रशस्च भूंगराजस्तथा शुकः। कोकिलेः कर्लवकृशच हारतीजीविवस्यः।

प्रियकृत्याक्षकृतवच तथापर्वीविधः खर्जः। श्रोत्रमयं सुमधुरं कृजवमिभाष्यविधिपतितानं।

सरासि च मनोज्ञानि समन्तज्जलचारिपि:। कुमुडः पुण्डरीकस्म तथा कोकनदोलपि:।

कहृतः कमलशैवं आचितानि समन्तः।

×××

सिन्धुवारोत्स्थोदरानू मन्थस्येव तोमरानू।

×××

तवेत वनराजीनामुदारानू रचितानिव।

विराजमनास्तेपश्चिदत्सितकांसित्कांिव।

वनपर्व १५८।३८ से ६८ तक विविधः।

‘तब उन्हीं ने सिद्धों तथा चारणों से सेवित, किश्रोत्रों के आवासपत्रल गंधकादन पर्वत को देखा, देखकर उनका रोम-रोम हृद्य से खिल उठा।

उस पर्वत पर विद्याधर तथा किश्रोत्रों की धर्मसंस्कृति करते थे, तथा इंट के इंट हाथी, सिंह और व्याध बसते थे। छोटे हाथियों के शब्द से गुम्भायमानु, तरह-तरह के पशुओं से सेवित, नदनवन के समान हृदय को आनन्द देने-वाले श्रेष्ठ गंधमादन वन में मुदित पांडुपत्रों ने कमश: प्रशेष किया।

×××

विहारों के मुख से निष्कृत सुंदर व मधुर, श्रवणमुख, मादक तथा मोदजनक शुभ शब्द सुनते हुए, सभी भूतावों के पुष्पों एवं फलों से सुसंस्कृत भारावनत वृक्षों को देखते हुए, आम, आमड़ा, भयं नारियल, तेंदु, मुन्नजातक, अम्ब-अर, अनार, नीबू, कट्टल, लकुच (बड़हर), मोच (केला,)
भारतीय संस्कृति

ब्रजूर... (आदि को वहाँ देखा)। चकोर, शतपत्र (मोर), भूक्षुराज, शुक, कोयला... चातक आदि खंभे से, जो मधुर कूजन कर रहे थे, अधिक-छिद्दत... चारों ओर जलचर जंतुओं से भरे सुन्दर सरोवरों को, जिनमें कुमुद, पुंडरीक, कोकनद, उत्पल, कालार तथा कमल सब ओर भरे थे (उन्होंने देखा)। उन्होंने सुन्दर हरासिगार के पौधों को देखा जो कामदेव के तोमर नामक बाण जैसे प्रतीत होते थे।

× × ×

और सुन्दर तिलक-बृक्षों को देखा, जो वनराजियों के ललांतों में रचित मनोरम तिलकों के समान दीख रहे थे; वैसे ही मन्जुरियों से शोभित कामदेव के बाणों की-सी आकृतिवाले आम के बृक्षों को (देखा)।

हमने संकेत किया था कि महाभारत में किये हुए प्रकृति-वर्णन मुख्यतः विवरणात्मक हैं। ऊपर के उद्देश्य में संजावाची शब्दों की भरमार है, दर्जनों वृक्षों, फूलों आदि के नाम हैं, किन्तु विशिष्ट चिन्हों को उभारने का प्रयत्न, जो कवि का प्रकृति कर्म है, नहीं दिखाई पड़ता।

'सब खृषुओं के पुष्प तथा सब खृषुओं के फल' जैसी व्यंजनाएँ किसी सुनिश्चित चिन्ह की उपस्थित नहीं करती। 'गद्दमादन' के वर्णन का पांडवों की तालाकालिक मन:स्थिति से संबंध जोड़ने का भी सचेत प्रयत्न नहीं किया गया है। हमारे उद्देश्य की अतिम तीन पंक्तियों में ही कवि ने अपने वर्णन में उपमाओं का प्रयोग किया है।

बाद के संस्कृत काव्य में प्रकृति-वर्णन तथा नारी-सौन्दर्य का वर्णन महत्वपूर्ण विषय बन गये। किन्तु 'महाभारत' में प्रकृति की भाँति नारी के सौन्दर्यदृष्टिकोन का भी विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है। 'महाभारत' के निजी आचार्य में अनेक नायिकाओं का समावेश है, जैसे द्रौपदी, भुमध्रा, उत्तरा आदि; किन्तु उसके विशद चिन्ह देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। 'महाभारत' की तबसे महत्वपूर्ण नारी द्रौपदी है, उसके स्वर्णवर्ष में भारत-वर्ष के सभी वीरों का पहुँचना सुचित किया गया है, स्वर्ण-वर्ष-समा का भी लम्बा-चौड़ा विवरण दिया गया है, किन्तु स्वर्ण द्रौपदी का वर्णन बहुत ही
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

संक्षिप्त है। कुछ भाषणों ने युद्धिष्ठिर को यह सूचना दी कि वे द्रीपदी के घर में जा रहे हैं और उनका वर्णन करते हुए बताया कि वह 'पतली कमरवाली, निर्दोष अंगों वाली धृष्टचम्मु की बहन है; नीले कमल जैसी गंध उसके शरीर से निकलकर एक कोस तक बहती है।' स्वयंवर-सभा का वर्णन समाप्त करते हुए कहा गया है कि वहाँ 'सुन्दर वस्त्रोवाली, सब प्रकार के आभूषणों में विभूषित, सोने की बनी हुई कमरदार जयमाला लिए हुपद-पुदी उस रंगभूमि में उतरी।' आगे यह वर्णन किया गया है कि उस स्वयंवर में कौन-कौन राजा मौजूद थे—कम-से-कम साठ-सतर राजाओं व राजपूतों के नाम गिनते गये हैं—और यह कि किस प्रकार राजा लोग क्रुणा या द्रीपदी को देखकर काम-नीड़ित हो गये।

इस प्रकार द्रीपदी के सौन्दर्य के प्रभाव का अंकन हुआ है, किन्तु स्वयं द्रीपदी का विस्तृत, चमत्कारपूर्वक वर्णन देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'सुभद्रा-हरण-पवर' में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार सुभद्रा को देखकर अर्जुन उस पर मोहित हो गये, किन्तु वहाँ सुभद्रा के सौन्दर्य-वर्णन का विशेष आयार नहीं मिलता। वस्तुतः सुन्दरी नायिकाओं के उल्लेख में महाभारतकार स्वयं कुछ प्रचलित सौन्दर्य-वोधक विशेषताओं का प्रयोग करके संतोष कर लेते हैं—जैसे 'सुध्रोण' (सुन्दर कटिप्रेषावाली), 'सुमध्यमा' या 'तनुमध्या' (पतली कटिवाली), 'चासवरीगी' (जिसके समस्त अंग सुंदर हैं), इत्यादि。

१३. स्वसा तस्यानवद्बाज्जी द्रीपदी तनुमध्यमा।
नीलोट्पलसमो गंधो यथा: कोशात्रप्रवाति वै।
आदिवर्ष १८३, १०

१४. आत्मयुतांगी मुवस्ना सर्वभारमभूमिता।
मालिन्यां व समुपाराय काण्ठाः कमलंकुलामु।
अबतीणां ततो रंग द्रीपदी महर्षिभम्। आदिवर्ष १८३, २६-३०
भारतीय संस्कृति

सच यह है कि महाभारतकार को दृष्टि नर-नारियों के व्यक्तित्वों पर उतनी नहीं दिखती, जितनी कि उन कृत्यों पर जो कथा की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रभावित हैं। उन सब नाचों के वर्णन में जो ऐश्वर्य, शूरता, जय-पराजय आदि से संबंधित हैं, कवि की स्वभाविक रचना है। यहाँ नहीं समझना चाहिए कि 'महाभारत' के रचनिता में चित्र-विधान अथवा अलंकार-नियोजन की क्रमता की कमी या अभाव है। उनमें ये क्रममात्व पूरी मात्रा में मौजूद हैं, किन्तु उनका उपयोग उन्हीं स्थलों में होता है जहाँ कोई अश्वर्य-जनक शूरता का कार्य अथवा अश्वर्योत्पादक, रोमन्हर्पक पद्धता वर्णित हो रही हो। 'श्रोण-पर्व' में भीम के पुत्र घटोलच का बड़ा सजीव, रोमांचक चित्र प्रस्तुत किया गया है—

लोहितायो महाकायस्तामास्यो निम्नितोदरः।
उबरोमा हरिस्मायुः शंकुकण्यो महाहृतुः।।
आकर्णदारितास्पद्वत तीजस्यंक्त्वः करारल्पनः।।
सुदीर्घाटतारज्ञानीऽधोऽतमब्रुः स्यूरनासिकः।।
नीलान्जो लोहितप्रीयो रितिविन्यसिभकरः।।
स्यूरसिफुडानाभिनंच शिथिलोपचयो महान्।।

श्रोणपर्व १७५।४, ५, ६, ८

‘लाल आँखोंवाला, महाकाय, रचनवर्ण मुखवाला, नीचे लटके उदर-वाला, उठे हुए रोग, शर जैसी मूंछ-दाड़ी, शंकु के आकार के कान, बड़ी ठोड़ी, कानों तक खुला हुआ मुख, तीक्ष्ण करार दांत, लम्बी व लाल जीभ और होठ, लम्बी भोंट, स्यूर नासिका; उसका करीर नीला अर्थात काला था, कठ लाल था, पवंत के समान घुंचा आकार था, स्यूर नित्यम्ब, छिपी हुई नामिक, विशिष्ट उपचयवाला (जिसकी बड़ी रक गयी थी), आकाश में लम्बा, इत्यादि। आगे दर्शनों श्लोकों में घटोलच और उसके युद्ध का वर्णन है। स्पष्ट ही कवि को द्रौपदी की अपेक्षा घटोलच का वर्णन ज्यादा रसदायक जान पड़ा।
वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

घटोत्कच की मारने के लिए कर्ण को उस अभाव शक्ति का उपयोग करना पड़ा जो उसे कुलदों के बढ़ते इन्द्र से मिली थी। ‘कर्ण ने राजस की ओर वहूं शक्ति पैकी जो लघुलंगस्ति जनि के समान प्रदीप्त थी, जो पाषों से युक्त काल्स्रति के समान थी, जो मूलिक न स्वसा (बहुन-सी) सी, जलती हुई उल्का-सी थी।’ पाठक देखें यहाँ कवि की चित्र-विख्यातिनी प्रतिभा कैसे प्रस्फुटित हुई दीक्षत है।

घटोत्कच की शक्ति द्वारा निषिद्ध देख कुण्ड वायु द्वारा कृपये बृक्ष की भूमि हुई से नाचने लगे। युद्ध के वर्णन में महाभारतकार ने सर्वांत इसी तरह चित्रों तथा अलंकारों की विख्यातिनी शक्ति का परिचय दिया है।

महाभारतकार की अपेक्षा आदि कवि की सौन्दर्य-सवेदना अधिक कवित्वमय है। ‘रामायण’ में भी प्रकृति के अधिकांक चित्र विख्यातिनक हैं, किंतु उनके चित्र में जहाँ-हाँ प्रकृत कवि-दृष्टि दिखाई दे जाती है। ‘रामायण’ में प्रकृति-वर्णों की प्रचुरता भी है। विख्यातिनम स्त्रोलों में भी वालीकि ज्यादा सफल चित्र-विख्यात कर पाते हैं। अयोध्या-काण्ड में गंगा का वर्णन है—

जलाधारात्ट्जलायोग्नाणा ।
वेणीवाद्यवादितामः ।
वेणिवंकमितभिवेदिमारमः ।
ब्रह्माकोपाहितामः ।
सदामल्लस्च।

अयोध्या ५०१६६, १७, १९

१५. ततो शक्तिवेने सदिवषो निरीक्षता, पार्कृतिकास्तक्कोन्याविकरायम् ।
मूलोऽस्वसारं ज्ञात्सारिंतावत्कान ओषध्येऽऽवि वैक्षरिय: प्राहिणोब्राह्मसाय।
श्रीणो १७५१४
भारतीय संस्कृति

'जल के भाषात से गंगा जी उग्र अट्टहास-सा करती है, निर्मल पेनों में
वे हृसती हैं। कहीं उनका जल वेनी के आकार का लगता है, कहीं भवर
उनकी शोभा बढ़ते हैं। गंगा का प्रवाह कहीं सिवर और गंभीर है, कहीं
बेगवान् और चंचल। उसमें कहीं श्रुति-मधुर गंभीर शब्द होता है और कहीं
भयोतपाक कोलाहल। उसके तत पर हुस, सारस आदि घोर करते हैं,
चकरबाक तथा डूंगरे मतवाले पंक्ति उसके समीप बने रहते हैं। कवि ने
गंगा को सर्वत्र स्त्री रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार किंकिधा-काण्ड में
पंपा पुष्पकिरणी का वर्णन किया है। पंवर्ध्वरी, दण्डकारण्य, अरिष्ट पर्वत
आदि के भी विशाल वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। किंकिधाकाण्ड में वर्षा व
शरद के वर्णन विशेष मनोरम हैं। वर्षा-वर्णन के कुछ पद देखिए—

व्यामित्रितं सर्जकदम्बलिपीनं संजयं पर्वतधातुलतार्कम्
मयूरकेशकामिरत्नप्रमाणं नमलापा: शीतबरं वहनिः।
मेघाभीमिकाम परिसंपत्तसंती संमोदिता भाति वलकपक्तिः
वालावधुता वर्षपूर्णरकी लम्बेव माला रंगिरामवर्षय।

किंकिधारो २८।१८, २३

'श्रील-नदियाँ उस जल को, जिसमें सर्ज और कदम्ब के फूल बढ़ रहे हैं,
जो पर्वत की धातुओं से ताम्रवर्ण हो रहा है और जिसमें मोरों की केकावाणी
की अनुगृज है, तेजी से बहाकर ले जाती हैं। मेघों की कामना रघवेलिही,
उड़ती हुई स्वेत बक-पक्ति स्नेह स्वेत पथों से निविद्ध, हुवा में ठोली हुई,
आकाश की सुन्दर माला-सी जान पड़ती है।' आदिविकव में शब्द-श्रीडा
की भी प्रवृत्ति है—

निद्रा शनी: केशवभ्युपत्ति हुटं नदी सागरभ्युपति
हुञ्ज्या बलाका गनभ्युपति कान्ता सकामा प्रयमभ्युपति।

किंकिधारो २८।२५

अर्थात् 'धीरे-धीरे निद्रा केशव को प्राप्त होती है, नदी तेजी से सागर
वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

तक पहुँचती है, हर्षभरी बगुली बादल के पास पहुँचती है और कामनावती रमणी प्रियतम के पास।' नीचे की उपमा बड़ी साहसपूर्ण है—

सूर्यामदविविष्ठा: स्वर्गश्रीहारस्मृतिका:
पतनति चातुरा दिशु तोयधारा: समन्तः।

'सूर्य के संयंत्र में टूटे स्वर्ग विनायक के हार्दिक और खौफने जैसी जल-धाराएँ चारों दिशाओं में गिरती हैं।' शारदु वर्णन में भी दो पद बड़े स्पष्टगरी हैं—

मीनोपसंदिष्टमेखलानां नदीवधुनां गतयोधय मन्दा:
कातोपबुक्ताल्सागामिनीनां प्रभातकालेष्वित्व कामिनीनाम।

दर्शयन्ति शर्क्राणुः: पुलिनानि शाने: शाने:
नवसंगतसब्रीडा जजनानीव योपितः।

किचिकन्धा ३०१५४, ५८

'मछलियों के रूप में अपनी कर्मधारियों को दिखाती हुई नदी रूपी विवाहों की गति अव मंद हो गयी है, जैसे प्रभात काल में अपने पतियों द्वारा उपमुक्त अरुलभाव से चलनेवाली कामिनियों की गति।' और 'शारद ऋतु की नविकाय अपने पुलिन-प्रदेशों को बैठे ही धीरे-धीरे प्रवर्तित करती है

संध्या-वर्णन से संबंधित एक प्रसिद्ध श्लोक है—

चंचलचन्द्रकरस्पर्शाह्यनीलितारकाः
अहो रागवती संध्या जहाँतु स्वयममबरमू।

किचिकन्धा ३०१५५

'सुन्दर चन्द्रकारों (किरणों, हाथों) के स्वर्ण-जल्य हर्ष से किचिदु खुले

tारकों (नक्षत्रों, पुतलियों) बाली रागवती (रक्तवर्ण, अनुरागभरी)

संध्या स्वयं अम्बर (आकाश, वस्त्र) का परित्याग करते।' यहाँ संध्या

में प्रियतम से सहीरत कामिनी का आरोप किया गया है।
महाभारतकार की तुलना में आदिकवि प्रकृति-वर्णन को ज्यादा महत्व देते और उसमें अधिक रस लेते प्रतित होते हैं। उनके वर्णनों में अर्लकारों का स्मृति समावेश है। कभी यहीं है कि इन वर्णनों में सुन्दर तथा काफी साधारण पत्तों का स्वच्छन्द सम्बंध नहीं। पड़कर ऐसा लगता है कि जहाँ कवि को कहना बहुत-कुछ था, वहाँ उसके पास इतना समय नहीं था कि अपनी प्रत्येक उक्ति को सचेत भाव से संजोकर रखे।

आदिकवि के नारी-रूप के वर्णनों में भी यहीं दोष मिलता है, यद्यपि वे वर्ण भारतकार के वर्णनों से ज्यादा दृष्टान्त करते हैं। 'रामायण' का सबसे महत्वपूर्ण नारी-वर्णन सुन्दरकाण्ड में पाया जाता है, जहाँ हनुमान लंका में पहुँचकर रावण के अन्तःपुर की निरीक्षण करते हैं। वहाँ अनेक स्त्रियाँ अनेक प्रकार से सोती हुई दिखायी गयी हैं; संभवतः कवि अद्वितीय को बुद्धि के महाभिनिष्करण के अवसर पर सुन्दर स्त्रियों के वर्णन की प्रेरणा रामायण के इसी स्थल से मिली होगी। 'रति के परिश्रम से बिन्दु रावण की सूक्ष्म कठिनाई स्त्रियाँ जहाँ-जहाँ खाली स्थानों में सो रही थीं। कोई सुन्दर वर्ण की नृत्य-कुशल नारी अपने थियों हुए अंगों में नृत्य के विभ्रमों (अंग-विक्षों) को प्रकट कर रही थी, कोई सर्वगुणसुन्दरी पद्म नामक बाण भर जो वैसे ही आलिखित थी जैसे कोई अपने तिलक के आलिखित करती है; इसी प्रकार कोई कमलना वीणा का आलिखित किये हुए थी।' हनुमान ने सोती हुई मन्दोदरी को देखा, जो मुक्त-मणियों-बाले सुन्दर गहनों से अलंकृत थी, और अपनी शोभा से स्वयंभव को सुन्दर बना रही थी। उसका गोरा शरीर सुवर्ण की आभा किये हुए था। चापलियों मन्दोदरी अन्तःपुर की स्वामिनी थी, उसे देखकर हनुमानजी को पुरा-पुरा सीता का भ्रम हो गया।

भारतीय काव्य में पुष्प-रूप वर्णन की विशेष प्रवृद्धि नहीं है। संस्कृत कवियों में संभवतः श्रीहरि ने ही अपने नयक नल के शाब्दिक सौन्दर्य का १६. रामायण, सुन्दरकाण्ड ५०३४-३६-३६-४०।
विशेष वर्णन किया है। कालिदास आदि ने प्रायः नायकों के व्यक्तित्वों का वर्णन उनके दूरे गुणों के संकेत के लिए ही दिया है; इन गुणों में शौर्य का विशेष स्थान है। 'महाभारत' में भी कवि की रचना मुख्यतः पुरुष-नायकों के शीर्ष तथा शक्ति के निरूपण में है। जहाँ-तहाँ अर्जुन, कर्ण आदि के शारीरिक सौन्दर्य का संकेत किया गया है, किन्तु वह संकेत सामान्य ढंग का है। वस्तुतः 'महाभारत' में नायक-नायिका दोनों के ही शारीरिक वर्णन सामान्य कोटि के हैं; उनका उद्देश्य यह बिलकुल ही नहीं है कि पाठक विशिष्ट पाठों का प्रत्यक्षीकरण कर सके। विभिन्न नायकों की शक्ति-संपत्ति के वर्णन भी बहुत कुछ सामान्य ढंग के हैं। यों यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'महाभारत' के सभी मुख्य पाठ अलग-अलग शक्तिशाली व्यक्तित्व से संपन्न हैं—भीम और अर्जुन, युधिष्ठिर और दुर्योधन, कर्ण और शकुंतला, भीष्म और द्रोण—सबसे के व्यक्तित्व काफी भिन्न और विशिष्ट हैं। किन्तु इस भिन्नता की प्रतीति के पिछे शारीरिक भौतिकों का कोई खास स्थान नहीं है। महाभारतकार ने अपने पाठों को भिन्न व्यक्तित्व देने के लिए मुख्यतः दो उपायों का अवलम्बन किया है; एक तो उनके शीर्षों के अलग-अलग दिख-लगाया है, और दूसरे उनके इतिहासों को। युधिष्ठिर तथा दुर्योधन, और सामान्य रूप में पाण्डव तथा कौरव अपने नैतिक विचारों व व्यवहारों के कारण भिन्न दिखाई देते हैं। इस प्रकार की भिन्नता को दर्शाते करने के लिए महाभारतकार अतिरिक्त के अर्थ का बहुत प्रयोग करते हैं। युधिष्ठिर एकदम सत्यवादी हैं, तो दुर्योधन और उसके सहायक महाकपड़ी तथा छली। भीमसेन की भिन्नता का आधार उसकी शारीरिक विशेषताएँ हैं। किन्तु ये सभी पाठ, जैसा कि हमने संकेत किया, प्राधान्यता: अपने-अपने इतिहासों के कारण विशेष भिन्न है। भीम का एक इतिहास है, तो द्रोण का दूसरा; कर्ण, द्रोपदी, घृतकृष्ण आदि की जन्म-कथाएँ ही उन्हें अलग व्यक्तित्व दे देती हैं। 'महाभारत' के अधिकांश नायक बड़े बीर बतलाये गये हैं; केवल बीरता तथा शक्ति के आधार पर यह कहना कठिन है कि भीम, द्रोण, कर्ण, अर्जुन आदि में कोन निष्पक्ष रूप में विशिष्ट हैं। विभिन्न
भारतीय संस्कृति

अवसरों पर महाभारतकार इन सभी की अतिरिक्त प्रशंसा कर दालते हैं। ऐसी दशा में अपने-अपने आगे-पीछे के इतिहासों द्वारा ही ये सब बीर धोड़े-धोड़े कम-बड़े दिखाई देते हैं।

'रामायण' के बीर नायक अलग-अलग जातियों के सदस्य तथा विभिन्न संस्कृतियों के नेता हैं। कब ने जगह-जगह राक्षस बीरों के अतिरिक्त शारीरिक चिन्ह उपस्थित किये हैं—जैसे कुम्भकर्ण तथा रावण के। आर्य जाति के बीरों में राम प्रमुख हैं, और आदिवासी ने उनके शारीरिक सौन्दर्य के जगह-जगह संकेत दिये हैं। किन्तु राम के अतिरिक्त और किसी पुरुष-नायक का सौन्दर्य वर्णन उनका उद्देश्य नहीं जान पड़ता।

पुरुष-सौन्दर्य के निर्देशन में नब-शिख का ध्यान नहीं किया जाता, वहाँ उस प्रकार का वर्णन निराकरण गौर होता है। पुरुष सौन्दर्य के विवरण को अधिकांशतः ऐसे होते हैं जिनका संबंधित बिंदु, विनय आदि शील-संबंधी विशेषताओं से है। इसके अतिरिक्त पुरुष के व्यक्तित्व में हम उन गुणों की भी खोज करते हैं। जो उसे एक प्रभावशाली नेता एवं कर्मचारी राजनयिक अथवा शासक बनाते हैं। संस्कृत काव्य में वीरचरित नायकों के वर्णन में इस बात को विशेष गोर दिया गया है कि वे शास्त्र-साहित्य से संपर्क अत्यधिक परिक्रमा व्यवहार वाले हैं। जिस पुरुष को शास्त्रों की ध्यानबंदी है उसकी सावधानी अवश्य ही सुसंस्कृत होनी चाहिए। पुरुष-व्यक्तित्व की इस विशेषता की अवगत है। 'रामायण' में जगह-जगह परिलक्षित है। बालकाठंड के पहले सर्ग में राम के गुणों का वर्णन करते हुए नारायण ने जिन अनेक विशेषताओं का भ्रमण किया है उनमें 'वार्मी' भी है, जिसका अर्थ है प्रभावशाली वक्ता अथवा श्रेष्ठ वाचीवाला। अयोध्याकाठंड के पहले सर्ग (श्लोक १८) में कहा गया है—

उत्तरोत्तर उक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।

अर्थात् 'अपने मत की पुष्टि में एक के बाद दूसरी युक्ति देने में राम वैसे ही श्रेष्ठ वक्ता थे जैसे वाचस्पति अर्थात् वृहस्पति।' जब अध्ययनोंपर वर्तमान के
वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

पांस राम-लक्ष्मण की हनुमान से भेंट हुई तो वे सुग्रीव-सचिव हनुमानजी की वाणी से बढ़े प्रभावित हुए। राम ने लक्ष्मण से कहा—

नूनं व्याकरणं कुस्तनमनकं बल्गणा श्रुतम्।
बहुव्याहर्तानेन न किचिदपश्वितम्। किष्किन्धा० ३, २९

अर्थात् 'इन्होंने अवस्थ ही व्याकरण आदि का अच्छा अध्ययन किया है, क्योंकि बहुत-कुछ कहते हुए भी इन्होंने किसी गलत शब्द का प्रयोग नहीं किया।' इस त्योल में कवि ने कई श्लोकों में हनुमानजी की वाणी की प्रसंसा की है।

जीवन के मूल्य या पुरुषार्थ

व्यक्तित्व की अच्छाइयों तथा बुराइयों का निरूपण किसीं मूलयों की अपेक्षा से ही किया जा सकता है। व्यक्तित्व की विशेषताएँ या तो स्वयं में मूल्यान्तर होती हैं अथवा जीवन-मूलयों के उत्पादन एवं संरक्षण का साधन। इसलिए किसी संस्कृति के अध्ययन में यह प्रत्येक उठता है कि उसके जीवन-मूल्य क्या हैं। हमने देखा कि वैदिक काल के आर्य ऐश्वर्य तथा सुखपूर्ण ऐश्वर्य जीवन की महत्त्व देते थे; उपनिषद् काल में जीवन-मूलयों की इस धारणा के विशेष विकास हुआ, और मोक्ष या अमृतत्व नाम के नये आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। संस्कृत के प्रारंभ में मूलय (Value) शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है, वहीं 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रचलन रहा। रामायण-महाभारत के समय तक हमारे देश में चार पुरुषार्थों की धारणा सुप्रतिष्ठित हुई पायी जाती है। इसमें भी व्याख्या तथा विवाद के विषय मुख्यतः तीन पुरुषार्थ हैं, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम। इन तीनों में भी कामना के विषय दो ही हैं, अर्थात् अर्थ और काम। धर्म एक नियमक तत्त्व है, जिसके दायरे में रहते हुए अर्थ तथा काम का संपादन होना चाहिए। महाभारत के अन्त में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

ऋध्वरवाद्यविरोधे न च कक्षिच्चछूनोनि मे
धर्मादिब्रह्म कामशच स धर्मः कितर सेव्ये।
भारतीय संस्कृति

अर्थात् ‘में बाँह उठाकर उच्च स्वर में कह रहा हूँ, किन्तु कोई सुनता नहीं; धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, उस धर्म का सेवन व्यः नहीं करते।’

अर्थ और काम मनुष्य की जीवननिष्ठा तथा जीवन-संबंधों के प्रतीक है; संसार के सारे संघर्ष इन्हीं दो चीजों के लिए होते हैं। रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्यों का प्रधान विषय संघर्ष है। महाभारत का संघर्ष मुख्यतः राज्य के लिए हुआ। पाण्डव लोग जिस राज्य को अपना पैतृक अधिकार समझते थे उसे दुर्योधन हड़प्पा लेना चाहता था। स्थूल रूप में रामायण में वर्णित संघर्ष स्त्री के लिए हुआ। उत्त महाकाव्यों में एक और भी बड़ा अंतर है। महाभारत के युधिष्ठिर धर्मात्मा अवस्था है, किंतु वे राज्य की लक्ष्मी के प्रति विमुख या उदासीन नहीं हैं। पाण्डव और कौरव दोनों ही राज्य को महारष्ट्रीय समझते हैं और उसके लिए लड़ते हैं।

महाभारत के नायकों की तुलना में रामायण के राम कहीं अधिक निःस्फूर्त है, वे पिता की अनुच्छेदित आशा को शिरोधार्य करके युद्धराज-पद का परिवर्तन कर देते हैं। क्या इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण के अनुसार अर्थ तथा काम महत्वपूर्ण नहीं हों? हमारी समस्या में यह निष्कर्ष सही नहीं होगा।

अवस्था ही रामायण के दो प्रमुख पात्र, राम तथा भरत, सांसारिक ऐश्वर्य अर्थात् राज्य के प्रति निःस्फूर्त दिखाये गये हैं। किंतु रामायण में इससे पात्र भी है, और ऐश्वर्य आदि के प्रति उनका मनोरबन उपेक्षार्य नहीं है। इन पात्रों में राम के प्रति अनुज लक्ष्मण और उनकी माता कौसल्या का भी समर्थन है। जिन्होंने तुलसीदास के ‘रामचरितमानस’ को पढ़ा है वे आदिकाव्य में वर्णित कौसल्या तथा लक्ष्मण को ठीक से नहीं पहचान सकते; उन्हें कहीं-कहीं राम की मनोबृत्ति भी उतनी आवक्ष नहीं जान पड़ती। पहले कौसल्या को लेजिये। राम ने कई जगह इस बात का संकेत दिया है कि उनकी माता उनकी राज्यप्राप्ति को विशेष महत्व देती थीं।

बन को जाने की इच्छा रखनेवाले लक्ष्मण से उन्होंने कहा—‘जिस माता का मन मेरे अभिप्रेक की बात से बहुत जल्द रहा है वह मुझसे संबंधित शंका से
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

जैसे मुक्त रहें वैसे तुम्हें करना चाहिए।19 राम के बनवास की बात से बिखर हुई कौसल्या कहती हैं—

इत्यदं तु हुँबं यदनर्यकानि भे प्रतानि दानानि न संयमाच्छ हि।
तपश्च तपतं यदपत्यकाम्यया सुनिष्फलं बीजमिवौष्टमूर्ते॥

'मुझे युः हें इस बात का है कि मैं ने पुत्र के (कल्याण के) लिए जो त्र्योग, दान, संयम और तप किये वे सब वैसे ही निश्चित हो गये जैसे ऊसर में छाला चुका बीज।' राम जब अपनी माँ को बनवास की बहर देने जाते हैं तो कहते हैं—'देवि! तुम्हारा महूम नहीं कि बड़ा बतरा उपरिस्थित हो गया है, जिस्से तुम्हें, सीता और लक्ष्मण को बड़ा दुःख होगा। मुझे चोदन वरस वन में रहना होगा, मुनियों की भांति कन्द-मूल-फल खाने होंगे और मांस का त्याग करना पड़ेगा।'20 यह सुनकर कौसल्या एकाएक पृथ्वी पर ऐसे गिर पड़ीं जैसे बन में कुलहड़ से काटी हुई सातबुखी की शाखा गिर पड़ती है, अथवा जैसे स्वर्ग से देवता (देवी) भ्रष्ट हो जाते हैं। बाद में शिकायत करती हुई कौसल्या कहती हैं कि 'मुझे पहले से ही पति से प्राप्त कल्याण व सुख नहीं मिला है—पति का प्रेम और संभोग-सुख अप्राप्त रहा है; अब मुझे छोटी सीता के हृदय-विद्वारक शब्द और भी बुनने पड़ेगे। जब तुम्हारे रहते हुए भी मैं इस प्रकार तिरस्कृत थी, तो तुम्हारे चले जाने पर तो मेरा निश्चय

१७. यथा मदविषेकाः मालसं परिपत्रिति
भारत च सा यथा न स्यात्सविषांका तथा कुर।

अयोध्याकाण्ड २२१६

१८. देवि! नूं न जानिवे महुस्स भयमुद्योः
इत्यदं च तव दुःखाय वैदेहा लक्षणस्तय च।
चतुर्दश हि वर्षणि वस्त्यामि विजने वने
कन्दमूलफलजेवन् हितवा मुनिवादामिवः

अयोध्यार २०२३-२६
भारतीय संस्कृति

ही मरण ही जायगा।"  अगर राम को ढालस देते हुए लक्ष्मण कहते हैं कि 'तुमसे और मुझसे भयंकर वैर करके पिता दशरथ में यह शक्ति कहाँ है कि राज्य-लक्ष्मी भरत को दे दें।" स्पष्ट ही लक्ष्मण की दृष्टि में राज्यश्री इतनी महत्वपूर्ण है कि उसके लिए स्वयं पिता से वैर फिराक जा सकता है। लक्ष्मण द्वारा इस तरह के उद्गार, जो राज्य तथा श्री की महत्व घोषित करते हैं, दूसरे कई स्थलों में भी प्रकट किये रहे हैं। जब राम और लक्ष्मण को कबन्ध नाम के दान ने पकड़ लिया तो लक्ष्मण ने निराश होकर राम से कहा—'इस राक्षस के लिए मेरी विल देकर तुम सुख से भाग जाओ।' शोभा ही तुम्हें सीता मिल जायेगी, ऐसा राम विश्वास है; और पिता की पृथ्वी को प्राप्त करके राज्य करते हुए तुम मुझे सदैव याद करते रहना।

स्वयं राम भी राज्य के प्रति एकदम विमुक्त नहीं थे। जब विराज ने सीता को पकड़ लिया तो वे कैकेरी की शिकायत करते लगे—'कैकेरी ने

16. न दृष्ट्युपूर्व कल्याण सुखं च विपर्ययः
सा बहुत्यमनोसानि वाक्यानि तुः विचित्रादाम्।
अहं शोभा व सपल्लीनामचारणाः परा सती;
त्यतिसतिः पेत्यमहमासं निराक्ता
कि पुनः प्रोक्ते तात धृतं भरणेव हि।
अयोध्या 29.35-36-49

20. त्यायं चेव मया चेव कुत्ता वैरमलत्तमम्
कास्य शक्ति: बिम्रं दातुः भरतायायायिस्तन। अयोध्या 29.15

21. मयेचेन तु निरुद्भम: परिमुखस्व राजाव
मां हि भूतवत्रल वैत्त पलायस्व यथामुखम्।
अधिगत्तम: वाचेश्वरमिरीरं ते मतं;
प्रतिलभम् च काष्ठद्व जित्मविनातः महिमम्
तत्त्व मां राम राज्यस्य: स्मुद्दमहिंसि सर्वत्रा। अरण्य 70.36-49
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

हमारे लिए जो बुरा चाहा था और अपने लिए जो भलाई करनी चाही थी, वह सब अच्छी तरह घटित हो चुका। दीर्घविश्वासी कैकेयी सिफर इसी बात के सन्दर्भ में हुई है कि उसके पुत्र को राज्य मिल जाय, उसने मुख्य बन भी भीम छोड़ ही दिया; अब वह निष्ठुर ही सफल-मनोरथ हो गया। पिता के विनाश से और राज्य के हुरण से भी ज्यादा दुःख मुझे यह हुआ कि सीता को दूसरे ने छू लिया। ३३ यहाँ राम परोक्ष रूप में यह स्वीकार कर लेते हैं कि उन्हें राज्यहरण से कष्ट हुआ था।

वस्तुतः 'रामायण' में राम की अपेक्षा भरत को ही राज्य के प्रति अभिक निस्पूर्ध दिखलाया गया है। स्वयं राम को भरत की निस्पूर्ध में पक्का विश्वास नहीं, कैकेयी में तो अविश्वास है ही। वे लक्ष्मण से कहते हैं कि यदि तुम मेरे साथ वन चले गये तो कोसल्या और सुमित्रा की सेवा कौन करेगा?

'राजा अश्वपति की पत्नी कैकेयी इस राज्य को पाकर अपनी सौतों के साथ भला व्यवहार नहीं करेगी और राज्य पाकर कैकेयी का साथ देते हुए भरत भी नितान्त दुखित कोसल्या तथा सुमित्रा को याद नहीं रखेंगे।' ३३ इससे

२२. यदभिन्नत्वस्मातु प्रियं वर्वृत्तं च यत्
कैक्यार्लु सुस्वंतितं किनिलभक्तं लक्ष्मण।
या न तुष्टिः राज्येण पुत्रार्थं दीर्घविश्वासी
यथार्थ साभृतानां प्रियः प्रस्वापितो वनम्।
अध्यवसायम् सि या भास्मयम् सम
परस्पराः वेंदेहा न दुःखतर्मस्ति मे
पिपुलवनसात्रास्मृते स्वराज्यहरणात्तथा। अरण्यः २१७७-२१८४

२३. सा हि राज्यिम्म प्राप्य नृष्पायाश्वपते: तुता
दु:खितां अपलोहितां करतिष्ठति शोभनम्।
न स्मरीति कौसल्यां सुमित्राः च युधिष्ठिर:।
भरतेऽराज्यमासाध्य कैकेयाः पर्यवस्थित:।

अध्यायः ३१०३, १४
भारतीय संस्कृति

पहले सीता को समझाते हुए राम कहते हैं कि मेरे बन चले जाने पर ‘तुम भरत के समीप मेरी प्रसादसा मत करना। बात यह है कि ऐसबारे लोग दूसरे की स्तुति को सहन नहीं करते, इसलिए तुम भरत के आगे मेरे गुण न कहना। भरत के पास अनुकूल बाग से रहते हुए ही तुम गुजर कर सकोगी।

उन्हें राजा ने समाजत युवराज पद दिया है, इसलिए है सीते। तुम उन्हें (भरत को) और राजा को प्रसाद रखने की विशेष चेष्टा करना।

यहाँ राम ने ऐसबारे-संपन्न राजाओं के स्वभाव-बोध का अर्थ परिचय दिया है; साथ ही यह सन्देह भी प्रकट किया है कि राज्य पाकर भरत की मनोवृत्ति बदल जायगी। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दशरथ्याला भरत को राज्य दिया जाना तर्क इसलिए ही उचित नहीं था कि कैंकेयियों नै वैसा बरावास मांगा; वस्तुतः कैंकेयि का दशरथ के साथ विवाह इसी शर्त पर हुआ था कि राज्य कैंकेयि के पुत्र को दिया जायगा। यह बात अयोध्याकाण्ड के १०७ में सर्ग में स्वयं राम द्वारा भरत से कही गयी है।

अब हम धन-संपत्ति के सम्बन्ध में ‘महाभारत’ के महाभारतीय पात्रों की मनोवृत्ति की चर्चा करेंगे। ‘रामायण’ में राम और भरत दोनों ही राज्य-त्याग के लिए तत्पर दिखाई देते हैं, किन्तु महाभारत में ऐसी बात नहीं।

२४. भरतस्म ते नांह कळ्यः कदाचन।
ऋद्युपुष्य सत्क्रिया न सहलते परस्तवम्
तस्मात् ते गुणः कळ्यः भरतस्तयाप्रलो मम।
अंहः ते नानुवकत्वो विशेषेण कदाचन;
अनुकूलतया शावकं समीपे तत्वं वातितुम्।
तस्मै वर्तन्त नृपतिना यीवराजयं सनातनवम्
स प्रसादस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः।

अयोध्यासा २६.२४-२७

२५. ध्रुवा ध्रुतः पिता न स मातरं ते समुहन्त।
भातामहेऽ समाधिऽ योवराजयं सत्यसास्त्वम्।
अयोध्यासा १०७१३
बैंकिंग काल और रामायण-महाभारत-युग

पायी जाती। अबत्ते ही महाभारत के पाण्डव लोग कितने हैं, युद्ध की विभीषिका को समझते हुए वे पांच गाँव लेकर भी दुर्योधन से समझौता करने को तैयार हो जाते हैं। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे राज्य-श्री के प्रति उदासीन हैं। उद्योग-पर्व में कुण्ड ने सन्धि के लिए दुर्योधन के पास भेजते हुए युद्धिष्ठिर यह शिकायत करते हैं कि दुर्योधन उन्हें पांच गाँव देने को भी तैयार नहीं हुआ। वहाँ वे कहते हैं—"इससे बुरी कोई अवस्था होती है ऐसा सम्भव ने नहीं कहा है; जो हमें अजकल मुबंह मोजन भी नहीं विकलाई देता। धन ही परम धर्म कहा गया है, धन में सब-कुछ प्रतिष्ठित है, दुर्योधन में वही लोग जीवित रहते हैं जिनके पास धन है, धनहीन लोग तो मृत ही हैं। ऐसे हम लोगों को लक्ष्य की तयार करना किसी प्रकार भी न्याययुक्त नहीं है, उसके लिए प्रयत्न करते हुए यदि हम लोग मारे भी जार्य हो तो अज्ञात होगा।"

अब युद्धिष्ठिर को कुण्ड के द्वारा संदेश देते हुए कुंभी ने निम्न वक्तव्य दिया—

पितामहं महाबाहोः निम्नं पुत्रश्वरं
साम्ना सेनदैन दानेन दण्डेनाथं नयेन वा।
उद्योग पर्व, १३२, २२

अर्थात् 'हे युधिष्ठिर! पिता से प्राप्त हुमारा जो अंश (हिस्सा) दूब गया है उसका साम, भेद, दान, दंड अयस्या नया (नीति या कृत्तीति)
किसी उपाय से उदार करो। ' 'इससे ज्यादा हुकुम की बात क्या हो सकती है
कि तुम जैसे मित्रों को सुबंध देनेवाले पुत्र को उपमन करके में पराये पिंड की

२६. नात: पापीयति काय्त्यवस्त्रैं शम्भौरूपं विश्रवाविधे
यज्ञ नेवाय न प्रात्माजनं नतिदुस्यं।
धनमात्: परं धर्म धने सर्वं प्रतिष्ठितम्
जीवितं धनिनो लोके मृत्ये तथना नराः।
ते वर्यं न त्रिष्यं हातुमलं न्यायेन केनचित्
अन्वो यत्मानानं वधस्वच्छविष्णु साधु तत्

उ ७२, २२, २३, ४१
भारतीय संस्कृति

अपेक्षा करती हैं। इसी अवसर पर कुंवर ने युधिष्ठिर के लिए विदुला तथा उसके पुत्र के संवाद को संदेश के रूप में प्रस्तुत किया है। विदुला ने सिन्धुराज से हारे हुए अपने पुत्र को पुरुषार्थ-विमुख देखकर उसकी बहुत भलेना की। उसने कहा—‘अपनी बिदमानना मत कर, अपने को घोड़े से ही सततुष्ट मत कर। हे कापुष्य! उठ, पराजित होकर इस तरह मत सो। छोटी नवी ही यह मह्रुस करती है कि वह बहुत भर गयी है, छोटे चूहे की अजीजी हो बूढ़ पूरी हो जाती है; बहुत संतोष करनेवाला कापुष्य होता है, बही घोड़े में तृते हो जाता है। मरने का खतरा हो, तो भी पराक्रम कर। घोड़े देर बूढ़ जलते हुए रहना ज्यादा अच्छा है, बहुत काल तक धुँधले रहना दलाल्य नहीं है।’ 

ताल्पर यह कि धुरां छोड़नेवाली दुर्बल आग से, जो बहुत देर तक कायम रहती है, घोड़े देर प्रज्वलित होकर जलनेवाली अभिषेष कृपया। मनुष्य घोड़े ही दिनों जीवित रहे, किन्तु ऐसवर्ष तथा आदर से संपन्न होकर रहे। माता से इस प्रकार भ्रेना पाकर विदुला के पुत्र ने उत्तर

२७. इतो दुःखतरं कि नु यथां दीनवाचवता।
परिपंडुवऽसे वे त्वा सूवता मित्रनन्दनम्।।

उद्योगपर्व १३२, ३३

२८. भागमाननमयलस्व मंगलप्रेय बीमरः
मनः छल्ला युक्तपाण्य भा मैत्र्यं प्रतिसंहरः।
ुतिष्ठ है कापुष्य भा शेषवैं पराजितः
अमितासन्यासवसस्विरामो बन्धुवोकवः।
पुराण वे कुनछिका पुरुरो मूर्विकान्नजिलः
सुतसंतोषः कापुष्यः स्वल्पकेनेव तुष्टिः।
अप्यहराजनम्भास्वास्वेव निधं न व्रज
अवि वा संसारं प्राप्त जीवितेऽपि पराक्रमे।
मुहृत ज्वलितं भेयो न च धूमायितं चिरम्। उ १३३४-१०,२५
पराक्रम दिखाया। कुन्ती ने आदेश दिया कि ऐसा ही पाण्डवों को भी करना चाहिए।

‘महाभारत’ में जगह-जगह नीति का उपदेश दिया गया है। इस दृष्टि से यहाँ नीतिकार बिदुर का ऊंचा स्थान है। ‘महाभारत’ के बिदुर द्वारा प्रतिपादित नीति का प्रदान लक्ष्य शक्ति एवं संपत्ति की प्राप्ति तथा संसार है। उद्योगर्व में बिदुर ने धृतराष्ट्र को इस प्रकार उपदेश दिया है—‘दो काम करतेवाला मनुष्य इस लोक में शोभित होता है, कठोर बातें न बोलनेवाला, और असज्जनों को न पूजनेवाला। ये दो तीव्र बौट शरीर को सुखाने वाले हैं—मनुष्य का कामना करना और अवधारणी मनुष्य का कोट्ठ करना।...जो पुरुष ऐसवर्म चाहता है उसे ही दोषों का परिलयाग कर देना चाहिए: विद्रोह, तन्द्रा, वाक्य, भय, कोट्ठ और दीर्घसोत्रता अपर्यात्क काम को फिर के लिए टाल देने का स्वभाव।’’29 आगे इन्द्रों को बया रहने की आवश्यकता पर जोर देते हुए वे बताते हैं कि ‘जैसे सूखे सरोवर के ऊपर हंस मैथुकर ही रह जाते हैं, उसके बीतर प्रेम नहीं करते, उसी प्रकार जिसका चित्र संचल है, जो अज्ञाती और इन्द्रों का गुलाम है, उसको अर्थ लयाग देते हैं।’30 धन का संग्रह कैसे करना चाहिए, इस संबंध में बिदुर का कहना है कि ‘जैसे फूलों की रक्षा करते हुए भौरा उनसे मधु ग्रहण करता है, वैसे ही हिस्सा न करते हुए मनुष्यों से अर्थ का बादाम करना चाहिए। जो राजा शुरू से सज्जनों के आचार का अनुगमन करता है, उसके लिए धन से पूर्ण यह पौष्ठी ऐसवर्म बढ़ानेवाली होती है।’31

बिदुर की नीतिचर्या में धामिकता, सज्जनता आदि का स्वरूप समझाने का भी विशेष प्रयत्न किया गया है, किन्तु इसके साथ ही यह बतलाने की

26. उद्योगर्व ३३।५४-५६, ७५
30. उद्योगर्व ३६-४०
31. उद्योगर्व ३४।११७, २५
कोशिश भी है कि मनुष्य, विशेषतः राजा, ऐसवर्ण का संपादन एवं संरक्षण किस प्रकार कर सकता है। सभा-पर्व में युधिष्ठिर से प्रश्न पूछने के बहाने नारद ने यह सकता किया है कि राज्य की रक्षा तथा उन्नति किस प्रकार की जा सकती है। 'हे युधिष्ठिर, तुम अर्थात् अर्थात् संपत्ति की प्राप्ति की कोशिश करते हो? तुम हारा मन धर्म में लगता हो। तुम सुखों का अनुभव तो करते हो, जिससे मन भरा हुआ न रहे? विजयी बीरों में श्रेष्ठ! समय का सम्प्रभु विभाजन करके तुम अर्थ, धर्म तथा काम का सेवन करते हो?' मंत्रणा को गुप्त रखनेवाले शास्त्राचैता अभायों द्वारा तुर्प रघुनिन्दन तो रहता है, शायद द्वारा आकांक्त तो नहीं होता? तुम्हारे किले धन, धान्य, जल, हृषिकेश तथा अंगों से भरे-पूरे तो हैं, और उनमें शिखर तथा धर्मविधान जाननेवाले तो रहते हैं।' 33 स्पष्ट ही इन प्रश्नों के पीछे धन तथा ऐसवर्ण के महत्व की भावना पूर्णतया उपस्थित है।

'महाभारत' में कई जगह इस बारे में विचार किया गया है कि लक्ष्मी कैसे लोगों के पास रहना पसंद करती है। स्पष्ट ही यह प्रश्न यह मान लेता है कि लक्ष्मी अथवा संपत्तिवाला होना महत्व की बात है। इससे लक्ष्य करने की बात, जो इन प्रश्नों से निकलती है, यह है कि लक्ष्मी उन्हीं के पास खत्ते है जिनमें विशिष्ट गुण पाये जाते हैं।

शान्तिपर्व के एक स्थल में युधिष्ठिर ने भीष्म से शील के महत्व के संबंध में प्रश्न किया। उत्तर देते हुए भीष्म ने कुछ पुराने वार्तालापों का हवाला दिया। एक बार इन्द्र ने ब्रह्मण का बेश बनाकर दैत्यवर प्रह्लाद से दान में उनका शील माँग किया। प्रह्लाद के शरीर से एक तेज रूप में शील निकलकर चला गया। शील के बाद धर्म चला गया, उसके बाद सदाचार और उसके पश्चात लक्ष्मी चलने को तैयार हो.गयी। मतलब यह हुआ कि सुशील अर्थात् शीलवानु पुरुष के पास ही लक्ष्मी रक्तती है। 33

32. समाबें 517, 20, 28, 36
33. शान्तिपर्व, अध्याय 124
वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

अनुशासन पर्व में युद्धिद्धर द्वारा फिर बैसा ही प्रश्न होते पर भीभम ने स्वयं लक्ष्मी द्वारा दिया गया उत्तर इस प्रकार सुनाया—

'भी सदैव उस सौभाग्यशाली पुनर्के साथ रहती हूँ जो साहसी, चतुर तथा कर्मयोगी है, जो कौशल्य है, वेदवेदवृत्ति है, जनांक अन् जितेन्द्रिय है और नित्य अपने सत्त्व (energy) को प्रभुद रक्षता है। मैं ऐसे पुनर्के के साथ नहीं रहती जो अकर्मण्य है, नास्तिक है, वर्णसंरक्षक है, कृष्णहै, जिसमें तेज, बल और सत्त्व की कमी है, जो शीघ्र ही परेशान हो जाता है और कोई करने लगता है—उसके साथ मैं नहीं रहती। जो अपने से कोई मांग नहीं करते, जो सबसे से मुद्दोदिल हैं, जो बोध में ही संतोष कर लेते हैं, उनके साथ मैं कमी नहीं रहती। जो स्वावलंबी सत्त्व बोलनेवाली, सदैव प्रसन्न दीननेवाली, सौभाग्य तथा गुणयुक्त है, जो पतितवात है और सदैव दूसरों की मदद को यथायोग्य रहती है, जो अरुझुक रहती हैं, उनके साथ मैं सदैव बसती हूँ।' 34

यहाँ हमने उत्तर का एक एंड ही उद्धृत किया है। उत्तर की लक्ष्मी प्रश्न के महत्त्व को प्रकट करती है। अगर हम देखेंगे कि महाकवि भारती ने युद्धिद्धर के उस वक्तव्य में, जो उन्होंने भीमसेन को समझाने के लिए दिया, इस विषय का स्पर्श किया है।

अब हम 'काम' नामक पुष्पालिका की चर्चा करेंगे। भारतीय साहित्य में राम चरण कोटि के आदर्शवाद तथा मर्यादावाद के प्रतीक हैं। सम्भव है। ऐसा कोई आदर्श पुनर्क मार यहाँ न हुआ हो; यह भी संभव है कि राम अधिकांश में आदि कवि की कल्पना की सृष्टि हों। राम ने सीता के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया, तत्कालीन राजाओं का सबसे व आचार देखते हुए यह एक असाधारण बात थी। किन्तु वाल्मीकि ने राम के एकपल्ली-पति की असाधारणता को कहीं गौरव नहीं दिया, न उसकी विशेष प्रशंसा ही की है। सीता भी राम की प्रवचना करते हुए कहीं इस बात का उल्लेख नहीं करती। यद्यपि, स्त्री से अलग रहने की दृष्टि से, लक्ष्मण का
भारतीय संस्कृति

बादश्ह राम से भी ऊंचा विवाह देता है। 'महाभारत' में भी भीम तथा अजून के अतिरिक्त किसी पाण्डव का दौड़पदी से मिला महिला के साथ विवाह करने का उल्लेख नहीं है।

'रामायण' के अनुसार राजा दशरथ के तीन नहीं, तीन सो पत्तास स्वियाँ थीं। स्वयं दशरथ के पुत्र इस बात की शिकायत करते पाये जाते हैं कि राजा दशरथ काम-पास से बड़हे हुए, कौन-कौन के बचाव के थे।भी राम एकपल्ली-ब्रज में, पर उस पली में भेदभाव अनुरक्त थे। किंविधाकाण्ड में शरद ऋतु का वर्णन करते हुए वे लक्ष्मण से कहते हैं—

चत्वारो वाणीका मासा गता वर्णकांतोपामा:
मम शोकाभित् पथ्य तथा सीतामण्डकतः।
प्रियाबिहिनवे दुःखार्त हृतराज्ये विवाहिते
कर्पा न कुस्ते राजा सुग्रीवो मयं लक्ष्मण।

किंविधाका २०१६, ६६

अर्थापू 'सीता को न देखते हुए शोक से अभिनव मेरे लिए सी वर्षं
जैसे जान पड़ते चार महीने बीत गये। मैं प्रिया के वियोग से दुःखी
हूँ, मेरा राज्य छिन चुका है और मुझे वनवास दिया गया है; लक्ष्मण, फिर
भी राजा सुग्रीव मेरे ऊपर ब्रज नहीं करता।' सीता के अन्वेषण में विलब्ध
करनेवाले सुग्रीव से राम बहुत ज्यादा कुश्ता थे। उनके इस क्रोध की खबर
समस्त वानरों को थी। इसलिए उन्होंने युवराज अंगद से कहता युक्त
वानी में कहा—'सुग्रीव स्वभाव से तीक्ष अर्थात्कोड़ी है और राम प्रिया

३४. अर्थस्पष्टतास्तत्र

प्रभवास्ताप्रयोहणा:
कौशल्यां परिवार्यारं शनामांसुध्युतवत्रः। अयोध्या ३४, १३

३५. तुलकां कीजिए:

अभिवर्णति कामिनं: पर्ज्ञाय: पृथिवीमिव
स कामपार्श्वायंतो महतेजा महीपति:। अयोध्या ३४, १२
वैदिक काल और रामायण-महामार्ग-युग

में अनुरक्त हैं; यदि हम लोग सीता का पता बिना रक्षा के वो राम को प्रस्तुत करते के लिए सुग्रीव हमें निस्संबह मरवा देगा। सीता में राम का जो अनुरोध था उसके अनेक कारण थे; उनमें एक यह भी था कि सीता परम घनधरी थी। लंका में सीता को पहचानकर उनके रूप की प्रवर्तका करते हुए हनुमान जो ने कहा—'ऐसी सीता के बिना जीवित रहकर राम ने सचमुच ही बड़ा दुःख कार्य किया है। इसके लिए यदि राम समुद-पर्वत पृथ्वी को पलट दें तो भी मेरी समझ में उचित ही होगा, तालिका का राज्य सीता की एक कला के बराबर भी नहीं है।' सीताजी के शुरू जाने पर विलय करते हुए राम ने सहसा कुपित होकर लक्ष्मण से कहा—'अवस्था ही देवता लोग मुझे निर्वांन समझते हैं...यदि उन्होंने मुझे सीता नुकसान वापस न दी तो मैं तालिका का क्षय कर दूंगा। तुम इस तरह मेरे पराक्रम से जगत लोक की आकूत और मर्यादाहीन हुआ देखो।' सीता के

37. तीक्ष्ण: प्रकृत्या सुप्रीव: प्रियारकलसेच राधवः 
अवृष्टायां च बैंद्यां दृष्टा चैव समागतान्
राधवस्यकामाय धातिप्रविद्यत्संश्रायम्।
किरिकिन्याः ५३१२५, २२

38. दुःखरं कृत्वानु रामो हीनो पवनया प्रमुः 
धारयत्वा तमो वेदं न शोकेनावसीति।
यदि राम: समुद्रात्ता मैरिकौ परिवर्तयेत्
अस्यः हूले जगच्छापि युक्तस्तम्याए तो मति:
सुन्दरवर्त्त ९५, ५५ और १६, १३

39. निर्वार्यं इति मन्यलो नूतनं मां विशरोकरा: 
तालिकेयं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकिर्ति ना 
ते कुश्चिनां सीता प्रवास्यति ममेव: 
समाकुलममयांव प्रजातरस्यां लक्ष्मण।
अरण्य: ६४५५५-६२, ६४
लिए राम का जगतु को ध्वंस कर देने का संकल्प उनकी दृष्टि में सीता
के—अर्थात् प्रिया के—महत्व को प्रकट करता है। युद्धकाण्ड के पाँचवें
सर्ग में सेना की तैयारी को देखते हुए राम ने लक्ष्मण से कहा—'समय बीतने
से शोक दूर हो जाता है (ऐसा लोग कहते हैं), किन्तु प्रिया सीता को न
देखते हुए मेरा शोक दिन-दिन बढ़ता है। मुझे इस बात का दुःख नहीं है
कि प्रिया दूर है और उसका हुस्न कर लिया गया है; मुझे सौंप इस बात
का है कि उसका यौवन बीता जा रहा है।' १२ अन्तिम वक्तव्य राम जैसे
आदर्शप्राप्त व्यक्ति के मुख में बड़ा बिच्छिन्न जान पड़ता है; राम को मनुष्यों
मानते हुए भी इस वक्तव्य की स्थूलता का मंडन नहीं किया जा सकता।
इस स्थल में एक नितांत कामुक व्यक्ति की भावित राम ने सीता के संपर्क
के लिए बेचैनी प्रकट की है।

'महाभारत' के प्रमुख पात्र भी 'काम' नामक पुस्तार्थ के प्रति उदासीन
नहीं हैं। द्रोपदी के साथ पाँच पाण्डवों का विवाह एक ऐसी घटना है जिसका
उचित नैतिक समर्थन महाभारतकार नहीं दे सकते हैं। केवल कुल्ली द्वारा यह
कह दिये जाने से कि 'सब मिलकर भिक्षा का भोग करो', ऐसी अनन्यों
व्यवस्था स्वीकार नहीं हो सकती थी। वस्तुतः द्रोपदी के विवाह की
घटना किसी पुराणी प्रथा का समर्थन करती है, जो देश के कुछ भागों में
प्रचलित रही होगी। उस प्रथा के रूप में यह कोई अनन्यों घटना न थी,
माले ही शिष्ट लोग उसे पसंद न करते रहे हैं। पाण्डवों में आपस में बड़ा
प्रेम था। युग्मित्ति ने देखा कि द्रोपदी के कारण उस प्रेम व सौहार्द में
विषय की संभावना है, इसलिए युग्मित्ति ने यह उचित समझा कि
द्रोपदी का विवाह सब भाष्यों के साथ हो—

६०. शोकरच किल कालेन गच्छता ह्यापगच्छति
मम चापप्रत: फातामह्यहि वर्धते।
न मे दुःख प्रिया दूरे न मे दुःख हृतेति च
एतेदेवानुशोचामि वयोस्या यहात्वतिते॥ युद्धकाण्ड ५१४,५१
वैभव काल और रामायण-महाभारत-युग

तेषां तु द्रौपदी वृष्ट्वा सर्वोपायमर्तीजसाम्
साङ्ग्रामधिष्ठित्वा त्रानुसाराणिनमनोभवः।
तेषांशकारभवजः कुलितुप्रो युविक्षिरः
अन्वेशी सहितानू भ्रातृतू मियो भेदभयाण्यःः
सर्वां द्रौपदी भायिः भविष्यति हि नः सुभा।

आदि पर्व १९०, १५, १६

अर्थात् उन सब अभिम आजवाले भायियों के मन में, जो द्रौपदी का
अवलोकन कर रहे थे, उनके इंद्रिय-समूह को मयता हुआ कामदेव उत्पन्न
हो गया। उनके आकार और भाव को समझनेवाले कुलितुप्रा राजा युविक-
न्तिर ने, आपस में फूट न पड़ जाय इस भय से, सब भायियों से कहा कि सुभा-
उक्षणा द्रौपदी हम सबकी ही भायिं बनेगी।

पाण्डव-वन्धुओं के आपसी समझौते के अनुसार (और इस समझौते
का उद्देश्य भी भायियों को द्रौपदी के कारण श्राद्ध के बदला था) जब अर्जुन
बारह वर्षों तक वनवास के लिए चले गये, तब उन्होंने जगह-जगह अनेक
स्त्रीयों से विवाह किया, अर्थात् उल्लू, सुभद्रा तथा चित्राङ्गदा से। जब
सुभद्रा को देखकर अर्जुन के मन में कामोत्तेज हुआ और वे एकाएक होकर उसे
देखने लगे तो क्रुणा ने परिहास किया—‘यह वनवासी का मन इस तरह
काम से कियों आलोचित हो रहा है? यदि मेरी बहिन है, मेरे पिता की
लाड़की कन्या है, यदि वुल्हारी ऐसी इच्छा होती में स्वयं पिता से कहूँ।’
अर्जुन ने उत्तर दिया—‘बसुदेव की पुत्री और वासुदेव की अर्थात् आपकी

४१. वनचरस्य किमिवं कामेनालोज्यते मनः
ममेषाय महिनी पार्थ सारणस्य सहोवरा
सुभद्रा नाममेषाय ते पितृमेषाय विजया गुता,
यवि ते बलते बुद्धिविध्यामि पितरं स्वयम्।

आदि पर्व २१५, १६, १७
भारतीय संस्कृति

बहिन, सौन्दर्य से संपूर्ण, यह किसका मन नहीं मोह लेगी? यदि यह वृणि-कुल की कुमारी और आपकी बहिन सुमद्रा मेरी रानी हो सके तो निर्मचय ही मेरा सम्पूर्ण कल्याण हो जाय।¹⁹ बाद में कृष्ण ने अघुन को समझाया कि वह सुमद्रा का हरण कर ले, क्योंकि स्वयंवर में कन्या किसे बरेगी इसका ठिकाना नहीं है। स्पष्ट ही अघुन तथा कृष्ण दोनों को इसमें कोई बुराई नहीं दिखाई दी कि वनवासी अघुन एक और महिला से बिवाह कर ले। बाद में दीपदी ने सुमद्रा की ईश्वरी में प्रणय-कोप प्रकट किया—'कुलीपुत्र! यहाँ क्यों आये हो, वहाँ जाओ, जहाँ वह सातवट वंश की कन्या सुमद्रा है। सच है, बोध को कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे इससे बार बाँधते हैं तब पहला वंधन हीला पड़ जाता है।¹⁹ स्पष्ट ही, इससे पतियों के रहते हुए भी दीपदी को अघुन के प्रेम की बड़ी चिंता थी।

दीपदी स्वभावत: अनेक पतियों का साथ पसन्द करती थी, इसका कुटिल संकेत एक जंगल कर्ण ने दिया है। प्रसंग है दुर्योधन की यह चिंता, कि किस प्रकार पाण्डवों के बीच संघर्ष उत्पन्न किया जाय। अनेक विकल्पों को सोचते हुए दुर्योधन यह भी प्रस्ताव रखता है कि किसी तरह दीपदी को ही फोड़ लिया जाय। इस प्रस्ताव की अयुक्तता दिखाते हुए कर्ण कहता है—'प्रायः: स्त्रियों का यह अभीष्ट गुण है कि एक स्त्री में अनेक पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करने की रुचि हो। पाण्डवों के साथ रहने में कृष्णा

42. तुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा
हुपेण ब्रह्म सन्त्रम कम्बोधि न मोहयेत्।
क्षतेवुं तु कल्याणं सर्वं मम भवेदुः भुवम्।
यविव स्याम्म कालदेवो भविष्यिं स्वसा तत।
आदिपर्व 218.18, 16

43. तत्रैव गच्छ कौन्तेय यथा सा सातवतातम्जा।
सुब्रह्म्यापि भारस्यपूर्ववंभन्धः श्लोकायते। आदिपर्व 220,17
वैभव काल और रामायण-महाभारत-युग

को यह लाभ स्वतः प्राप्त है; अर्थ: उसके मन में भेद नहीं किया जा सकता।

उपर के उद्धरण से यह नहीं समझा जाये कि महाभारत की दृष्टि में द्रौपदी का चरित्र तो नहीं था। वस्तुतः महाभारत जैसे विशाल ग्रंथ में तरह-तरह के विचारों तथा सम्मलितियों का पाया जाना कोई आश्रय की बात नहीं है। महाभारत और रामायण दोनों में ही समय-समय पर प्रकृत अंश जोड़े गये हैं, इन प्रकृतियों द्वारा उक्त प्रन्यों को सर्वार्थी एवं महत्त्वपूर्ण बनाने के प्रयत्न किये गये। किन्तु फिर भी इन महाकाव्यों में कहीं-कहीं अपेक्षाकृत कम समय नियास जी का संकेत देनेवाले वक्तव्य मिल ही जाते हैं। आशय हो यह है कि इन नितांत पुराने महाकाव्यों में जहाँ-जहाँ प्रवृत्तता आदर्श प्रति-प्रतीव्यय विकार देते हैं, ऐसे आदर्श जो आज के नीति-विचारों को भी चकित कर सकते हैं। वन-पर्व के अन्तर्गत नल-आद्यान में पत्ती को लक्ष्य करके एक स्थल पर कहा गया है।

न च भायाःसमं किचिदिवते भिषजाः मतमाणूषधय सर्वदु:।
वतवर्ति नाम: तन्मेतदु: ब्रजीयमि सै। वनपर्व 160.29

'मैं आपसे सच कहती हूँ कि चिकित्सा-विचारों के मत में, सब प्रकार के दुःखों में पत्ती के समान कोई उपस्थि नहीं है।' यह वचन नल के प्रति दभावनी का है, जो पत्ती के साथ वन में जाना चाहती है। महाभारतकार जानते थे कि पत्ती विराह काम-श्रीका की ही वस्तु नहीं है; एक संगीती के रूप में वह मूल्यवान उपस्थि का काम करती है।

धर्म, अर्थ और काम का आपेक्षिक महत्त्व

शान्तिपर्व के एक स्थल में विदुर तथा पांडवों के बीच इस बात पर विचार-विचारित धृत हुआ कि धर्म, अर्थ और काम में किसी प्रदाहाता है।

४४. ईन्स्तरत्र गुण: स्त्रीकामेकस्या बहुमात्त्व।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा मेधयितुं कष्मा। आविर्भवं २०१.६
भारतीय संस्कृति

कौन सबसे श्रेष्ठ है, कौन मध्यम और कौन लघु। इन तीनों पर विजय पाने के लिए विशेषत: किसमें मन लगाना चाहिए? इस सम्बन्ध में सब ने अलग-अलग मत प्रकट किये। बिद्वर ने कहा—अनेक शास्त्रों का अनुशीलन, तपस्या, ल्याग, श्रद्धा, यज्ञ-क्रिया, भाव-शुद्धि, दया, सत्य और संयम, यही मुख्य है, यही धर्म और अर्थ के मूल हैं। धर्म सर्वश्रेष्ठ है, अर्थ मध्यम और काम लघु। अर्जुन ने कहा—यह जगत कर्मभूमि है, जहाँ जीविका के साधन-भूत कर्मों की प्रशंसा होती है। तात्पर्य यह कि अर्थ ही मुख्य है। धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। विशिष्ट लोग धनवानो पुस्त्र की उपासना करते हैं। नक्षत्र-सहदेव ने कहा—धन ही महर्ष्पूर्ण है; मनुष्य को खूब में फिरने हर समय हर उपाय से धन-प्राप्ति का योग बनाना चाहिए। धन से युक्त धर्म और धर्म से युक्त धन, यही महर्ष्पूर्ण हैं। भीमराने ने अपनी राजा इस प्रकार प्रकट की—कामना के बिना न कोई धन कमाता है, न धर्म करता है; इसी लोग कामना से संयुक्त होकर ही तपस्या करते हैं। जिस प्रकार दही का सार मक्खन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार काम है। तत्त: काम ही मुख्य है। धर्म, अर्थ और काम तीनों का एक साथ ही सेवन करना चाहिए। जो केवल एक का सेवन करता है वह निकृष्ट है, दो का सेवन करनेवाला मध्यम, और तीनों का सेवन करनेवाला उत्तम।

इन सम्मतियों को सुनकर युधिष्ठिर ने यह मत प्रकट किया कि 'मनुष्य को अनासक्त होना चाहिए, जिससे वह मुक्त हो सके।'\

नैतिक आदर्श, धर्म और अर्थ

अर्थ तक हमने अर्थ तथा काम नामक पुरुषों के संबंध में रामायण-महाभारत के विचारों का वर्णन किया। अर्थ और काम ऐसे मूल्य हैं जो मनुष्य को स्वतः साक्ष्य करते हैं। अर्थ: किसी लेखक या विचारक के द्वारा यह कहा जाना कि वे प्राणव अवधा महर्ष्पूर्ण हैं, विशेष मौलिक

45. शाल्तिपर्व, 167 (श्लोक 5, से 46 तक विविध)।
बात नहीं है। यहाँ इसका उल्लेख इसलिए किया गया है कि कुछ लोग भारतीय संस्कृति पर एकदम ही परलोक-परायण होने का आरोप लगाते हैं। रामायण और महाभारत में से जो वक्तव्य हमने ऊपर दिये हैं वे इस आरोप की निराधारता सिद्ध करने के लिए पुर्याट हैं। रामायण तथा महाभारत के प्रकोपों में जीवन-संबंधी व्याख्या-दृष्टि की कमी नहीं है, उनके नितांत आदर्श पात्र भी, जैसे राम और युधिष्ठिर, कृष्ण और अर्जुन जीवन की आवश्यकताओं और उसके व्यापक मूल्यों के महत्व से सुपरिचित हैं। साथ ही हमें स्थिति के बीच संगठन पर भी गौरव देना होगा; रामायण तथा महाभारत के रचयिताओं की सामने में नैतिक व्यवस्था का विशेष महत्व है। उनका निष्ठुरता मत है—जैसा कि ऊपर कहीं उद्वृत्त की गयी भीम की उक्ति से प्रकट है—कि जीवन के स्वाभाविक मूल्यों, अर्थात् अर्थ और काम की एपिसोड पर धर्म का नियंत्रण रहना चाहिए। अर्थ एवं काम की इच्छा स्वत: बुरी नहीं है, वह बुरी तरह बन जाती है जब उसका संचार धर्म की मर्यादाओं का उल्लेख करने लगता है।

रामायण-महाभारत में धर्मतत्त्व का विवेचन अनेक संदर्भों में कई प्रकार से हुआ है, इन प्रकाशों में कुछ साहित्यिक अभिव्यक्ति की सीमा के प्रति बाध्य है, कुछ नहीं! कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रामायण में धर्म-अधर्म के रूपों की अभिव्यक्ति कायमत्मक हो सकती है। आदिकवि ने राम एवं उनके साथियों तथा रावण और उसके सहयोगियों की जीवन-गाथाओं को संघर्षों द्वारा भलाई-बुराई, धर्म-अधर्म आदि के स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न महाभारत के कथानक में भी बोत्रोि है। किंतु महाभारत में, प्रकट कथानक से हटकर, विभिन्न आध्यात्मिक तथा संबंधों के भाष्य से भी, धर्म और अधर्म का स्वरूप निरूपित किया गया है। आदिकवि ने धर्म तथा अधर्म के समन्वय में प्रायः कहीं भी दृष्टिकोण का प्रदर्शन नहीं किया है, इन तरीकों में समन्वय में उनकी धारणाएं बहुत भीतरी निष्ठुरत हैं। इसके विपरीत महाभारतकार की धर्माधर्म-सम्बन्धी धारणाएं उतनी निर्दिष्ट एवं निष्ठुरत नहीं हैं। महाभारत में जहाँ-तहाँ धर्माधर्म के
रूप को लेकर सन्देह, दुविधा एवं इन्द्रात्मक मनोवृत्ति का प्रकाशन किया गया है। महाभारतकार की इस दुविधा एवं इन्द्रात्मक मनोवृत्ति के दो मुख्य रूप हैं। भारतीय नैतिक चिल्लाना में अनेक प्रकार के कर्म तथा मुख्यतः दो प्रकार के धर्म माने गये हैं। कुछ धर्म अथवा नैतिक आवश्यकता के सार्वभौम हैं, जब सब वर्णों तथा आश्रमों के मनुष्यों के लिए समान हैं। ऐसे धर्मों को ‘नित्यधर्म’ की संज्ञा दी गयी है। इसीलिए विभाग वर्णधर्म धर्म का है। महाभारत में प्रथम कोटी के धर्मों के समबंध में जहाँ-तहाँ यह विवाद भिजता है कि वे धर्म कहाँ तक नित्यवाद रूप में वर्तनीय हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं यह समस्या उठ बढ़ी होती है कि वर्गविभेद का धर्म (मुख्यतः क्षत्रियों का धर्म) कहाँ तक प्राप्त एवं आचरणीय है। यह समस्या निम्न-विभेद का रूप भी ले लेती है—तथाकथित नित्यधर्म की प्रर्थना और वर्णधर्म धर्म की आवश्यकताओं में अतिग्रह या विश्वसनीय होने पर क्या किया जाय? इस प्रकार का प्रश्न महाभारत के शुरू में ही अर्जुन के सामने उपस्थित हुआ था, भारत-पुरुष के समाप्त हो जाने पर वैसा ही प्रश्न उघड़ितर के मन में उठा। इस प्रश्न का उदय एक प्रकार की वैराग्य-भावना के साथ होता है, जिससे उसका संबंध मनुष्य की तथाकथित रिक्तिज्ञस या आध्यात्मिक भौगोलिक रूप से जुड़ जाता है। कहीं-कहीं ऐसा प्रश्न रामायण में भी उठता विख्यात देता है।

महाभारतकार ने उपयुक्त विभिन्न कोटियों के नैतिक दर्शनों का समाधान देने का जगह-जगह प्रयत्न किया है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे उस प्रयत्न में सर्वत्र अयोग्य प्राप्त थे। सफल ही हुए हैं। महाभारत के विभिन्न स्थलों में इस प्रकार के सर्गों के भिन्न-भिन्न और कहीं-कहीं विरोधी हुए दिखे हैं, और कुछ स्थलों में तो नैतिक दर्शन की स्थिति को उपस्थित भर करके छोड़ दिया गया है।

नैतिक व्यक्तित्व

भारतीय साहित्य में नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व दशरथ-पुत्र
राम का है; उनके साथ यदि किसी दूसरे साहित्य-पुस्तक का नाम लिया जा सकता है तो युक्तिपरिचय का। वाल्मीकि के राम, शायद, उसने पक्षके संत-पुस्तक नहीं हैं जैसे कि तुलसी के राम। फिर भी, विश्वास मानवीयता की दृष्टि से, आदिकवि की लेखनी द्वारा प्रकटित एवं वितरित हार्म सचमुच ही! एक लोकोत्तर आदर्श चरित्रवाले महापुरुष हैं। आदिकवि का प्रारंभ ही रूढिवत वाल्मीकि की नारद के प्रति निवेदित इस जिज्ञासा से होता है कि लोक में ऐसा आदर्श पुरुष कौन है जिसमें समस्त प्रश्नार्पित श्रेष्ठ गुण पाये जाते हैं—

कोनवरस्नू सांप्रद लोके गुणवानकश्रव वीर्यवानु
धर्मशाश्च कुसतश्च सत्यायत्नो दृढ़न्त:।
चारित्रेशं च को युक्त: सर्वमूलूयु को हितः
विद्वानः क: समर्थ्यश्र कश्चिंकश्ययांश्च:।
आत्मावान्को जीतकीयो चुतिमान्कोऽनुष्मुकः
कलय विभ्यति देवाश्च जातरोष्यसंयुगे। नालकाण्ड ११२-४

'इस समय लोक में कौन गुणवान् तथा वीर्यवान् है, कौन धर्मवेत्ता, कुसताशील, सत्य बोलनेवाला, दृढ़न्ती, शुद्ध आचरणवाला, सब प्राणियों के हित में लगा हुआ, विद्वान, समर्थ्य, प्रयादर्श, इत्यादियों को वश में रखनेवाला, कोधहीन, तेजस्वी, दूसरों के प्रति असूया न रखनेवाला है? कौन ऐसा है जिसके युद्ध में कोध करने पर देवता भी भयभीत हो जाते हैं?'

यहाँ दिया हुआ प्रथम विशेषण अपनी विशिष्टता रखता है। आदिकवि की दृष्टि में आदर्श पुरुष में विभा और वह दोनों का समावेश होता चाहिए। वह कोधी न हो, किन्तु जब वह उचित कोध करे तो उससे देवताओं को भी भय होना चाहिए। उपकरार के प्रति कृत्तज्ञाता, आत्मोधित के लिए सन्त
आदि की कस्तता तथा दूसरों की उत्तरति से न जलने का स्वभाव, ये सब
श्लाघनीय विशेषताएँ हैं। इसके आगे नारद ने राम में जिन अनेक अतिरिक्त
गुणों की उपस्थिति बतलायी है उनमें शारीरिक सौन्दर्य, विद्वान, शक्तिमत्ता
भारतीय संस्कृति

आदि के चौथ से विशेषण ही अधिक है। सीन्धु से मतलब है पुष्करोचित शारीरिक गठन; विपुल अथवा पुष्ट कंधे, बड़ी बालें, विशाल बक्स:स्वस्त, प्रशस्त छाल, श्रेष्ट विक्रम या शूरता आदि। इसी प्रकार राम की विविधता, बुद्धि मत्ता आदि का विवरणात्मक उल्लेख है। राम गंगा जना में समुद्र की भांति ही हैं, धीरज में हिमालय के समान; वे कोई में कालाधिन के सदृश हैं और शस्त्र में पृथ्वी की तरह। बल एवं पराक्रम में राम विष्णु के सदृश है—जिससे यह मतलब लिया जा सकता है कि वे विष्णु के अवतार नहीं हैं। जैसे समुद्र के समीप नदियाँ पहुँचती हैं, ऐसे ही राम के पास सजन सजन लोग पहुँचते हैं।

(बालकाण्ड, अध्याय १, ९-१८)

रामायण के पहले सर्ग में राम के जिन गुणों की सूची है वे क्रमशः
उनके जीवन में अभिव्यक्ति पाते दिखायें गये हैं—जैसे पिता के प्रति आशा-
कारिता, भरत के प्रति बड़े भाई का बातचीत, राज्य तथा ऐतिहासिक अन्तर
संक्रिया, भ्रमविद्या, प्ररंभित सत्यता आदि। उनके वन जाने की तैयारी
करने पर अयोध्या के जन कहते हैं—कोई निर्गुण पुत्र को भी वनवास नहीं
देता, फिर ऐसे पुत्र को कौन वनवास देगा जिसके अपने आचार से ही लोक
को जीत लिया है? (अवश्य ही राजा किसी भूत-प्रेत के अथिन हैं !)
पुष्करोचित राम को छह गुण हुमेशा शोभित करते हैं—कूर्ता का अभाव,
कोमलता, अनुकूल, शास्त्रीय, शैल (सुशीलता) एवं इन्द्रियों तथा मन
पर नियंत्रण का स्वभाव।

राम के जीवन-इतिहास में जगह-जगह इसके प्रमाण मिलते हैं कि वे एवं एवं पर केवल प्रत्यथित सदाचार की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए
लोकोत्तर आदेशों की प्रतिष्ठा व प्रकाशन करते चलते हैं। उन्होंने समस्त
प्रजा-परिवारों की अनिश्चित रहते हुए भी पिता के वचनों को सच्चा बनाने
के लिये वन्मगन स्वीकार किया, यह स्वतः उदात्त त्याग का महान निर्दशन
था। अधिक महत्त्व की बात यह है कि उनका यह आचरण एकदम स्वतः

४६. अयोध्याकाण्ड ३३१९१२
बैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

स्पृत था, उसमें कहीं क्रृत्तिमता या दिलाभे की प्रवृत्ति नहीं थी। तमसा
नदी के किनारे रात बिताते हुए राम शीघ्र ही जाग गये और सुमन्त्र से
बोले—‘जब तक ये सब (प्रजाजन) सोये हुए हैं तब तक हम लोग रथ में
चढ़कर निर्भय रास्ते पर चले जायं (ताकि ये लोग साय-साय न चल सकें)।
आगे फिर ऐसा न हो कि अयोध्या के ये नागरिक मेरे अनुराग से फिर पेड़ों
के नीचे सोयें। राजकुमारों का कर्तव्य तो यह है कि नागरिकों को उनके
अपने दुःख से मुक्त करें, न कि यहकि स्वयं अपना दुःख उन पर लाद दें।’’
राम के ये बाक्य उनकी उदार मनुष्यता एवं कर्तव्यपरायण राजपुत्र होने की
प्रभावपूर्ण साक्षी उपस्थित करते हैं।

राजा का आचार दूसरे लोगों के आचार को प्रभावित करता है, इसे
राम भली भांति जांते हैं। जाबालि ने राम को यह शिक्षा दी कि माता,
पिता, भाई कोई किसी का अपना नहीं होता। इसलिए राम को चाहिए
कि वे लौटकर अयोध्या में राज्य का भीम करें। जाबालि के सीखवाद
का विरोध करते हुए राम ने जो उदात्त उद्दार प्रकट किये वे उनकी सजीव
आदर्शवादिता का प्रभावपूर्ण प्रकाशन करते हैं—

कस्य यास्याम्यं बृहस्तं केन वा स्वर्गमान्यायम्
अनया वर्तमानोऽवस्था वृत्य नवनप्रतिष्ठया।
कामवृत्तस्विनं लोकः कृस्तं समुपवत्ते
यदृवतत् तति राजानस्तदृवतत्: सति हि प्रजा:।
ऋषययज्ञश देवार्श सत्यमेव हि मेनिने
सत्यवादी हि लोकेश्मन् परं गुरुत्वं भाषणम्।
उद्विज्जते यथा सर्पिन्दानन्दः
धर्म: सत्यपरो लोको मूलं सर्वस्य चोख्यते।

अयोध्या १०९८, ९-१२

47. अयोध्याकाण्ड ४६.२९१२३

46316
भारतीय संस्कृति

'प्रतिज्ज्ञास्वाग रूपी हीन वृत्ति को अपनाकर मैं किस (कुलाचार) का अनुसरण करता होऊँगा और किस आचरण से स्वर्ग जाऊँगा? मैं यवेष्टचारी कहलाऊँगा और फिर सब बैसा ही करेंगे; जैसा आचरण राजा लोग करते हैं, बैसा ही प्रजाजन भी करते हैं। अश्विनियों तथा देवताओं सब ने सत्य को मान्यता दी है; सत्यवादी इस लोक तथा परलोक दोनों में शास्त्र कल्याण को प्राप्त होता है। लोग सत्यवादी से बैसे ही उद्विग्न होते हैं जैसे कि सर्व से। लोक में धर्म सत्यरूप है। सत्य ही सबका मूल है।'

सत्य की महिमा महाभारत में भी विशेष रूप से उल्लोहित की गयी है। महाभारत के सबसे अधिक धर्मपरायण पात्र युधिष्ठिर मुख्यतः अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी सत्यपरायणता में एक ही जगह व्यतिरेक दिखाया गया है—अश्वत्थामा नामक हाथी की मृत्युभोग्यान के अवसर पर, जिससे द्रोणाचार्य की मूर्ति सम्बन्ध हुई। द्रोणाचार्य द्वारा अन्तर-परित्याग का कारण उनकी युधिष्ठिर की सत्यपर्यता में अंबेदक्कर आश्चर्य थी—

स्वयं बुद्धि हिर द्रोणस्थ न पार्थिव विश्वेतन्त्रम्
नवाणामपि लोकानामैश्वयर्याः कर्षचन।

द्रोण १९०१४३

'द्रोण की यह स्वयं आश्चर्य थी कि युधिष्ठिर तीनों लोकों के ऐश्वर्य के लिए भी कभी नूठ नहीं बोले।'युधिष्ठिर क्षमाशील और उदार भी विशेष थे। वनपर्व में पाण्डवों के जीवन के दो ऐसे प्रसंग हैं जो युधिष्ठिर के उक्त गुणों को ज्वलित रूप में प्रकाशित करते हैं। कर्ण आदि से परामर्श करके दुर्योधन दूतवंश में इस मतलब से गया कि वहाँ पाण्डवों को अपने ऐश्वर्य से चिंता। दुर्योधन वर्षा उसका चिन्त्रण गंधर्व से झगड़ा हो गया, और गंधर्व ने उसे हुराकर कौद कर लिया। यह सब खबर पाकर प्रसन्नता प्रकट करने वाले भीमसेन का वारण करके युधिष्ठिर ने भीम, अर्जुन आदि को यह आज्ञा दी कि
बे जाकर दुर्वीघन को छुड़ा लाये। यह उदारता उन्होंने उसे दुर्वीघन को दिखायी जिससे उनका सर्वस्त्र हुरण करके उन्हें वनवासी बना दिया था। कुछ समय बाद सिंहुराज जयद्रथ ने द्रौपदी का हुरण कर लिया। बाद में जब उसे पकड़कर लाया गया तो युधिष्ठिर की कष्माशीलता ने ही उसके प्राणों की रक्षा की।

नारी-आदर

अब तक हुमाने पुरुष-व्यक्तिलेख के नैतिक आदर की चर्चा की। रामायण-महाभारत में नारी-व्यक्तिलेख के नैतिक वर्णन में मुख्यतः उसके पातिवर का उल्लेख हुआ है। यह उसके व्यक्तिलेख में शारीरिक सौंदर्य का विशेष महत्व है ही। महाभारत की प्रधान नायिका द्रौपदी में दूसरी विशेषताओं के साथ-साथ 'पतिपरामर्श' के गुण का भी पूर्ण योग है। इस संबंध में सीता का आदर तो अतुलनीय है ही। दूसरे आदरायों में दमयती, सावित्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वनपर्व के एक स्थल में द्रौपदी तथा सत्यभामा का रोचक संवाद है। सत्यभामा ने पूछा—‘हे प्रियदर्शने! इसका क्या रहस्य है कि पांडव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सबके सब तुम्हारा मुख जोड़ते हैं? मुझे भी कोई ऐसा भ्रम, तप, स्नान, मन्त्र, अष्टध आदि बताया जिससे में क्रुण को सदृश वश में रख सकू।’ द्रौपदी ने उत्तर दिया कि ‘पति की वश में करने के ये उचित उपाय नहीं हैं।’ ‘फिर उचित उपाय क्या हैं?’ द्रौपदी ने अपने व्यवहार एवं स्वभाव के संस्कृत के बहाने तथाकथित उचित उपायों का निर्देश किया। उसने कहा—

अरंकारं विहायां कामरोधो च सर्वदा 
सदरानु पाण्डवान् निःव्र प्रवतोपचरामथमहमू।
प्रणवं प्रतिसहृद्य निधायात्मानामात्मनि
शुभ्रबुधरज्ञमाना पतीनां चितरिक्षिणि।
दुर्वार्हतात्त्वकमाना दु:स्वितादु दुर्वेषण्यामु
दुरसिद्धां दुर्वृजितात्तिक्ताध्यायीतादिः।
भारतीय संस्कृति

वनपृष्ठ 23

भारतीय साहित्य की नायिकाओं में अपनी तेजस्विता के कारण द्रौपदी एक विशेष स्थान रखती है। जगह-जगह उसने संकट-ग्रस्त मुद्धिकुंड को उचित सीख भी देने का प्रयत्न किया है। द्रौपदी दर्शनीय थी, विवृती थी और
पतित्रता तथा पतिप्रिया थी। फिर भी युधिष्ठिर के सामने अपने ब्याव-हारिक सुभाव रखते हुए वह इसका पयोत्त्व ध्यान रखती थी कि कहीं युधिष्ठिर का पुरुष-दृढ़त अपमान न महसूस करे। बनपर्व में एक स्थान पर 
दौप्यदी ने युधिष्ठिर को समझाते हुए जो बहुत-सी बातें कहतीं, उनमें एक यह 
भी थी कि क्षत्रिय को एकान्त श्रमाशील नहीं होना चाहिए—
यो न दर्षयते तेजः क्षत्रियः काल आगते,
सर्वभूतानि त शर्यत सदा परिश्रमलयुतः।

बनपर्व ॥२७॥३८॥

अत्रापुदाहरतीमममितिहासं 
पुरातनम्
बलिः प्राच्य दैव्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः।
क्षमा स्विंस्कृत्त्तं तात उतातो तेजः इत्युत्।
तस्मै प्रोवाच तत्सवैमेवं पृष्ठः पितामहः॥

न श्रेष्ठः सत्तं तेजो न नित्यं श्रेष्ठी क्षमा,

यो नित्यं क्षमता तात बहुतु पोषान्त विन्दितं;

तस्मात्रित्यं क्षमा तात पंडितरपवादिता।

वनपर्व ॥२८॥१-२, ३-५, ६-७, ८॥

'जो क्षत्रिय समय आने पर अपने प्रभाव को नहीं दिखाता, उसका सब 
प्राण सदा तिरस्कार करते हैं। इस विषय में एक पुरातन इतिहास उदाहत 
किया जाता है। एक बार बलि ने दैव्येन्द्र प्रह्लाद से पूछा—“हे तात ! क्षमा 
ज्वादा श्रेष्ठ है या तेज ?” पितामह प्रह्लाद ने उत्तर दिया, “न हमेशा तेज 
कल्याणकारी होता है, न सदैव क्षमा ही श्रेष्ठकर होती है। हे तात ! जो 
हमेशा क्षमा करता है; वह बहुत-से, दोषों को प्राप्त होता है। इसीलिए विवेकी 
लोगों ने क्षमा के अपवाद कहते हैं।” यहाँ दौप्यदी ने युधिष्ठिर को अपने मन की 
बात एक संवाद-कथा के बहुत से कहतीं, ताकि उसका यह अभिमान प्रकट न हो 
कि वह अपने को बहुत समाधार मानती है। आगे इसी आरांका से (युधिष्ठिर 
के समस्त यह मन्त्र उपस्थित करके कि पुरुषार्थ ही प्रधान है) उसने
भारतीय संस्कृति

कहा कि ‘मैंने यह नीति, जो वृद्धिपति द्वारा कही गयी थी, और जिसे बर में बसे एक ब्राह्मण ने पिता को तथा भाइयों को बताया था, उनके निकट सुनी’। (वनपर्व, ३२।६०, ६१) द्रौपदी के बातचीत के इस दंग से जहाँ एक भर उसकी चतुराई प्रकट होती है, वहाँ दूसरी भर इस भावना का भी आभास मिलता है कि वह बुद्धि तथा नीति-बोध में अपने को पति से महत्त्व दर्शित नहीं करना चाहती थी।

धर्म की व्याख्याएँ

पांडवों के नेता युधिष्ठिर ने महाभारत में जगह-जगह धर्म की व्याख्या की है, दूसरे अनेक वक्ताओं ने भी धर्म का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। वनपर्व में युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने धर्म का महत्त्व इन शब्दों में घोषित किया है—

धर्म एव हृतो हृति धर्मो रक्तित रक्तित,
तस्मात् धर्मो न हातयो मा नो धर्मो हृतो वधीतः।

वन ३१३।१२८

‘जो धर्म का हृतन करता है, धर्म उसका हृतन कर देता है; रक्ता किया हुआ धर्म धर्मरक्षक की रक्षा करता है। इसलिए धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए कि कहीं वह निहत होकर हमारा नाश न कर दे।’ प्रश्न है, यह धर्म क्या चीज है? धर्म नामक तत्त्व को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से एवं सामाजिक सामंजस्य की दृष्टि से। महाभारत में धर्मतत्त्व को इन दोनों ही दृष्टिकोणों से देखा तथा वर्णित किया गया है। सामाजिक दृष्टि से कर्णपर्व में कहा गया है—

धारणामल्लस्मित्यादृधर्मों धारयते प्रजा,
यस्माद्धारणसंयुक्त: स धर्म हिति निश्चयः।

कर्णपर्व, ६९५८
‘अर्थात् धारण करने के कारण धर्म नाम है, धर्म प्रजाओं का धारण करता है; जिससे लोक का धारण हो, लोक की स्थिति हो वही निश्चय रूप में धर्म है।’ धर्म वह है जिससे लोक का कल्याण हो। लोक-कल्याण की साधन होने के कारण ही अर्था हसा का विशेष महत्व है—

यत्त्यादाहिसारसमयुक्तं स धर्मम इति निश्चयः।
अर्थसार्थिय भूतानां धर्मप्रबंधानं क्रतम।

कर्णपर्व, ६९।१७

अर्थात् ‘जो अर्था हसा से सहारित है वही, निश्चय रूप में, धर्म है। प्राणियों के प्रति अर्था हसा के लिए ही धर्म का व्याख्यान किया जाता है।’ अर्था हसा का स्थान सत्य से भी ऊपर है। जब किसी के प्राण संकट में हो, उस समय असत्य बोलना भी पाप नहीं रहता। ‘पाँच असत्य पापरूप नहीं होते; विवाह (तय करने) के अवसर पर, रति के समय, प्राण-संकट में, सर्वस्वनाश उपस्थित होने पर, और ब्राह्मण के लाभ की स्थिति में।’ \"अन्यत्र भी कहा गया है—

सत्यस्य वचनं भ्रेयं सत्यादिपि हितं बदेत्,
यद्भूतहितमत्तन्त्रमेतसत्यं मतं मम।

शास्तिपर्व, ३२।१३

‘सत्य वचन श्रेष्ठ होता है, किंतु तत्त्व की अपेक्षा भी हित करनेवाला वचन श्रेष्ठ है; जो प्राणियों का अत्यन्त हित करनेवाला है वही सत्य है, ऐसा मेरा मत है।’

निश्चय ही धर्मशील पूर्व वह है जिसके द्वारा किसी का अहित नहीं होता। किंतु व्यक्ति के सामने हमेशा सिर्फ यही प्रश्न नहीं होता कि वह दूसरों का अहित न करें। दो भिन्न कोटियों के बन्दर्मूलक प्रश्न भी उसके सामने उपस्थित हो सकते हैं। एक प्रश्न यह उठ सकता है कि ऐसे व्यक्ति के प्रति,

४५. कर्णपर्व, ६९।१३
भारतीय संस्कृति

जो दूसरों को कष्ट देता है, कहाँ तक क्षमा व अहिंसा-का बताव दिया जाय?
दूसरा प्रश्न व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति तथा साधना से संबंध रखता है;
नैतिकता के ऊपर उठकर उच्चतर साधना के अभिलाषी पुस्त खो कहाँ
तक सत्य, क्षमा, अहिंसा आदि का पालन करना चाहिए?
किन स्थितियों में
ऐसे व्यक्ति को उक्त गुणों के ल्याग का अधिकार हो सकता है?
और यदि
साधक लोकवासक राजा भी है, तो उसकी क्षमाशीलता आदि की क्या
सीमाएं होनी चाहिए?
इस प्रश्न का एक दूसरा रूप भी है, कहाँ तक व्यक्ति
को वर्णान्ध्रित धर्म के निर्वाह के लिये सत्य, क्षमा आदि उच्च गुणों के पालन
में समक्ष हो कर लेना चाहिए?
महाभारत की यह विशेषता है कि उसमें
धर्म से संबंधित इस तरह के सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्न उठाये गये हैं।
ऐसे प्रश्नों
को व्याख्या किसी जाति की नैतिक-आध्यात्मिक चेतना की
समृद्धि का
प्रमाण है।
किसी भी संस्कृति में ऐसे प्रश्नों के समूहार हूल पा सकना असम्भव
है।
महाभारत में भी उक्त प्रश्नों के संतोषग्राह समाधान दिये गये हैं।
ऐसा
नहीं कहा जा सकता।
वस्तुतः महाभारत में नैतिक संबंधते के विभिन्न स्तरों
पर द्वन्द्व एवं द्रुवियता का स्वर ही प्रधान है।
यहाँ हम पाठकों को इस अंतिम
तथ्य से अवगत कराने का प्रयत्न करेंगे।
(१) महाभारत में वर्णान्ध्रित धर्म, विशेषतः वर्ण-भाषित
धर्म की तीव्री
चेतना पायी जाती है।
मनुष्य को स्वधर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए।
स्वधर्म का अर्थ है वर्ण-धर्म।
गीता तक में वर्णधर्म की महत्ता से संबंधित
कतिपय अंद्रविश्वासों का समर्थन पाया जाता है,
जैसे इस विवेकस का कि
युद्ध में मरनेवाला सीधे स्वर्ग को जाता है।
गीता में युद्ध को क्षत्रिय के लिए
स्वर्ग का चुला द्वार (स्वर्गद्वारसपाटवृत्तम) कहा गया है।
महाभारत में जगह-
जगह स्वधर्म की महिमा का उल्लेख है।
चूँकि महाभारत के प्रमुख पात्र
क्षत्रिय हैं,
इसलिए स्वातन्त्र्य पर क्षत्रिय-धर्म का महत्व-ख्यात न है।
उद्योग-पर्व में बिदुर के मुख से कहलाया गया है—
द्राक्षिमी पुश्क्रयाग्राह सूर्यमंडलभेदिनी,
परिमाण्योगयुक्तत्व रणे चामितमुखो हुत।
उद्योग ३१।६१
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

अर्थात् 'हे पुरुषोधन, ते स प्रकार के पुरुष सुर्वमंडल को भेदक ऊर्ध्व-गति को प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संयासी और संग्राम में शानुष्यों के समुख युद्ध करके मारा गया योद्धा।' यहॉ योगी परिव्राजक तथा युद्ध में मारे जाने-बाले क्षत्रिय दोनों को एक कोष्ठक में रखना कुछ विस्मयजनक जान पड़ता है—बाद के वेदान्ती ऐसे अदाराविक सत्य को कभी भी स्वीकार नहीं करते।

किन्तु महाभारत में यह विचार जगह-जगह व्यक्त हुआ है। शांतिपर्व में श्रीपार्वती ने युधिष्ठिर से कहा—

मित्रता सर्वमूंदेशु दानमध्यययं तपः

श्राहन्स्यच धर्मं स्यास्त राजो राजसत्तम। शांतिपर्व, १४२१५

'सब भूतों के प्रति मित्रता का भाव, दान, अध्ययन तथा तप श्राहन्स के ही हार्म हैं, राजा के नहीं।' महाभारतकार सामाज्य मनुष्य की दृष्टि से ही पाप-पुष्प, धर्म-अधर्म का विचार नहीं करते, उनकी दृष्टि में मनुष्य मुख्यतः किन्तु वर्ण का सदस्य है। स्वधर्म के अंतर्गत वर्ण-धर्म का ही नहीं, कुल-धर्म का भी समावेश है। यह मन्त्री धर्मवाच्य की कथा में बड़े तीव्रे रूप में प्रकट हुआ है। कौशिक पाठ के कराण के सामने अपने मांस-विक्रय के व्यापार की सफाई देते हुए धर्मवाच्य कहता है—

कुष्टिचितिरित्वं कर्म पितृपैतामहं परमः

बलमानस्य द्रम्यं घर्म्यं स्वे मनुष्यं मा कुष्ठियो व्रज। वनपर्व, २०३२०

स्वकर्मेण त्यजतो ब्रह्मसन्नगर्मं इह दृष्टे,

स्वत्मानिर्गतो यस्तु धर्मं सं सति नित्यच।। वनपर्व, २०८११

'हि व्रज, भेरा यह काम बाप-बादों के समय से चला आ रहा है और कुल के उपयुक्त है। मैं अपना धर्म पाल रहा हूँ, इसलिए आप मुफ्त पर कोई न करें।'

'श्राहन्सु, अपने कर्म का परित्याग करने-वाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्म में तत्पर है, उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धान्त है।' इसी के अनुरूप गीता में भी कहा है—
भारतीय संस्कृति

श्रेयान्वितवर्धमाः विगुःः 
परमसत्त्वतुष्टिताः
स्वर्धमाः निधनं श्रेयः 
परमस्त्वम भयावहः।
भ ० गी ० ३, ३५

'पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चालुक्यवन्धः-विधित कर्म अधिक श्रेयस्कर है;' (फिर चाहे) वह विगुः अर्थात् साधन भरे ही हो। स्वर्धमाः के अनुसार (वरले में), मृत्यु हो जाय तो भी उसमें कल्याण है; (परस्तु) परधर्म भयंकर होता है।'

कथा कहा जा चुका है कि महाभारत में स्वर्धमाः के उदाहरणस्वरूप क्षत्रिय-धर्म का ही अधिक संकेत हुआ है। इस दृष्टि से जगह-जगह यज्ञो आदि की महिमा का उल्लेख किया गया है। समापवर्म में नारद युधिष्ठिर को यह सलाह देते हैं कि उन्हें यज्ञ करना चाहिए, शान्तिपर्व में अरुण युधिष्ठिर को समझाते हैं कि धन इकट्ठा करना चाहिए और यत्न से यज्ञ करना चाहिए।१९ आगे दुष्यंतपुत्र भरत, दिलीप तथा राम आदि का उदाहरण देकर कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को समझाया गया है कि यज्ञादि कर्म कितने महत्त्वपूर्ण हैं। '२० फलतः युद्ध के कलुष से अपने को शुद्ध करने के लिए युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसका वर्ण एक पूरे पर्व (अश्वमेध पर्व) में किया गया है। उद्योगपर्व में विद्युर कहते हैं—

'ह्वायेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणाः
गृहस्थश्च निराराम्यः कार्यवास्तेच्च भिक्षुकः। उद्योग ० ३, ५७

४६. पितृलोकपत्तस्वाह पांदुस्ते पाण्डुनन्दन,
सम्पत्तिः नहूं जेतुं भ्रातरस्ते वशे स्थितः;
राजसूयं कुतुष्टिभ्रातरस्ते भरत। समापवर्म १२।२३, २५
सर्वथा धनमाहायं यष्टियम चापव यत्नः।
वेशं राजाश्वेमेधन तजरे वशिष्यावता,
उपेक्षा तत्स्वायमीय पुत्रा: सर्वं भवन्तते। शान्तिपर्व ८।२७, ३५
५०. शान्तिपर्व, अष्ट्याय २६
‘दो ही अपने विपरीत कर्म करने के कारण शोभा नहीं पाते—अनकर्मिण्य गृहस्य और कर्म में लगा हुआ संयासी।’

(२) जान पड़ता है कि महाभारतकार के समय में यह बड़ा प्रचलित विचार था कि मनुष्य को अपने वर्ण के लिए विविध कर्म करने चाहिए। किंतु महाभारत के चरित-नायक अक्षय हिसापूर्ण क्षत्रिय-जीवन या धर्म की निन्दा करते ही पाये जाते हैं। उद्योग-पर्यंत में कृष्ण को दूत बनाकर दुर्योधन के पास भेजते समय युद्धशिष्ट यह विचार प्रकट रखने के लिए कि श्री को, अर्थात् अपने पैतृक राज्याधिकार को छोड़ना सम्भव नहीं है, युद्ध की संभावना को एक अत्यधिक विकल्प के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। किंतु साथ ही उन्हें इसका आयाम तो कि युद्ध बड़ा भयनक चीज है। युद्ध की भीषणता का संकेत करते वे कहते हैं—

पाप: क्षत्रियधर्मों क्षय व क्षत्रवान्धवा;
स: स्वधर्मों वा कृतितन्या विगितान। उद्योगपर्यां १३२।४६

‘यह क्षत्रिय-धर्म बड़ा पापपूर्ण है, और हम सब क्षत्रिय है; वह हमारा स्वभाव हो या अधर्म, हमारे लिए इससे वृत्ति (आचरण) नहीं है।’ आपने वे कहते हैं कि क्षत्रिय क्षत्रिय को मारता है, एक मछली दूसरी मछली को खाकर जीवित रहती है और कुत्ता कुत्ते को मारता है; ऐसा ही धर्म चला आया है। यहाँ स्पष्ट ही क्षत्रिय धर्म को बड़े अत्यधिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार पुनः को कृष्ण द्वारा संदेश देने का प्रयत्न करती हुई कुत्ती कहती है—

बाहुभ्यां क्षत्रिया: सृष्टा बाहुवीरोपजीविन;
कृताय कर्मनं नित्यं प्रजानं परिपलने। उद्योगपर्यां १३२।७

‘क्षत्रिय बाँधों से उत्सर्ग हुए हैं और बाँधों के बल से जीविका कमाते हैं। उन्हें विधाता ने कृत कर्म के लिए और उसके द्वारा प्रजा परिपलन के लिए पैदा किया है।’ महाभारत का युद्ध, जिसमें लाखों योद्धाओं का विनाश हुआ
भारतीय संस्कृति

दोनों पक्षों के वीरों में स्नाति तथा अनुतप्त की भावनाएं उत्पन्न करता है। यहाँ तक कि दुयों धर्म भी अपने को धिक्कारे बिना नहीं रह सका। वह कहता है—

सोउँ कापुरूषः कुत्वा मित्राणां क्षयमीदृश्मू, अत्स्वमेधसहस्वेण पावितुः न समुत्वहे। द्रोपद्यव, १५०१७

‘मैं कापुरूष (कावर) इस प्रकार अपने मित्रों का क्षय कराके सारे अत्स्वमेध युद्धों से भी पवित्र होने की आशा नहीं कर सकता।’ अत्स्वमेधाय द्वारा अपने पाँचों पुत्रों का वध हो जाने पर सौन्तिक पर्व में द्रोपदी युद्धिष्ठिर का उपहास-सा करती हुई कहती है—‘क्षत्रिय-धर्म के अनुसार अपने पुत्रों को यम की मेंट करके अब तुम इस समस्त पूवशी का भोग करोगे, यह कैसा सोभामय है ?” सांतिपर्व में युद्धिष्ठिर स्वयं क्षत्रियों के आचार, उनके बल और पौरशुष्य तथा उस कोष की निन्दा करते पाये जाते हैं जिसने महाभारत का युद्ध कराया और हजारों योद्धाओं का वध।

युद्धजन्य विजय तथा उससे प्राप्त होनेवाले ऐस्वर्य के प्रति वैराग्य की भावना रामायण में भी पायी जाती है। राम की सहायता से सुग्रीव द्वारा बाली का वध हो जाने पर उसकी पत्नी तारा का विलाप स्वाभाविक था। रोते हुए उसने कहा—

शूराय न प्रदाताब्या कन्या खलु विपश्चिता।

किशिण्या, २३, ८

अर्थात् समस्तदार माता-पिताओं को चाहिए कि कभी अपनी बेटी शूर-वीर (सिपाही) को न दें। यह एक प्रकार से क्षत्रिय-धर्म की निन्दा है। किन्तु भाई के लिए विलाप करते हुए सुग्रीव ने जिन भावनाओं को व्यक्त किया वे वैराग्य की पोषक हैं—

५१. सौन्तिक पर्व ३१५२ ५२. सांतिपर्व ७१५
बौद्ध काल और रामायण-महाभारत-युग

समाचार भोगे। नरेन्द्रसूनो!
मनो निवृत्तं हृतजीवितेन,
अस्या महिष्यां हु भूयं रवन्यां
Pुरुषस्तिविकृति कोति हुँ खत्ते।

किञ्चिदा २४.२-५

‘हे राम! राजरानी तारा को रोते हुए और पुरवासियों को चींटे हुए देखकर अब मुझ कृत्स्न जीवनवाले का मन भोगों के प्रति वैराग्ययुक्त हो रहा है’।

(३) स्पष्ट ही संवेदनशील मनुष्य के लिए वर्ण-धर्म का पालन करना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य होने के नाते वह उस धर्म की जिज्ञासा करता है जो विभिन्न वर्णों के धर्म से परे है। वह उत्कर्ष के सह धरातल को भी छूना चाहता है जो युद्ध में विजय द्वारा प्राप्त होनेवाले राज्य व ऐश्वर्य से उठका है।

इस प्रकार की बुद्धिजीवी तथा जिज्ञासा मनुष्य को वर्णशिल्प-धर्म तथा ऐश्वर्य सुखभोग दोनों के दायरों से बाहर अध्यात्म की भूमि में ले जाते है।

महाभारत में जहाँ जगह-जगह क्षत्रिय धर्म की निन्दा है, वहाँ ब्राह्मणों तथा तपस्वियों के जीवन की प्रशंसा भी है।

हमने कहा कि महाभारत में स्वधर्म अथवा वर्णशिल्प-धर्म को बहुत गौरव दिया गया है। किन्तु साथ ही जहाँ-तहाँ यह भावना भी पायी जाती है कि जाति अथवा वर्ण का भेद आत्मन्त्विक नहीं है। सिर्फ ब्राह्मण के घर में पैदा हो जाने से ही कोई अवक्ति ब्राह्मण नहीं हो जाता। वर्ण के निर्णय में जन्म की अपेक्षा कर्म ही प्रधान है। ये विचार स्वयं युद्धिष्ठिर द्वारा व्यक्त किये गये हैं। सर्प-रूपाधारी नृष्ण के प्रकाशों का उत्तर देते हुए युद्धिष्ठिर ने जाति के,विशेषतः: ब्राह्मणत्व के, संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं वे बड़ी अंतिकारी हैं। वे कहते हैं कि जिस व्यक्ति में सत्य, दान, कृत्य, सुशीलता, कृत्य का अभाव, तपस्वा और दया ये गुण पाये जाये वहीं ब्राह्मण है। नृष्ण के यह कहते हैं कि यदि शूद्र में वैसे गुण पायें जाये तो वह शूद्र नहीं, और यदि ब्राह्मण में न पाये जायें
भारतीय संस्कृति

तो वह ब्राह्मण नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्यों में जाति की परीक्षा करना बड़ा कठिन है, क्योंकि सभी वर्णों का परस्पर मिश्रण (संकरता) हो गया है। युधिष्ठिर के मत में वाणी, मैथुन, जन्म और मरण ये सब मनुष्यों में एक-से देखे जाते हैं और सब मनुष्य सब तरह की स्थितियों और सन्तान उत्पन्न करते हैं; इसलिए, तत्त्वज्ञातियों की दृष्टि में, शीश ही प्रधान माना जाता है। शील अय्यरा वृत्त की महत्ता पर विद्वान ने भी गौरव दिया है। धूतराण्ड्र ने जिन्दासा की कि कुलीन अर्थात् श्रेष्ठ कुलवाला किसे कहते हैं? उत्तर में विद्वान ने कहा—

तपोऽत्मो श्राववित्तम वितानाः
पुष्या विवाहः सततान्त्रवाणम्,
येष्वेवते सप्त गणा वसति
सम्यमृतात्सतानि महाकुलानि।

‘जिनमें तप, इन्द्रिय संयम, वेदों का स्वाभाव, यज्ञ, पात्रविश्व विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महानू (उत्तम) कुशल कहते हैं।’

53. सत्यं वानं प्रक्ष्यं शीलमानुष्टचुं तपों युम्ना,
दृष्यते यथा नागेन्द्र स श्रावण इति ह्युः:।
शून्ये तु यद्य भवेलः छिद्रे तपम् न विद्यते,
न वै शून्ये भवेलः श्रावणे न च श्रावण:।
जातिरत्न महासर्वं मनुष्यतवे महामाते,
संकरतुः सर्ववर्णान्तु दुःश्रीरिकयेते मे मतः।
सवै सत्त्वसप्तानि जनयलित सवा नराः;
वाखः सुंद्रयते जनम मरणं च समं नृणाम्।
तत्साधात्रेऽपि प्रधानेष्टं विद्रोहं तत्त्वदित्वम्।

वनपुंरः १५०१२१, २५, ३१, ३२, ३३
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

उपर के वक्तव्यों से पाठक यह अर्थ न निकाले कि महाभारतकार
विचित्रता रूप में कर्म से जाति योगने के समस्यक है। यह ठीक है कि महाभारत
में युधिष्ठिर तथा विद्युत दोनों के ही विचारों को विभेद महत्व दिया गया
है। किन्तु इस विशाल स्रोत में इससे भी बहुत-से शिक्षक और विचारक हैं
और वे दूसरे प्रकार की समस्याओं को प्रस्तुत कर डालते हैं। उदाहरण के
लिए एक जगह मार्कण्डेय द्वारा युधिष्ठिर से यह कहलाया गया है कि जाने
विद्वान् हो या अविद्वान्, ब्राह्मण हर हालत में बड़ा देवता होता है। ५७ महाभारत में बाद में इतने प्रकाशित अंश जोड़े गये हैं कि यह कहना कठिन हो जाता
है कि कहाँ महाभारतकार का मूल आशय व्यक्त हुआ है और कहाँ नहीं।
मार्कण्डेय का उक्त वाक्य बाद में किसी ब्राह्मण-भक्त ही नहीं सकता है।

यह महाभारत में धर्म-संबंधी चेतना बड़ी तीव्र है, और उदारता भी। धर्म
क्या है, इतने संबंध में जगह-जगह विभिन्न मत पाये जाते हैं। अनेक स्थानों में
यह सम्मति प्रकट की गयी है कि धर्म-तत्त्व बड़ा सुख है और उसका विवेचन
बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति में एक जगह तो यही सलाह दी गयी है कि धर्म
करने की इच्छावाले को बड़े जनों के मार्ग पर चलना चाहिए। विभिन्न
व्यक्ति-मुनियों के अलग-अलग मत हैं, जिससे जगता है कि धर्म का तत्त्व
किसी रहस्यमयी गुफा में छिपा हुआ है।

तथापि धर्म के व्यापक रूप के संबंध में महाभारतकार को, अर्थातः
महाभारत के किसी महत्वपूर्ण शिक्षक को, दुविधा नहीं है। महाभारत में
जगह-जगह कहा गया है कि सत्य से परे कोई दूसरा धर्म नहीं है (नातिसत्यात्
परो धर्मः—शांतिपर्व, १६२, २४)। अन्यथा कहा गया है—
अस्वेधसहसूच च सत्यं च तुलया ध्रुतमः,
अस्वेधसहसूची सत्येव विशिष्यते। आदिपर्व ७४.१०३

५४. एवं विद्वान्विद्वान् वा ब्राह्मणो देवतं महत्।—वनपर्व २००१५५
अर्थात् 'यदि हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अचिक होगा.' इसी प्रकार अहिष्ठा की प्रशंसा में कहा गया है कि जो अहिष्ठा से युक्त है वही धर्म है। धर्म के उपदेश का मतलब ही यह है कि लोग प्राणियों की हिस्सा न करें। ऐसे ही महाभारत में क्षमा की बड़ी प्रशंसा की गयी है—क्षमा वशीकृति की क्षमा कि न साध्यते।

उद्वोगपर्व ३३।५०
एको धर्म: परं भ्रष्य: क्षमा का शान्तिरुस्तमा।

उद्वोगपर्व ३३।५२
अर्थात् लोक में क्षमा वशीकरण के समान है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं हो सकता। एक धर्म ही परम कल्याणकारक है, एक क्षमा ही शान्ति का श्रेष्ठ उपाय है। महाभारत में जगह-जगह धर्म की परिभाषा अथवा वर्णन देने का प्रयत्न किया गया है। युधिष्ठिर से धर्मराज इसी यक्ष ने कहा कि यथा, सत्य, दम अर्थात् इन्द्रियनिर्ग्रहः, स्वच्छता, सरलता, लुभ्या, अचरजलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब धर्म के शरीर हैं। अहिष्ठा, समता, शांति, दया और मात्सर्य का अभाव—ये धर्म तक पहुँचने के लिए हैं। ॥२॥ भीमने युधिष्ठिर को समझाते हुए कहा कि अहिष्ठा, सत्य, अक्रोध तथा दान ये चार सनातन धर्म हैं। ॥३॥ अन्यत्र वे अहिष्ठा, सत्य, अक्रोध, कृत्य का अभाव तथा इन्द्रिय-निग्रहः को धर्म का निषिद्ध लक्षण बतलाते हैं। ॥४॥

प्रवृति और निवृति, कर्म और संन्यास

उपर इसमें धर्म के जिन तत्त्वों का उल्लेख किया उनका संबंध यथावति

५५। बनपर्व, ३१४।७-८
५६। अहिष्ठा सत्यमकोधो वानमेतच्चतुष्टयम्,
अजातशतो सेवत्व धर्म एव सनातनः। अनुसासन० ४१६५
५७। अहिष्ठा सत्यमकोध आनुशास्त्रं वमस्तथा,
उर्ज्जवं चेव राजेन्द्र निश्चितं धर्मसमस्यम्। अनुसासन० २१४०
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

के गुणात्मक नैतिक घरालू से है। महाभारत में वर्णमार्ग की परमात्मा है, और मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक धर्म तथा नैतिक गुणों का भी विवेचन है। विशेषतः: शालिकरप में जीवन-दर्शन से संबंधित एक महानुभूति प्रसन्न उठाया गया है। जीवन के परम कल्याण के लिए प्रबुद्ध अथवा कर्म का मार्ग भ्रमण है, या निवृत्तितत्त्व संसार एवं अकर्म का? इस प्रसन्न के उठने का कारण युधिष्ठिर है भगवद्गुरुत्ता में यह प्रसन्न अर्जुन द्वारा उठाया गया है। अर्जुन का प्रसन्न युद्ध से पहले उठा था; युधिष्ठिर वही प्रसन्न युद्धजनित वैराज्य की भावना के प्रभाव में उठाया है। वर्तमान शालिकरप को पढ़ने से यह प्रतीत नहीं होता कि महाभारत में उक्त प्रसन्न पर पहले (भगवद्गुरुत्ता में) लम्बा-बौड़ा विचार हो चुका है। शालिकरप में अर्जुन युधिष्ठिर को कहीं यह स्मारण नहीं दिलाते कि क्या वे स्वयं इस संबंध में क्रुणा के साथ बहुत कुछ विशेषता कर चुके हैं।

माना जा सकता है कि भगवद्गुरुत्ता की शिक्षाओं का परंपरागत कार्यालय में है, न कि संसार में। शालिकरप में जगह-जगह युधिष्ठिर से तर्क करते हुए अर्जुन कर्म अर्थात राजभूमि व राजधानी के निर्वाह का ही समर्थन करते हैं; किन्तु उनका समर्थन कहीं भी गीता के विचारों के ऊँचे धरातल को नहीं छूता। इससे सन्देह हो सकता है कि वर्तमान भगवद्गुरुत्ता महाभारत का निर्देश भाग नहीं है। शालिकरप में युधिष्ठिर का समाधान करने की कोशिश बहुत-से लोग करते हैं, जो कि परिस्थितियों के ज्यादा अनुकूल है। इसके विपरीत क्रुणा द्वारा युद्धहृदिम में अर्जुन को इतना लम्बा-बौड़ा उपदेश दिया जाना कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता है।

युद्ध के बाद विजयी शासक में दुनिया के प्रति वैराज्य की भावना पैदा होना, भारतीय इतिहास की पीठिका में, बड़ा स्वाभाविक जान पड़ता है। इतिहास के शासकों में, इस दृष्टि से, सम्राट अशोक का नाम विशेष प्रसिद्ध है। हमने देखा कि बाली के बाद सुग्रीव के मन में विश्वास एवं वैराज्य की भावनाएँ जगी थीं। किन्तु सुग्रीव के ये मनोभाव अस्थायी थे। इसके विपरीत युधिष्ठिर में उठनेवाली निर्देश की भावना ज्यादा गंभीर थी; इसीलिए उसके निराकरण के लिए लोगों को विशेष प्रस्ताव करता पड़ा। युधिष्ठिर के निर्देश
भारतीय संस्कृति
की तात्कालिक प्रेरणा यह परिज्ञान था कि कर्ण उनका समा भाई था जिसका वध राधाकृष्ण द्वारा हुआ। कुंतली ने कर्ण का रहस्य राधाकृष्ण से छिपाकर रखा; युद्धकिर ने स्त्रियों को शाप दिया कि भिक्षु में वे रहस्य की रक्षा न कर सकें। यहाँ हम युद्धकिर की निवेद-भावना और उनकी समर्थक युक्तियों का लम्बा-गोला विवरण नहीं देंगे। हमारे देश में यह भावना और ये युक्तियाँ सुविधित है—जीवन तथा जगत् निस्सार अर्थात् विनाशाध्यात्मक है; इच्छाओं का अंत नहीं है और उनकी पूर्ति असंभव है। जैसे घी डालने से अग्नि बढ़ती है वैसे ही एक इच्छा की पूर्ति से हूसरी इच्छाएं पैदा होती हैं। विषय-भोगों से समृविशाली राजा भी कभी सन्नुस्त होते नहीं देखे गये, संयमस्यो को वास्तविक सन्तोष प्राप्त होता है। संयमस्य में ही यथार्थ शान्ति है।

यहाँ हम उन वक्तव्यों का कुछ विवरण देंगे जो विभिन्न लोगों ने युद्धकिर को संयमस्य के मार्ग से रोकने के लिए दिये।

अरुण ने कहा—‘बड़े दुःख की बात है कि आप अलौकिक पराक्रम से प्राप्त की हुई इस लक्ष्मी का परिवर्तन कर रहे हैं। नपुसक और दीर्घसूत्री को राज्य नहीं मिलता; यदि आपको राज्य नहीं लेना था तो आपने क्यों कोई होकर राजाओं का वध कराया था? अर्थात् होकर भीष्म मांगकर खाना आपको शोभा नहीं देगा—वह मृत्युओं को ही शोभा देता है। जैसा कि नहुष ने कहा है, लोग गरीब को ऐसे देखते हैं जैसे वह कोई पापी हो, दरिद्रता पाप है; दरिद्र और पतित समान हैं। धन से ही सब प्रकार के शुभ कर्मों का अनुभव होता है; धन से ही धर्म, काम तथा वस्त्र का संपादन होता है; धन के बिना प्राणमयी भी सिद्ध नहीं हो सकती, निर्देश व्यक्ति की सारी कियाएं विचित्र हो जाती है।'' आपको यह कहना चाहिए; यह करने से पाप नष्ट होते हैं। गूहस्य धर्म को छोड़कर वन को जाना उचित।

५५. शान्तिपर्व अन्याय १७ (श्लोक ४, ५, १०) और अन्याय ६
(श्लोक १७ तथा आगे)।

५६. शान्तिपर्व अन्य ८ (श्लोक २-५, ६, २१, २४-२५)।
वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

नहीं। पश्चिमीरार्दी हिन्दु ने ऋषि-बालकों को यही सिखाया था। (शान्तिपर्व, अ० ११)

आगे अर्जुन ने राजदंड की महत्ता का वर्णन किया। दंड से धर्म की तया धन-धार्म की रक्षा होती है, दंड के भय से लोग पापों से विरत होते हैं और अपने-अपने धर्मों का आचरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि राजदंड बड़ा महत्वपूर्ण है और उसकी स्थिति के लिए युधिष्ठिर को राज्य में रहना चाहिए। राज-दंड के बिना, अर्थात् उसका ठीक प्रयोग न होने पर प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं।

आगे अर्जुन ने राजा जनक और उनकी रानी का द्वृत्तान्त देते हुए युधिष्ठिर को समझाया कि वे संयम से विरत हों। संयम ऊपर की इज़जा-वाले जनक को उनकी रानी के समझाने की कोशिश की। रानी ने धन का महत्व बताते हुए कहा कि तथाकथित साधु पुरुषों की जीविका का आधार भी दाताओं का अन्त ही है। जो सरल मायासे स्वार्थ का ल्याग करता है और सुख में आसक्त नहीं होता उसे ही भिक्षु समझाना चाहिए। हृदय का कपाय (दोष) द्वार होना ज्यादा महत्वपूर्ण है, न कि, कपाय वस्त्र।

भीमसेन ने युधिष्ठिर को समझाया हुए इस बात पर जोर दिया कि उन्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। कर्म से ही सिद्धि मिलती है। विश्व में सब अपना-अपना कर्म करते हैं, अत: युधिष्ठिर को भी अपने योग्य कर्म करना चाहिए। (अध्याय १०)

नकुल ने कहा—वेदों के जाती ब्राह्मणों का कहना है कि गृहस्त्य-आश्रम सब आश्रमों से ऊँचा है। गृहस्त्याश्रम के सुख-भोगों को विना जाने जो बान-प्रस्थ बन जाता है, इसे तामस त्याग कहते हैं। राजन! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषों ने चारों आश्रमों को (विवेक की) तराजू पर रखकर

60. शांतिपर्व अध्याय १५ (विशेषतः श्लोक ३-५, १२, २६-३०)
61. अध्याय ६ (विशेषतः श्लोक २७, ३०, ३४)
तीला था; गृहस्थाश्रम शेष लीनों के बराबर, बल्कि उनसे भारी सिद्ध हुआ। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि यही महर्षियों का मार्ग है और यही लोक-वेतायों की गति है। जो ऐसा भाव रखता है वही त्यागी है। अभिमान को छोड़कर त्यागपूर्वक किया हुआ कर्म महानु फलदायक होता है। जो राजा प्रभाद के कारण प्रजा को छोड़ेंगे अर्थात से शरण नहीं देता उस राजा को मृत्तिकाणु कलियुग कहते हैं।\[13\]

सहदेव ने कहा—'बाह्य विषय को छोड़ने से सिद्ध नहीं होती; समान त्याग कर अनासक्त भाव से पृथ्वी का शासन करते वाले राजा को धर्म तथा सुख की प्राप्ति होती है। मृत्यु और अमृत हमारे ही भीतर है; जो सबके भीतर विराजमान परमात्मा को देखते हैं वे महानु भय से मुक्त हो जाते हैं।\[13\]

भूति देवस्थान ने युधिष्ठिर को यह करने की राय देते हुए समझाया—जब मनुष्य मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी के साथ द्रोह नहीं करता और किसी चीज की अभिलाषा नहीं करता, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। कुछ लोग यह की प्रशंसा करते हैं, कुछ दान की और कुछ संयम की; कुछ प्रजाओं के परिपालन तथा राज्य की प्रशंसा करते हैं और कुछ एकांत ध्यान की। किन्तु इन सबकी आलोचना करके विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि जो प्राप्तियों से बैर न रखते हुए अपने धर्म का पालन करता है, वही श्रेष्ठ है।\[14\]

व्यासजी ने अरुण आदि का समयन्त्र करते हुए कहा—युधिष्ठिर! तुम शास्त्र के अनुसार विविधपूर्वक स्वस्थम का ही आचरण करो; तुम्हारे लिए गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास का विधान नहीं है। देवता, पिता, अतिथि, भूयागण, पशु-पक्षी सब गृहस्थों से ही पालित होते हैं, अतः गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है।\[14\] क्षत्रियस्वरम को देखते हुए भी तुम्हें राज्य के लिए रक्षना चाहिए।

62. अध्याय १२ (विशेषत: श्लोक ६, ६, १२-१४, १७, २६)।
63. शालिपर्व अध्याय १२ (श्लोक १, ३, ५, ११)।
64. अध्याय २१ (श्लोक ५, ६-१०)।
6५. अ० २३ (श्लोक ३-६ और आगे)।
व्यासजी ने इस सिलसिले में संख्या और स्थिति का इतिहास सुनाया। अगले चरण के व्यास ने युधिष्ठिर को इस प्रकार समाधाया—राजा के धर्म प्रजाजनों का पालन करना ही है। धर्म का अनुसरण करनेवाले लोगों के लिए सदा धर्म ही प्रमाण है। पांढर! तुम अपने धर्म में वर्तमान रहे हो, तुम क्यों शोक कर रहे हो? राजा का यह कर्तव्य ही है कि वह धर्म-श्रेष्ठों का वध करे, सुपार्वों को दान दे और धर्म के अनुसार प्रजा की रक्षा करे। (अध्याय 32, 2, 8, 9)

युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म ने इस प्रकार कर्तव्य-पालन की शिक्षा दी—राजन! दान, अध्ययन और प्रजापालन, यही आपके लिए धर्म है। कोई काम देखने में छोटा होने पर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान ही है। अर्कम में करं मशाभ है; कर्म न करनेवाले से बड़कर दुसरा कोई पापी नहीं है। राजन! भय हो रहे हुए मनुष्य जिसके पास पत्थरचक्र क्षण भर के लिए भी भरी-भरी शांति पाता है, वह हम सब में सबसे अधिक स्वर्गजयी अर्थात् स्वर्ग का अधिकारी है—यह में तुमसे सत्य कहता हूँ।

(तात्पर्य यह कि राजा भय से रक्षा करता है, उसका यह धर्म बहुत ही अच्छा है।) तुम राजा बने रहो, सज्जनों की रक्षा करो और दुष्टों का संहार; इस तरह स्वर्ग को प्राप्त करो। तात! जैसे सब प्राणी में ज्वाला के और पत्थर स्वर्गजयी फलवाले वृक्ष के सहारे जीते हैं, उसी तरह सज्जन लोगों के साथ तुम्हारे सुहुद्ध तुम्हारे आभार में रहकर जीवन-निर्वाह करें।"

राजधर्म और कूटनीति

हम वह चुके हैं कि महाभारत में स्वर्गर्म के नाम पर मुख्यतः क्षत्रिय धर्म का ही विवरण दिया गया है। जहाँ-तहाँ युधिष्ठिर आदि को शिक्षा देने के बहाने भी क्षत्रिय अर्थात् राजा के धर्म की चर्चा हुई है। शान्तिपव में भीष्म

66. अध्याय ७५।२५, २६, ३४—३६।२६ में श्लोक की बृहदेश पंक्ति इस प्रकार है—'क्षत्रियायक्ष्यमवो न पापियोपत्यकर्मण:।'
भारतीय संस्कृति

ने विशेष रूप से राजा के कर्तव्यों का निर्देश किया है। साथ ही यह भी बताया है कि राजा किस प्रकार शत्रुओं पर विजयी हो सकता है, और अपने राज्य का विस्तार कर सकता है। पाश्चात्य विचारक हृदिकोट की मान्यता महाभारतकार ने राजा से हीन आदित्य समाज का बड़ा खराब चित्र खींचा है। पुराणों में राजा के बिना प्रजाएँ नष्ट हो गयीं, उन्होंने एक-दूसरे को बैठे ही खा बढ़ा जैसे मछलियां एक-दूसरे को खा जाती हैं। तब लोगों ने इकट्ठे होकर यह तय किया कि वे एक राजा चुनें। उन्होंने मनु को राजा बनाना चाहा। मनु ने कहा कि वे राज्य-जैसे कठिन काम से बहुत डरते हैं, इसलिए राजा नहीं बनना चाहेंगे; इस पर प्रजाओं ने कर आदि देने का आश्वासन देते हुए उन्हें राजा चुन लिया।

राजा को चाहिए कि पहले अपने ऊपर विजय प्राप्त करे, फिर शत्रुओं पर। शत्रु के नगर, बगीचों आदि में अंधे-बहरे बने हुए गुप्तचरों को रखे। अधिक बली राजा के राज्य को शस्त्र, अन्न, विष आदि से पीड़ित करे, राजा तथा अमाव्यों के बीच झगड़ा उत्पन्न कर दे, किन्तु जहाँ तक हो युद्ध न करे। नागरिकों को बैठे ही देखे जैसे अपने पुत्रों को।** प्रश्न है, काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण? उत्तर है, निस्संदेह राजा ही काल का कारण है।** राजा धर्म के आचरण के लिए होता है, न कि कामोपभोग के लिए। जो राजा धर्म का आचरण करता है वह देवता बनने की योग्यता संपादित कर लेता है। धर्म के बढ़ने से सबकी बृद्धि होती है, और उसके ह्वास से सबका ह्वास; अतः धर्म का लोप न करे।**

शान्तिपर्व के अध्याय १२० में राजधर्म का सारांश इस प्रकार प्रकट

६७. शान्तिपर्व अध्याय ६७, श्लोक १५, १५, २२, २३।

६८. शान्तिपर्व अध्याय ६१४, ६, ११, २२, २३, २७।

६९. कालो या कारण राजा राजा वा कालकारणः

इति ते संसायो मा भूध्राजा कालस्य कारणम्। शान्तिपर्व ६१७६

७०. शान्तिपर्व ६०१३-४, १७।
किया गया है—सत्य के लिए सबसे बड़ा धर्म समस्त प्राणियों की रक्षा करना है। जैसे मोर विचित्र पंख धारण करता है, वैसे ही राजा को समय-समय पर अनेक रूप धारण करने चाहिए। मध्यस्थ भाव से रहते हुए राजा तीक्ष्णता, कुटिलता, अभयदान, सत्य, सरलता आदि का अवलंबन करे। उसे अपने विचारों को गुदा रखना चाहिए, वह मधुर वचन बोले, धीमान बने और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे; हमेशा अपराधियों को दण्ड देने को उचित रहे, प्रमाद न करे, लोगों का आय-व्यय देखकर उनसे घन ले। शान्तियों के दोषों को प्रकटित करे और उनके पशु के लोगों को फोड़ ले। राज्य की वृद्धि का ध्यान रखे, अपनी वृद्धि से मन को वश में करे, इससे राज्य की वृद्धि के सहयोग से कर्तव्य का निश्चय करे। राजा में दूसरों से काम लेने की योग्यता होनी चाहिए, वह प्रजा को कर्तव्य करने की प्रेरणा दे और अकर्तव्य करने से रोके। प्रजा को अपना समश्रेणवाला, प्रजा में ममता रखनेवाला राजा परम के समान अवचाल बना रहता है। राजा को चाहिए कि मधुरभाषी, निष्कलंक, निराकुल, निरोध, शिशुसिद्ध एवं जितेश्वर लोगों को अपने गार्धों में लाये। जिसका हर्ष और कोट्ठ कभी निष्कल नहीं होता, जो स्वयं ही सारी कार्यों की देखभाल करता है, जिसके पास आत्मविश्वासस्वीकार कोष है, उसके लिए यह पृथ्वी ही धन देनेवाली बन जाती है। राजा को चाहिए कि प्रजा पर अनुग्रह करते हुए ही उससे कर बसू चरे, प्रजा को सताकर नहीं। भिंता, तप, प्रचुर धन ये सब उद्योग से प्राप्त होते हैं, जल्द उद्योग ही मुख्य है। राजा को चाहिए कि ऐसे धार्मिक पुरुष को मन्त्री बनाये जो विविध विषयों का अध्ययन होता है। उसके लिए यह उचित नहीं कि किसी लोगी व्यक्ति को अपने काम में नियुक्त करे। ॥

आपदपर्म

महाभारत में धर्म-समवेंद्री चित्तन का आधार बड़ा व्यापक है। लेखक

७७. शान्तिपर्व अध्याय १२० (श्लोक ३ से ५० तक विविध)।
नंतर जैसी धर्म के विषय में है, वैसी ही उससे संबंधित अनेक गुरुत्वियों में भी। उससे कार्य-अकार्य से संबंधित जटिलताओं तथा कठिनाइयों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया है। जगह-जगह यह रोचक प्रस्ताव भी उठाया गया है कि आपत्तिकाल में विभिन्न लोगों का धर्म क्या होता है। एक जगह भीष्म द्वारा कहलाया गया है कि आपत्तिकाल में अपनी जीविका नष्ट होने पर ब्राह्मण कार्य-धर्म से निर्वाह करे, यदि वह भी संभव न हो तो वैष्णव-धर्म के अनुसार ब्रह्मी और गोरक्षा का आश्रय लेकर अपनी जीविका का प्रबन्ध करे।

आपत्तिकाल में राजा को बया करना चाहिए? इसके उत्तर में भीष्म ने कहा—आपत्ति के समय भी प्रजा को दूःख देकर धन वसूल नहीं करना चाहिए। फिर भी सक्रियकाल में राजा निधन प्रजा से भी यथासाध्य धन लेकर अपना खजाना बढ़ायें; अव्यक्त समय आने पर धन के द्वारा प्रजा पर अनुग्रह करें। पहले कोष-संग्रह कर लेने पर ही राजा के लिए धर्म-पालन का अवसर प्राप्त होता है; बात यह है कि जीवन-निर्वाह का साधन प्राप्त करना धर्म से भी बड़ा है। आपत्तिकाल में अधर्म भी धर्म बन जाता है, ऐसा कुछ लोगों का मत है, किन्तु विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि आपत्तिकाल में भी धर्म के विरुद्ध आचरण करने से अधर्म होता ही है।

आपदग्रस्त मनुष्य के लिए कौन-सा रस्ता नहीं है? कौन के लिए कौन सा रास्ता बुरा है? मनुष्य जब आपत्ति से घिरा होता है, तब वह बिना दरबारों के भी माना निकलता है। इस संसार में किसी की भी ऐसी वृत्ति नहीं है जो हि से शृण्य हो—तपस्वी मुनियों की भी नहीं। प्रजापालन की इच्छा रखनेवाला राजा भाग्य के महरोत्रे ही निर्वाह नहीं कर सकता। सक्रियकाल राजा की रक्षा करना प्रजा का कर्तव्य है। सक्रियकाल राजा विष्णुपुर्वक धनवानों से धन प्रहार करे।

अध्याय १४१ में आपदाधर्म के उदाहरण के रूप में विश्वामित्र मुनि

७२. महाभारत अध्याय ४५, २।
७३. बहुरि, अध्याय १३०५, १३, १५, १६, २२, २६, २८, २६।
बौद्धिक काल और रामायण-महाभारत-युग

और चाङ्दन के संवाद का उल्लेख है। वेतुतयुग बीत गया था, द्वारका का आरम्भ हो रहा था, प्रजाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी थी और वर्षा न होने से अकाल पड़ रहा था; लोग भूखे आतंक कर रहे थे और कहीं कोई गुंडागर्दी हो रही थी। ऐसे समय में भूखे विश्वामित्र एक श्वाप (चाङ्दन) के घर में घुसकर कुटे की जाँच चुराने की कोशिश करने लगे। चाङ्दन ने उन्हें समझाने की कोशिश की कि उनके लिए कुटे का मांस खाना वर्जित है, और चोरी करना तो निषिद्ध है ही। इस पर विश्वामित्र ने कहा—

यथा यथैव जीवे तद्भव कर्तव्यमहेलया,
जीवितं मरणाल्पं जीवनं धर्ममवाप्नुयातु।

शान्तिपर्व, १४१।६५

‘जीवन जिस प्रकार सुरक्षित रहे, उस प्रकार का प्रयत्न बिना अव्यवस्था के करना चाहिए। मरने से जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरुष पुनः धर्म का आचरण कर सकता है।’ अन्यत्र महाभारत में विजयकु मे द्वारा कहलाया गया है कि आत्मा के लिए समस्त पृथ्वी को त्याग देना चाहिए। आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से निवृत्तियाँ अर्थात् पतियों की रक्षा करनी चाहिए और अपनी रक्षा धन तथा मित्रों, दोषों से करनी चाहिए?

यह घोर व्यक्तिवाद है।

महाभारतकार जहाँ धर्म के बड़े पक्षपाती हैं वहाँ कूटनीति के दावेदावों से अनिवार्य नहीं हैं। आदिपर्व में घूर्णास्ते के पुछे ने दामी कर्णक ने विजयी होने के लिए राजा में जितु कुंश देना आवश्यक बताया है उनका विवेचन हृदय को दहला देनेवाला है। कर्णक का प्रवचन यथार्थ दृष्टि पर आधारित है, किसी आदर्शवाद पर नहीं। उसकी भयभीत कूटनीति के कुछ नये नमूने द्रष्टव्य हैं—

७४. आपवर्मध्य धनम रत्नदारान्तं रत्नदेवनेरपि,
आत्मानं सत्ताम् रत्नदारांरपि धनरेरपि। उद्योगवर्म ३७, १५।
भारतीय संस्कृति
नित्यमुद्धन्वः स्यापित्यं विवृत्तपौरुषः;
अच्छीदिश्रिष्टि दिती स्यात्सरेषा विवरानुगः।
वद्भवेव प्रशंसान्ति शत्रुःमापकारिणाम्,
नावजयो रिपुस्तात दुर्वर्लोपिप कथवचन।
दया न तत्सिन्नु कर्तव्या शारणागत इत्यूत,
निनिश्विर्गे हि भ्रवति न हृताज्जायते भयम्।
वहेर्दित्रं र्थयेन यावकालस्त्य पर्यंतः,
ततः प्रत्यागते काले भिन्नाद्वै घट्टिवासभन्ति।
भयेन भद्येद्भीर्ख, शूरसम्भजिकर्मणाः
लुघचर्यां प्रदानेन समं शृङ्गम् तथौजस।
शपयेनायपरि हृणार्धर्धारेन वा पुनः
विषेश मायाय वापि नोपेक्षेत कथवचन।
प्रहृविस्मृति प्रियं बृयातू प्रहर्षस्ति भारत,
प्रहृत्यां क्रपायिते शोचुये च खेति च।
न विश्वसेदेवविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेतु
विश्वासादू भयमुपपं मूलान्यम् निक्षिप्ति।
वाचा भृगुस्फिन्नित: स्याद्वुद्येन तथा शुरुः।
निर्मत्तवूमिभिभाषी स्यात् सुप्टो रोवद्रय करमणे।
नाच्छित्वा परममाणि नाजुक्तं कर्मं दार्शमः
नाहत्वा मतस्याठीव भाप्योति महती भ्रवम्।
भीतवतु संविज्ञातव्यं यावू भयमनागतमः
आगतं तु भयं दृष्टव्य प्रहृविवसमीतवादः।
दण्डनोपनां शत्रुमनुगृहण्याति यो नरः
स श्रीयुत्सुपुपृणायादू गम्ममश्वति यथा।
आदिपथः १३९ (सलो ६ से ८३ तक विविध)
‘राजा को सवंद्र वंद देने के लिए उद्धत रहना चाहिए और सदा ही
पुष्पार्थ प्रकट करना चाहिए। राजा अपना छिद्र–अपनी दुर्बलता–प्रकट न
होने दें; परन्तु हृदरों के छिन्न या दुर्बलता पर सदा ही वृद्धि रखें और यदि 
शान्तियों की निर्बलता का पता चुरा जाय तो उन पर आक्रमण कर दें। अपना 
अनिष्ट करते-वाले शान्तियों का वध कर दिया जाय, इसी की नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा 
करते हैं; शान्ति दुर्बल हो तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे। यह दुर्बल 
मेरी शरण में आया है; यह सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिए; 
शान्ति को मारे देने से ही राजा निर्भय हो सकता है। जब तक समय बदलकर 
अपने अनुकूल न हो जाय, तब तक शान्ति को कंधे पर बिठाकर दोनों पड़े तो 
ढोये भी, परन्तु जब अपने अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट 
कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ दालते हैं। डरपीक को भय 
दिखाकर फोड़ ले तथा जो अपने से शूर हो उसे हाय जोड़कर वश में करे, 
लोभी को धन देकर तथा विराज और कमजोर को पराक्रम से वश में करे। 
सौगंध बाकर, धन अथवा जहर देकर या घोरे से भी शान्ति को मारे डाले; 
किसी तरह भी उसकी उपेक्षा न करे। शान्ति पर प्रहार करने से पहले और 
प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले, शान्ति को मारकर भी उसके 
प्रति दया दिखाये, उसके लिए शोक करे तथा रोये और आँखें बहाये। जो 
विद्वासपात नहीं है, उस पर कभी विद्वास न करे, परन्तु जो विद्वासपात है, 
उस पर भी अन्त विद्वास न करे, क्योंकि अन्त विद्वास से उत्पन्न होनेवाला 
भय राजा के जड़नूत का भी नाश कर दालता है। राजा बालचीत में अत्यन्त 
विनयशील हो, परन्तु हृदय छुरे के समान तीखा बनाये रखे, अत्यन्त भयानक 
कर्म करने के लिए उद्वत्त हो तो भी मुक्तकराक ही वार्तालाप करे। राजा 
मछलियों को भीति दुर्सों के मर्म विदीर्ण किये विना, अत्यन्त कूर कर्म किये 
विना तथा बुद्धि के प्राण लिखे विना भारी सम्पत्ति नहीं पाता। जब तक अपने 
उपर भय आया न हो, तब तक घरे हुए की भीति उसको ठालने का प्रयत्न 
करता चाहिए, परन्तु जब भय को सामने आया देखे, तब निष्ठा होकर शान्ति 
पर प्रहार करता चाहिए। जो मनुष्य ढंग द्वारा वश में किये हुए, शान्ति पर दया 
करता है, वह मौत को ही अपनाता है—ठीक उसी तरह जैसे खच्चरी गभर 
के रूप में अपनी मृत्यु को ही उदर में धारण करती है।' पाठकों को यह
भारतीय संस्कृति

उद्धरण लम्बा प्रतीत होगा, किन्तु मूल का बक्तव्य इससे कहीं अधिक बड़ा है। उसे उद्घृत करने में हमारा प्रयोजन यही दिखाया है कि महाभारतकार तथाकथित कूटनीति से भली-भांति परिचित थे, यदापि वे उसके समर्थक नहीं थे। मंत्री कृष्ण की यह नीति, जिसका दुर्योधन तथा धृतराष्ट्र ने भी प्रकारात्मक से अनुवर्तन किया, महाभारत के युद्ध का कारण हुई। किन्तु भारतवर्ष में विजयी पांडव हुए, दुर्योधन नहीं। इस प्रकार महाभारतकार ने यह शिक्षा देने का भगीरथ प्रयत्न किया कि लोकिक संरचना में भी अंतर: धर्म की ही विजय होती है, अधर्म की नहीं। कुल मिलकर अर्थ और काम की सिद्धि भी धर्म से ही हो सकती है, इसलिए धर्म का ही सेवन करना चाहिए—

धर्मदर्शन कामकाज स धर्मः किंत्र सेव्यते।

प्रतीत होता है कि महाभारत की संबद्धता में हिन्दू जाति ने सभ्यता के पूरे एक युग को समेट लिया। व्यक्ति तथा समाज के जीवन में जितनी तरह के उलट-फेर, भाग्य के विवर्तन तथा संघर्ष हो सकते हैं, वे सब महाभारत में भर्तित नर-नारियों के जीवन में घटित हुए। युधिष्ठिर के राज्य में कुछ दिनों रहकर धृतराष्ट्र गांधारी व कुंती के साथ वन को चले गये। बहुत प्रयत्न करने पर भी कुंती अपने पुत्रों की भी-संपत्ति का भोग करने के लिए नहीं चली। बाद में उक्त तीनों व्यक्तियों की मृत्यु आय लग जाने से हुई। सब प्रकार से गुहाओं की सेवा में निरत रहनेवाले पांडवों के लिए इससे बढ़कर कष्ट की वात क्या हो सकती थी। जिस कुंती ने विदुला तथा उसके पुत्र के आक्षण का उदाहरण देकर पांडवों के पास उत्तेजक संदेश भेजा था—यह संदेश कि वे अपनी ब्रह्मी हुई राज्यरक्षक के लिए वीरतापूर्वक लड़ें—उसी कुंती ने सुखभोग की कामना का तिरस्कार करके विजयी पुत्रों के साथ रहने से इनकार कर दिया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन जैसे पुत्रों की जननी अनाय की भांति वन की अन्त में जल जाय, इससे बढ़कर कष्ट की वात क्या हो सकती है। धृतराष्ट्र, कुंती आदि का, वृहस्पतियों का, और अंत में स्वयं पांडवों का विनाश दिखाकर महाभारतकार पाठकों की चेतना-
बैविक काल और रामायण-महाभारत-युग

पर जीवन और उसकी विजयों तथा सुखों की नश्वरता का अभिन चिह्न
छोड़ देते हैं ।

इसे अप उपायों के वैराग्यवाद का प्रभाव कैसे सकते हैं । किंतु,
जैसा कि हम देख चुके हैं, महाभारत के जीवन-विवेक की परिणति इस कॉटि
के निराशावाद में नहीं है । महाभारतकार के इस विवेक का प्रभावशाली
प्रतिपादन भगवद्गीता तथा शांतिपर्व के अनेक स्थलों में हुआ है । इस विवेक
का मूल सूत्र यही है कि मनुष्य को व्यक्तिगत हानि-धारा के प्रति उदासीन
होकर लोक-कल्याण के लिए धर्म-सम्मत व्यवहार करना चाहिए । गीता में
ही नहीं, जनक की निम्न उक्ति में भी यह विवेक पूर्णतया प्रतिफलित है—
अनसं वत भैं वितं वस्त्र भैं नाटि किन्नन,
मिथिलायां प्रदीप्तायां भैं में दश्ति किन्नन । शांति० १७, १९

‘मेरा ऐसा अन्त है, क्योंकि मेरा कुछ भी नहीं है; यदि सारी मिथिला
जल जात, तो भी मेरा कुछ भी नहीं जलता.’ यहाँ मिथिला से ताल्पर है
राज्यहूप ऐसा; कोई भी श्रेष्ठ राजा अपनी प्रजाओं के घर-द्वार जलने
के प्रति उदासीन नहीं हो सकता ।

यथार्थ दृष्टि

रामायण-महाभारत में मानव-जीवन संबंधी यथार्थ के ज्ञान का सर्वत्र
परिचय मिलता है । रामायण के अयोध्याकांड में कौशल्या तथा कौण्डीये के
संबंध-वर्णन में, और राम द्वारा सीता आदि को दिये उपदेश में मानव-प्रकृति
का सूक्ष्म परिचय पाया जाता है । एक तरह से कहा जा सकता है कि महा-
भारत की कथा मूलतः ई०प्या तथा वैर-प्रतिशोध के विकारों की कथा है ।
दुर्योधन में ई०प्या थी जिन्हें पांडवों का निर्वासन किया, अपने अपमान का
बदला लेने के लिए उनसे हीपदि पर अत्याचार किया, जिसके प्रतिशोध के
लिए महाभारत का युद्ध हुआ । महाभारत के निर्माण प्रवक्ता विदुर मानव
प्रकृति के भी अच्छे जाता हैं । निम्न वक्तव्य उनकी मानव-प्रकृति संबंधी
जानकारी का श्रेष्ठ निर्देशन है—
भारतीय संस्कृति

एकः क्षमावतः दोषो द्वितीयो नोपपचते,
यदेनं क्षमा युक्तमशक्तं मन्यते जनः।
द्राविमो पुरुषव्याध्रः परस्त्रयाध्यायारिः,
स्त्रियः कामिनकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः।
द्राविमो कण्ठको तीक्ष्णी शारीरपरिशोषिणी,
यश्वाध्यनः कामयते यश्च कुप्याल्लीनोवः।
पञ्च त्वानुगमिष्यति यत्र यत्र गमिष्यति,
मित्राण्यमित्रा मध्यस्या उपजीवोपजीविनः।

उद्धोगपर्व, ३१४८, ५५, ५६, ७६

'क्षमाशील पुरुष में एक ही दोष पाया जाता है, वह दोष यह है कि उसे लोग असमर्थ समझ लेते हैं। स्त्रियाँ
इसी दोष को चाहे गये पुरुष की कमान नहीं करती हैं और जन-साधारण,
इसी के द्वारा पूजित मनुष्य का आदर करते हैं—यह दो प्रकार के लोग इसे पर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं। जो निर्धारण होकर भी बहुमूल्य वस्तु की
इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी कोष्ठ करता है—यह दोनों ही अपने लिए
विद्वान कार्टों के समान हैं एवं अपने शारीर को सुखानेवाले हैं। आप (राजा)
जहाँ-जहाँ जायेंगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आध्यात्मिक देनेवाले तथा
आध्यात्मिक पानेवाले, वे पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे।'

शांतिपर्व में राजधर्म के साथ-साथ राजा के लिए विजय के उपाय
बतलाते हुए भीष्म ने इस बात का पर्याप्त परिचय दिया है कि वे राजाओं
के बीच होनेवाले संघर्ष के यथार्थ से परिचित हैं। अनुशासन-पर्व में मुख्यिक्षिप्त
के यह पूछते पर कि आजकल मनुष्य सौ वर्ष की आयु क्यों नहीं पाता, भीष्म
ने दीर्घायु पाने के तरीके बतलाये हैं, जो शारीरिक तथा मानसिक व्यवस्था
के यथार्थ नियमों पर आधारित हैं। इन संबंधों में भीष्म यह नहीं कहते कि
युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए किसी देवता को प्रसन्न करके दिव्य अस्त्र
तथा शक्तियों प्राप्त कर लेनी चाहिए; न वे विश्वास के अयोग्य लम्बी उम्र
का ही उल्लब करते हैं। इन स्थलों में भीष्म की कल्पना तथा बुद्धि पूर्णतया यथायथ के नियमों द्वारा शासित है।

किन्तु दूसरे वर्णों प्रसंगों में रामायण और महाभारत दोनों अविश्वसनीय चमत्कारों तथा अलौकिक घटनाओं के वर्णों से भरे पड़े हैं। विशेषतः इन महाकाव्यों के युद्ध-वर्णन बड़े ही काल्पनिक हैं। रामायण में विराघ, कबन्ध, कुंभकर्ण आदि के वर्णन बड़े अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, और वाल्मीकि इन तथा दूसरे नाट्यकाव्यों में से प्रत्येक का ऐसा विवरण देते हैं मानो उनसे बड़कर वीर योद्धा कोई दूसरा नहीं है। इसी प्रकार महाभारत में समय-समय पर द्रोण और भीष्म, कर्ण और अर्जुन, भीमसेन और दुर्योधन सभी की अतिरिक्त प्रशंसा की गयी है। इस अतिरिक्त का एक फल यह होता है कि पाठकों की अनुपात-भावना कुंजित हो जाती है, और मुख्य नायक या नायकों पर दृष्टि केन्द्रित नहीं हो पाती। रामायण-महाभारत द्वारा प्रकाशित युद्ध-वर्णन की यह परंपरा एक सीमा तक बाद के महाकाव्यों में भी निभायी जाती रही, यथापि उन काव्यों में वे वर्णन बहुत छोटे तथा महत्त्वपूर्ण नहीं बने।

उक्त काव्यों में दूसरी तरह की आश्चर्यजनक व लोमहस्क घटनाएं भी प्रचुरता से समावेशित हुईं। अयोध्याकांड के बाद ही रामायण में ऐसी घटनाओं की बहुत शुरू हो जाती है, जिससे उसका मानवीय पक्ष गौण बनने लगता है। महाभारत में तो लेखन-कार्य ही गणेश द्वारा शुरू किया जाता है और बाद में अनेक देव-देवताओं, नायगों तथा दूसरे अद्भुत जीवों के अनगिनत आश्चर्य जगह-जगह सुनाये जाते हैं।
द्वितीय खण्ड
भारतीय संस्कृति : उत्कर्ष-काल.
दूसरा अध्याय
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संभोग

विषय-प्रवेश

कालिदास, भारवी तथा माध भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष-काल के गायक हैं। प्रश्न है, सांस्कृतिक दृष्टि से किसी युग की उत्कर्ष-काल कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है? किसी जातीय चेतना के इतिहास में युग-विशेष अथवा अवधि-विशेष को उत्कर्ष-काल मानने की क्या कसौटी है? क्या किसी जाति के उत्कर्ष का मानवता उसकी राजनीतिक शक्ति व सत्ता होती है? अथवा उसकी भौतिक समृद्धि या संपत्ति? क्या किसी जाति के सांस्कृतिक उत्कर्ष का उसकी राजनीतिक स्थिति से कोई आवश्यक लागत होता है? अथवा यह कहना चाहिए कि जातिविशेष के सांस्कृतिक उत्कर्ष का समय बहू है जब वह जाति विभिन्न विचारों के क्षेत्रों में प्रगति कर रही हो।' इस संदर्भ में विचारों से मतलब विभिन्न विज्ञानों तथा दर्शन सभ्य से हो सकता है।

प्रसिद्ध युनानी विचारक अरस्तू ने अपनी ‘मेटाफिजिक्स’ पुस्तक में एक जगह कहा है कि ‘गणित-संबंधी कलाओं की स्थापना मिस्स देश में हुई, क्योंकि वहाँ पुरातात्त्विक जाति के लोगों को अवकाश सृपलित था।’ विशुद्ध रूप में सांस्कृतिक विचारों के होते हैं जिनका भौतिक अवतार की जहरता से संबंध नहीं होता—जो सिर्फ चित्र के विनोद एवं व्यक्तित्व के उत्कर्ष-संपादन का साधन होती है। जिस मनुष्य को अवतार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जितना ही अधिक व्यक्ति रहना पड़ता है, वह सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही कम भावनाशाली है। जो बात व्यक्तियों पर लागू होती है वहीं जातियों

9. मेटाफिजिक्स, 1, 9, 689।
भारतीय संस्कृति

पर भी। जिस देश या जाति को जिन्दा रहने के लिए इतनी शक्ति व समय
खर्च करना पड़ता है कि उसे उन निःशुरुवारी चित्रों के लिए, जो मात्रा
व्यक्तित्व को सुभाष एवं परिणाम मनानेवाला है, अबकाश नहीं मिलता, वह
सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई कही जायगी। इसी प्रकार वह जाति भी,
जो हमेशा संपत्ति के उत्पादन के पीछे पड़ी रहती है और काव्य-शास्त्र की
चर्चा में दिलचस्पी नहीं रखती, अपनी सारी समृद्धि और शक्ति के बावजूद
असंस्कृत या कम संस्कृत मानी जायगी।

तात्पर्य यह कि संस्कृत व्यक्ति बहु है जिसके मन-बुद्धि केवल उपयोगिता
के धरातल पर संचरण नहीं करते; अपितु जीवन की उपयोगिता-मूलक
समस्याओं का नृत्याधिक हुल करके, ऐसे प्रस्तुतियों से उलझते हैं जिनका संबंध
व्यक्ति से सौंदर्य एवं चेतना के परिष्कार से है। किसी जाति के सांस्कृतिक
चेतना उन संभावित लेखकों, विचारकों एवं कलाकारों में अभिव्यक्ति पाती
है जो विश्वद उपयोगिता के दायरे को लाँचकर ऐसे प्रस्तुतियों एवं अनुभवों से
उलझते हैं जिनका संबंध मानवीय व्यक्ति को जानने-महसूस करने की
क्रियाओं से है। यह नहीं कि संस्कृत व्यक्ति जिन्दगी की आवश्यकताओं तथा
जीवन-यात्रा के उपयोगिता-मूलक पक्षों से अछूता रहता है; यह भी नहीं कि
संस्कृत जाति उपयोगिता के क्षेत्र में सफल एवं प्रभावपूर्ण प्रतिक्रियाओं
नहीं करती। वस्तुतः जो जाति जीवित रहने की समस्याओं का उचित हुल नहीं
कर सकती, वह अपने सदस्यों, अपने प्रतिभाशाली सदस्यों के लिए भी,
ऐसा अवकाश प्राप्त नहीं कर सकती जो सांस्कृतिक प्रयत्नों एवं उपलब्धियों
की आवश्यक शर्त है। सांस्कृतिक दृष्टि से उनका जाति उपयोगिता कार्य-कलापों
के लिए आवश्यक समय वह शक्ति का व्यय करती हुई भी उनके संबंध में
अनावश्यक चर्चा नहीं करती—या यों कहिए कि वैसी चर्चा में सच नहीं
लेती। इसके विपरीत उसकी अभिशृंखल ऐसे चर्चाओं में होती है जिनका
विषय उसके सदस्यों का सौंदर्य-बोध, नीति-बोध एवं तत्त्व-बोध है।
फलतः उस जाति के प्रिय नेता तथा प्रवक्ता इस प्रकार की चर्चाओं में
लगे रहना संभव पाते हैं।
रामायण-महाभारत के रचिताओं में नीति-बोध तथा धर्म-बोध से संबंधित विचारों की कमी नहीं है; उनमें धर्म-चर्चा का भी विशेष चाह है। तथापि उनका मन सौंदर्य-चर्चा में उतना नहीं रमता। इस दृष्टि से आदिकवि महाभारतकार से कुछ अच्छे हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी पूर्णतया एक कवि की दृष्टि नहीं है। रामायण और महाभारत दोनों के नायकों के जीवन पर संगीत की चन्दन छाया है। यह स्थिति उक्त महाकवियों की दृष्टि एवं संबंधित उप-योगितावादी है। उनके प्रिय नायकों का प्रधान भ्रष्ट है जो यह हुए राज्य की प्राप्ति, अपने छोटे हुए अधिकार को वापस लौटाना। उनकी समस्त चित्ताएं एवं प्रयत्नों का केन्द्र है अपने पैतृक अधिकार को पुनः हस्तगत करने का प्रश्न। उनकी यह चित्ता इतनी गहरी है कि वे उन जीवन-कथाओं के लिये, जिनका लक्ष्य मात्र सौंदर्य का आकलन अथवा सौंदर्य का संपादन है——जिन चित्ताओं की परिणति केवल सौंदर्य-बोध और उससे उत्पन्न आनन्द में है, अवकाश नहीं पाते। दौरान रिपूर लुंदरी है, वह बुद्धिमान तथा चिंतुली भी है, किन्तु पारंपरिक सौंदर्य से संघर्ष में इतना समय कहाँ जिसके अपनी वृत्तियों को उनमें केन्द्रित कर सकें। महाभारत में दिये गये विभिन्न वीरों के वर्णन भी उपयोगिता की दृष्टि से अनुमानित हैं। प्रत्येक ऐसे वर्णन प्रधान लक्ष्य पाठकों को यह बताना कि पुरुष-विशेष में लड़ने तथा शत्रुओं को जीतने की दृष्टि क्षमता है। महाभारत में नीति तथा धर्म से संबंधित प्रश्न भी संघर्ष के दृष्टि वातावरण में उठते हैं, जिन्हें धार्मिक व्यक्तित्व का आह्वानकारी चित्र प्रायो: कहाँ भी उपलब्ध नहीं होता।

इस अंतिम वक्तव्य को प्रभावित करने की आवश्यकता है। साहित्य की विशिष्ट दृष्टि से किसी नायक या नायिका के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि उसके व्यक्तित्व में ऐसा क्या है जो उसे प्रिय, प्रशंसनीय अथवा बद्रा के योग्य बनाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यही प्रश्न महत्वपूर्ण है। इसके विपरीत उपयोगिता की दृष्टि से इसरा प्रश्न महत्वपूर्ण होगा। यदि उपयोगिता का संबंध युद्ध-संबंधी हार-जीत से है तो पूछना होगा कि व्यक्ति-
बालको हृदय से निकलने लगते हैं। अनेक दिनों भर आपको इस भाव नहीं होता कि कौन से किसी ने इस काव्य को अपने नाटक में लिखा है। इसके बाद कहने लगते हैं कि यह कहानी अपने आप में है।

यहाँ के कवियों के द्वारा अनेक प्रतीत होता है कि उन्होंने इस काव्य का संस्कार नहीं लिया है। उन्होंने इस काव्य का उपयोग किया है जिसमें उन्होंने स्वयं की दृष्टि में लिखा है। इस त्योहार के दौरान, उन्होंने कविता का उपयोग किया है, जिसमें उन्होंने समय का उपयोग किया। इस तरीके के दौरान, उन्होंने कविता का उपयोग किया है, जिसमें उन्होंने समय का उपयोग किया।

यहाँ के कवियों के द्वारा अत्यधिक प्रतीत होता है कि उन्होंने इस काव्य का संस्कार नहीं लिया है। उन्होंने इस काव्य का उपयोग किया है, जिसमें उन्होंने स्वयं की दृष्टि में लिखा है। इस त्योहार के दौरान, उन्होंने कविता का उपयोग किया है, जिसमें उन्होंने समय का उपयोग किया। इस तरीके के दौरान, उन्होंने कविता का उपयोग किया है, जिसमें उन्होंने स्वयं की दृष्टि में लिखा है।
सीतार-बोध और जीवन-संप्रोग

माना जाता है, युद्ध का वर्णन आ ही नहीं सकता है। 'किराताजुँजुदीय' में अरुण तथा किरातवेशपाकार शिव के युद्ध का वर्णन है अवश्य, किंतु वह वर्णन पाण्डवों के संघर्ष का निजी अंग नहीं है। इसी प्रकार मायाच 'शिवशुभाराव' में भी युद्ध का लम्बा-चौड़ा वर्णन नहीं पाया जाता। इसके विपरीत इन सभी काव्यों में नायक-नायिकाओं के सीन्द्रों और उनके संयोग-वियोग के लम्बे वर्णन हैं। जिन पुस्तकों के वर्णन पाये जाते हैं उनमें कहीं-कहीं तपस्वी क्षेत्रियों तथा राजनीतिविशारद मंत्रियों आदि के वर्णन भी मिलते हैं। साथ ही विभिन्न कहानियों के, आदमी के, जल-विहार, मूगाय आदि के वर्णन भी उपलब्ध होते हैं।

व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने वाले प्रसारणों एवं स्वभाव तथा चरित्र की विशेषताओं पर इस युग के कवियों का विशेष ध्यान रहता है। वे भाषा, अलंकार, छंद आदि के प्रयोगों के प्रति भी बड़े सतत दिखाई देते हैं। वाल्मीकि के काव्य में इस सततता का प्रारंभ देखा जा सकता है। किंतु जहाँ वाल्मीकि की रचना में इस प्रकार की सततता अपवाद-रूप है, वहाँ उत्कृष्टकालीन कवियों में बहु नियम बना जाती है। महाभारतकार का उद्देश्य सिर्फ़ कथा कहना जान पड़ता है, उनके वक्तव्य की रीत का मुख्यतः कथा की रीत का ही प्रतिविम्ब है। महाभारतकार अपनी कथा प्रभावशाली दंग से मुनाना जानते हैं, किंतु उनका यह साक्षात उद्देश्य नहीं है कि कथा के विभिन्न प्रसंगों को रसालमक बनायें। जैसा कि हमारे संकेत किया था, द्रौपदि-स्वयंवर के प्रकरण में सबसे कम वर्णन द्रौपदि का हुआ है। महाकवि की दृष्टि का विषय वे राजा लोग अधिक हैं जो स्वयंवर में उपस्थित हुए हैं और सो भी इस दृष्टि से कि उनमें दीन कितना विश्वसनीय है। इसके विपरीत रघुवन्द के इन्द्र-मती-स्वयंवर का केंद्र स्वयं इन्दरति है, वहाँ आगत राजा ओं के व्यक्तित्व स्वयं इन्द्रमति की दृष्टि के माध्यम से उद्धारित होते हैं, और वे वहाँ तक महत्त्वपूर्ण हैं। जहाँ तक नायिका का रोचक जान पड़ते हैं। रामायण का सबसे रसालमक भाग अयोध्याकांड है। अवश्य ही रामायण का अयोध्याकांड विश्व-साहित्य में बेजोड़ है, किंतु वहाँ भी कवि की अभिव्यक्ति का मुख्य केन्द्र राम।
भारतीय संस्कृति

का माय्या-विपर्यय और उसमें निहित आदर्शावाद है। कवि की विभिन्न पात्रों में रचित है इसमें संदेह नहीं, किन्तु उसकी स्वयं वनवास की घटना में भी कम रचित नहीं है। अयोध्याकांड के बाद कवि की अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर कम मानवीय होती जाती है, और वह अतिमानव विचित्रताओं एवं अलौकिक घटनाओं में बहुत ज्यादा रस लेता दीख पड़ता है।

इसके विपरीत उत्कृष्ट-काल के कवि केवल घटनाओं के विवरण में प्रायः धोख़ा भी रचित नहीं लेते। उनके लिए कथानक और घटनाएँ बहुत-कुछ गोपन हो जाती हैं। विश्वुद्ध इतिवृत्तात्मक घटनाओं का उल्लेख करते हुए भी वे यह नहीं भूलते कि उनका प्रधान अध्यात्म साहित्यिक रस व चमत्कार की सृष्टि है। यदि और कुछ नहीं तो शार्मिक चमत्कार ही सही; कविगण इस बीच के लिए बड़े सावधान हैं कि उनकी कोई पंक्ति एकदम सपाट या चमत्कारशून्य न हो। राज्य करते हुए राजा दशरथ को दस हज़ार के लगभग वर्ष बीत गये, इस इतिवृत्तात्मक सूचना को देते हुए भी महाकवि कालिदास धोखे-बहुत चमत्कार का विवादन करना नहीं भूलते——

पृथिवी स्वातंत्रस्य पाकशासनतेजसः,
किंविधुमन्नूनः: शरदामयूँ ययो। रघुवंश, १०११

इन्द्र के समान रेतस्वी, बड़ी समृद्भिवाले राजा दशरथ को 'पृथ्वी का शासन करते हुए दस हज़ार से कुछ कम वर्ष बीत गये।' यहाँ वक्तव्य में चमत्कार लाने के लिए कवि ने कई अनुप्रासों का समावेश कर दिया है।

यों भी दशरथ की प्रसंगता में जो विशेषण लगाये गये हैं वे निरंतर नहीं हैं।

नवम सर्ग के अधिकांश भाग में कालिदास ने उत्तरवांछित छन्द का प्रयोग किया है और प्रत्येक छन्द के अंतिम चरण में यमक अलंकार का विवाद।

इसके फलस्वरूप अर्थवती उक्ति-योजना के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण शब्द-योजना का भी सत्संवेश हो सकता है, जिससे पाठक कई तरह का रस प्राप्त करता हुआ अग्रसर होता है।

उक्त की युगों की साहित्यिक मनोवृत्तियों का भेद देखने के लिए पाठक
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संभोग

तिन्न दो वर्णों की तुलना कर सकते हैं; रामायण में दिया हुआ अयोध्या-
नगरी का वर्णन और शिशुपालवध में सत्कृतीशित द्वारका-वर्णन। वाल्मीकि
का वर्णन मुख्यतः विवरणात्मक एवं सूची-रूप है। वे बताते हैं कि अयोध्या
में क्या-क्या भौतिक रचनाएँ व वस्तुएँ दिखाई देती हैं—

आयता दश च दे च योजनानि महापुरी,
श्रीमती श्रीणि विस्तीर्णी सुविभक्तमहापराणा।
राजमागेन महता सुविभक्तेन शोभिता,
मुक्तापुष्पावकीर्णि जलसिक्तेन निष्ठाशः।
कपाटोतरणवती सुविभक्तान्तरपराणामुः,
सर्वतन्तनायुक्तवतीमुषिताः सर्वशिलिपिः।
सूतमाशादसवाकाः श्रीमतीमतुल्स्यामाः,
उच्चाक्ष्तालंकवतिः शतानीशतसंकुलाम्।
वध्यानात्कसंवैश्च संपुक्तां सर्वं: पुरीम्,
उधानास्मवनोपेति महती सारुमेखलाम्।
दुर्गभेदीरपरिवा दुर्गमन्यथारासदामुः,
वाजिवरणसंपूर्णाः गोमिरुष्ट्रः खर्टेस्तया।
सामन्तराजसंवैश्च बलिकर्मभिरावूतामुः,
नानादेशनवासैश्च वणिक्रमसंभोभिताम्।

बालकंड, ५१७, ८, १०, ११, १२, १३, १४

'अयोध्या नगरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन रोटी है, वह
श्री-संपत्ति है और उसमें बड़ी सड़कें सर्वन बनी हुई हैं। उसमें शोभन राजमार्ग
है जिस पर नित्य छड़काव होता है और जिस पर फूल बिखरे रहते हैं। उस
नगरी को, जिसके बाहरी दरवाजों पर बन्दविवार बैठे हैं, जहाँ गुदर दूःखानी
है, सब तरह के यंत्र तथा हवियार हैं और तरह-तरह के चिल्ली रहते हैं;
जहाँ बहुत-से बन्दी, मांगाध आदि हैं, ओँची अट्टालिकाएँ हैं, झंडियां हैं, शत्रुणी
नाम के आयुध हैं, रित्रों की नाटकशालाएँ हैं, बगीचे हैं, आग्न्य-बन हैं;

भारतीय संस्कृति

जिसका विशाल परकोटा है, बड़ा किला है, गहरी बाढ़ है; घोड़ों, हाथियों, गायों, ऊँटों तथा खरों से भरी हुई है और शायद द्वारा अराप्य है; जहाँ कर देनेवाले सामान्तों तथा राजाओं के समूह हैं और नाना देशों के व्यापारी हैं (ऐसी अवधारणा को दशरथ ने ठीक से बसाया)।’ पाठक देखेंगे कि इस वर्णन में तरह-तरह की चीजों के नामों की भीड़ है। कबी शोड़े से शोड़े शब्दों में अवधारणा के बारे में बहुत-सी सूचनाएं दे देना चाहता है। उसके पास इतना अवकाश नहीं है कि इन सूचनाओं को अधिक चमकारयुक्त एवं रसात्मक ढंग से पाठकों के सामने उपस्थित करे।

चमत्कार-विद्यान

इसके विपरीत कबी माध ने बड़ी सतर्कता से रचे हुए लगभग तीस पदों में द्वारकापुरी का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। प्रत्येक पद पाठक के कल्पनानेत्रों के सामने एक रोचक चित्र उपस्थित करता है। हम यहाँ तीन-चार उदाहरण ही पेश करेंगे—

मध्येमुखं कक्षं: पिष्कुण्डीयमुर्वती काण्डकम्रमस्मा, तुर्भकात्मा मुख्यस्माः अन्वेषणम् भित्तम् जलमुख्यस्माः।

वर्णयुक्ते पूण्यतानि यत्र प्रभावितमुखिनमुद्वरुषणिः; लोकेन्द्रोवन्द्यकम्रममेव मुख्यस्मानि रत्नाकंभितम्।

अद्वनाशपूर्वपताया: काण्डक्षुमुयों भेदकमिच्छित्तीमः; आराधिटोद्वा मनुरवसरोमिच्छित्तीमः प्रजा; स्वा: सामस्मितिहा।

रत्नी हित्यथा निषायम् दीपाण्ड्याल्लाकात्मम्रायोंवििगुहिष्ठीम्; विबिंदालेखक्षीणोष्णाम्मो वैदेहोऽक्षेप्यनुष्ठाविन्धिवििगुह्यप्रायः।

शिशुपालवधं, ३१३, ३८, ४२, ४३

‘द्वारकापुरी का परकोटा सोने का है, उसकी प्रभा से दिशाओं को पीतवर्ण बनाती हुई वह पुरी समृद्ध के बीच में जल को भेद कर उठी हुई बड़वानिकी जवाला के समान दिखाई देती है। उसके बाजारों में सिरर
सीन्द्र्य-बोध और जीवन-संयोग

व्योतिवाले रत्नों के पुनः सौंजोये रहते हैं। जल निकलने के मार्गों से कभी-कभी समुद्र की चंचल तरंगें पुस्त आती हैं और रत्नों को चुरा कर ले जाती हैं। इसी तरह रत्नों का संचयन करके समुद्र रत्नाकर बन गया है। वहाँ की स्त्रियों सुन्दरता में अपराधों के समक्ष हैं। इस सादृश्य से परेशान होकर अपराधियों ने मनु से यह प्रार्थना की कि वे अपनी इन संतानों में किसी ऐसे गुण की स्वापना कर दें जिससे उन्हें उनके भिंस पहचाना जा सके। फलतः मनु ने स्वयंरूप (द्वारकापुरी की) सुन्दरियों में पलक गिराने-उठाने की विशेषता का समावेश कर दिया। वहाँ रात में रति के समय गृहवधुएं जब ललना धीरे दीपकों को बुझा देती हैं तब उन्हें वैद्यविंश मणियों से निर्मित दीवारों पर झरोखों से आकर गिरती हुई चम्ब्रा की किरणों की परछाई दीखती है। वे परछाईं विली की बाबिलों की तरह पीली एवं भ्रमकर दिखाई देती हैं, जिससे वे डर जाती हैं।

इन पदों में भी द्वारकापुरी के ऐश्वर्य आदि के संकेत हैं, किन्तु वे बालमौकी के वर्णों से स्वभाव प्रकार के हैं। इसी प्रकार की स्वभावत दूसरे समान विषय-वाले स्थलों में भी देखी जा सकती है। राम को लेने के लिए जब विश्वामित्र दशरथ के पास आये तो उन्हें अपनी बड़ी प्रसंगता से उन ऊष्ठि का स्वागत किया। दोनों के मिलन का वर्णन आदिकवि ने इस प्रकार किया है—विश्वामित्र और उनके साथ के ऊष्ठियों ने जब प्रवेश किया तो राजा ने उनकी यथायोग्य पूजा की और फिर विश्वामित्र से कहा—‘जैसे अमृत की प्राप्ति होती है, जैसे जलहीन स्वाम में वर्षा होती है, जैसे पुनः ऊृत्र को धर्मपतियों से पुनःप्राप्ति होती है, वैसा ही मैं आपके आगमन का मानता हूं। मैं आपका कौन सा बड़ा कार्य हुए के साथ कहूँ? आज मेरा जन्म और जीवन सफल हुआ। आप पहले राजा थे और अब द्राक्षा पद को प्राप्त कर चुके हैं, अतएव आप मेरे बहुत पूर्ण हैं। आपके आगमन का जो प्रयोजन हो, वह तुझे मुझे बतायें।' यहाँ प्रायः इतिवृत्तात्मक एवं चमत्कारशृंखला

२. बालकाण्ड, १८४५-४६, ५६
भारतीय संस्कृति

दंग से राजा दशरथ ने विश्वामित्र की प्रशंसा और उनसे अपना प्रयोजन बताने की प्रारंभिक की है। एक ऐसे ही अवसर का कवि माध ने भी बर्णन किया है। स्वर्ग से उतरते हुए महर्षि नारद कहना: क्रृष्ण के भवन में उनके सामने अपत्तियों हुए। क्रृष्ण ने अपने हाथ से उन्हें आसन दिया। आसन नीचे रंग का था और नारद नितान्त गौरववर्धन। उस पर बैठकर वे वैसे ही शोभित हुए जैसे सन्य्या में अंधेरे से बड़े हुए उदयाचर नर्वस पर प्रकट होकर चन्द्रमा शोभित होता है। उसके बाद नारदजी की भाषा से नये मेघों जैसे-यथार्थक कांतिवाले क्रृष्ण जिस सोने के आसन पर बैठे, वह सुभोर पश्चिम के उस शिखर के समान सुन्दर लगने लगा जिस पर जामुन का वृक्ष स्पष्टित कर दिया गया है। उस समय नारद मुनि तथा क्रृष्ण के शरीरों की प्रभावे एक-दूसरे से मिलत होते लगीं; कुछ वैसा ही दृष्टि बन गया जैसा रात में वृक्ष के चंदन पत्तों के बीच चन्द्रमा की शुभ्र किरणों के प्रकाश होने से दिखाई देता है। तेजस्वी नारद को देखकर वसूलता से बिछे हुए क्रृष्ण के नेत्र वैसे ही सुन्दर दिखाई दिये जैसे तेजस्वी सूर्य की समक्षता में कमल सुन्दर दिखाई देते हैं। उस समय क्रृष्ण सचमुच ही पुंडरीकाक्ष (कमलनयन) हो रहे थे। 

उन्होंने क्रृष्ण नारद से कहा—

हरत्वां सम्रति हेदुरेष्यत: शुभस्य पूर्वार्चिति: कृतं शुभं;
शरीरभाजां भविष्यदर्शनं व्यन्निति कालशिरियेषपि योऽयताम्।
विलोकननेत्र तवामुना सुने क्रम: इत्तार्योस्मिन निबिधान्तांसा,
तथापि शुभृपुर्दुं गरीवीतीगिरोज्जवमा श्रेयसिः केन तृष्णते।
गतस्वृहोध्यामगमनप्रयोजनं वदेति वेवास्यस्य वया,
तनोति नस्तामुच्यितात्मगोर्वो गुहस्तैववागम्य एष धृष्टांम्।

शिशुपालवध १२६, २९, ३०।

3. शिशुपालवध, १११६, १६, २१, २४।
‘आपका दर्शन वर्तमान काल के पापों को दूर करता है, भावी श्रेय का कारण बनता है और अतीत में किये हुए शुभ कर्मों से संबंध होता है; इस प्रकार यह तीनों कालों में मनुष्य की योग्यता प्रकट करता है। मुनिवर! पापों की निवृत्ति करनेवाले आपके दर्शन-मात्र से में क्षता हो गया हूँ, फिर भी मैं आपकी गौरवसाहित्यी वाणी सुनना चाहता हूँ; बात यह कि श्रेय अथवा लाभ से किसे तुलना हुई है? आप स्पृहा-सूत्र हैं, फिर भी मैं यह पूछते की धृष्टि करना चाहता हूँ कि आपके आगमन का प्रयोजन क्या है। यह धृष्टि उसी आत्मगौरव के कारण संभव हुई है जो हमें आपके आने से प्राप्त हुआ है।’

किरातार्जुनीय में महाश्रय व्यास के आगमन के अवसर पर ऐसे ही कुछ बाक्य युग्मितर द्वारा कहलाये गये हैं—

अनाप्तपुष्पोपचयिरुप्रिा फलस्य निर्धुतरजा: सविभी, तुष्य भवद्वर्णसंसंवेषा वृष्टिवदिवो बीतलाभबाया:।
श्रिय विकर्षत्तयत्त्यायतिर श्रेयं: परिस्तीति तनोति कौटिमु, संदर्शनं लोकलुक्सुरस्रोंंरं त्वतायोग्नेरवं किव न घरे।
निरास्पदं प्रश्नकुतुहलित्वस्मासवधीनं किमु निःस्पृहाणाम, तथापि कल्याणकरी गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरकरोति।

किरातार्जुनीय, ३१५, ७, ९

‘आपकी दर्शन-स्त्री संपर्कि, जो रजोगुण (अथवा धूल) को दूर करनेवाली है और बहुत-से पुण्यों के बिना प्राप्त नहीं होती, जो श्रेष्ठ फल को उत्पन्न करनेवाली है, वह बिना मेहनों के आकाश से मिलनेवाली वर्षी के समान है। आप श्रहा के समान लोकगुरु हैं, आपका दर्शन क्या नहीं करता—रक्षमू को खींच कर लाता है, पापों का विनाश करता है और श्रेय तथा कौल से विस्तारात। आपसे प्रश्न करने का कुछ निराधार ही है, क्योंकि आप-जैसे निःस्पृह लोगों का कौन-सा काम हमारे अधिन हो सकता है? फिर भी आपकी कल्याणकारिणी वाणी सुनने की इच्छा मुझे मुखर बना रही है।’
भारतीय संस्कृति

दशरथ, कृष्ण तथा युधिष्ठिर तीनों का उद्देश्य अतिथियों का स्वागत करते हुए अपनी-अपनी विनय का प्रदर्शन करता है। विनय संस्कृत व्यक्तित्व का एक शाश्वतीय गुण है। दशरथ का वक्तव्य विनय का प्रदर्शन तो करता है, पर उससे आगे अनेक स्वयं उनके व्यक्तित्व पर विचार क्रकाश नहीं बालता। इसके विपरीत माध तथा भारतविधान द्वारा दिये हुए विनय-प्रदर्शन के उल्लेख युधिष्ठिर तथा भृगुण के व्यक्तित्व की विद्यमान एवं संस्कारसंपन्नता का घोटन करते हैं। प्रतीत होता है जैसे दशरथ ने विश्वामित्र के स्वागत द्वारा एक रूढ़ि का निर्वाह मात्र किया है, उनके द्वारा विश्वामित्र की महत्व अनुभूत हुई नहीं जान पड़ती। यहाँ अनुभूत होने से तात्त्विक है संदेह प्रत्यर्थीकरण, जो कि काव्यभाषा की निमंत्रित विशेषता है। कृष्ण तथा युधिष्ठिर के वक्तव्य अभ्यासों के महत्व को अधिक संदेह बना देते हैं। उनके वाक्यों की रचना एक दूसरा प्रभाव भी उपस्थित करती है—यह कि कृष्ण और युधिष्ठिर अवकाश की मन:स्थिति में अपने अतिथियों के व्यक्तित्वों का आकलन और उनके प्रति स्वागत-निश्चित कर रहे हैं।

कृष्ण, नारद आदि जिस धूमाव-फिराव के साथ, आलंकारिक दृश्य से, एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं, वह उक्त मनोभाव का प्रबल संकेतक है।

यह मनोभाव उल्लेखकाल के काव्यों में सर्वेश देखा जा सकता है; काव्यों के पाठों में भी, और स्वयं कवियों में। 'शिशुपालवध' में द्वारका युधिष्ठिर के ज्ञात में सम्मिलित होते को प्रस्थान करते हुए कृष्ण बहुत खुशसत के भाव से द्वारकापुरी का निरीक्षण करते हैं, फिर वे रूकते पर बचकर क्षीरा व रति-वित्तर करने का निश्चय करते हैं। इन सब चीजों के वर्णन में—जिनमें छ: ऋतुओं, जल-विहार, चन्द्रिकाओं, पान-गोष्ठी, सूर्योदय आदि के वर्णनों का समावेश है—कवि ने नौ-दस सर्ग से लिये हैं। उसके बाद कहीं कृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचकर पांडवों से भेंट करते हैं। इसी प्रकार 'किरातार्जुनी' के लेखक ने अरुण के प्रस्थान, तपस्या और उसमें संबंधित और अनेक अवसरों द्वारा विच्छल हाले जाने के प्रयत्न आदि का वर्णन छ:सात सर्गों में किया है।
तौन्य-बोध और जीवन-संभोग

जीवन की छोटी-सी घटना या स्थिति में बहुत-सा अर्थ देखने-प्रकट करने का स्वभाव और क्षमता अपेक्षाकृत बड़े साहित्यकारों में ही पायी जाती है। आधुनिक काल में मार्सेल गूस-जैसे उपन्यासकार अपनी नायिका के चोटों या मुस्कानों के वर्णन में अनेक पृष्ठ भर डालते हैं। आज का उपन्यास एक प्रकार से प्राचीन महाकाव्य का उत्तराधिकारी है। उत्कर्ष-काल से संस्कृत-कवियों में विश्लेषणात्मक छंदे वर्णन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी-बढ़ी दिखाई देती है। यह उनकी साहित्य-संबोधना की सूक्ष्मता एवं समृद्धि के दोनों का प्रमाण है।

वाल्मीकि ने विश्वामित्र को "महातेज़ाः" (बड़े तेजस्वी या तेजवाले) कहकर वर्णित किया है। नारद को अंतरिक्ष से उतारते हुए कवि माध ने उनकी तेजस्विता को बड़े चमत्कारिक दंग से प्रस्तुत करता है—

गर्वं तिरस्चिनमनूस्सारयेः। प्रसिद्धमूर्धवेञ्जलनं हृदिमुच्छः,
पतलवधो धाम विसारि सर्वतं। किमेददित्याकुञ्जलमस्मिः जनेः।
चयस्वत्वामित्यवधारितं पुरा तत। शरीरीति विभावितावकुलातिमुः
विभूतिभक्तावयवः पुमानिन्ति क्रमादेमुः नारद इत्यवोधिस्वः।

शिशुपालवधः १।२, ३।

'सूर्य की गति तिरस्चिन मनोहारी होती है, अर्जित की शिखर ऊपर की ओर उठती है; यह किस प्रकार का तेज या ज्योति है जो नीचे की ओर गिर रही है—
इस प्रकार लोगों ने आकृति होकर (उत्तरे हुए नारद को) देखा। भगवानुक्रुण ने पहले समझा कि यह केवल एक ज्योतिकुम्पुज है; बाद में जाना कि कोई शरीरशारी सत्ता है। जब अवयव अलग-अलग दीवाने लगे तो धीरे-धीरे पहचाना कि यह मनुष्य है, और नारद मुनि है।'

रामायण-महाभारत-युग तथा उत्कर्ष-काल के जिस भेद को हम पाठकों के मस्तिष्क तक पहुँचाना चाहते हैं, उसे दो भिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उत्कर्षकालीन कवियों की मानव व्यक्तित्व में ज्यादा दिलचस्पी है, और उस व्यक्तित्व द्वारा
भारतीय संस्कृति

सम्पत्ति होनेवाली जय-पराजय उनके लिए अपेक्षाकृत कम महत्त्व रखती है। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इस धुरे के काव्य में जो संबंधन संचित व व्यक्त हुई है उसका विषय उपयोगिता की धूमि न होकर निष्क्रियोगी सौन्दर्य तथा नैतिक एवं दूसरे मूल्यों को वहन करनेवाली स्थितियाँ हैं।

अब हम दूसरा प्रश्न उठाएंगे—सौन्दर्य-बोध का जीवन-यात्रा में क्या स्थान हैं? हमारा उत्तर है, जिसे हम सौन्दर्य-बोध कहते हैं वह जीवन-संभोग का एक उपकरण है। सुन्दर वह है जो उपयोगी न होते हुए भी हमारी चेतना को रसात्मक (Aesthetic) दृष्टि से समृद्ध बनाता है। सौन्दर्य-बोध से भिन्न दूसरी चीज नैतिक बोध एवं उदात्त की चेतना है, ये हमारे व्यक्तित्व को सिर्फ समृद्ध ही नहीं बनाते, अपितु उसके धरतिको को भी ऊँचा करते हैं। संस्कृति में, वैयक्तिक एवं जातीय संस्कृतिक चेतना के विकास में दो प्रक्रियाएं चलती हैं; एक ओर व्यक्ति अथवा जाति की चेतना अधिक समृद्ध होती चलती है, दूसरी ओर वह ऊँच-नीच के प्रतिमाओं या पैमानों के समर्थन में अधिक सतर्क एवं विवेक-शील होना सीखती है। यह सतर्कता जहाँ एक ओर हमें जीवन के विभिन्न गुणात्मक धरतिओं में अन्तर देखना सिखाती है, वहाँ दूसरी ओर उस जीवन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का समृद्घता मूल्यांकन करने की योग्यता भी देती है।

सौन्दर्य-दृष्टि—मानव-जगत

शरीर-सौन्दर्य—अब हम उत्कर्षकालीन सौन्दर्य-चेतना के विभिन्न रूप पर वृद्धिपात करेंगे। सौन्दर्य के दो प्रमुख क्षेत्र हैं मानव-जगत और प्रकृति। मानव-जगत में जो सौन्दर्य सीधे हमारे नेत्रों को आकृष्ट करता है और जिसका हमारी आन्दोल-मानना से सीधा संबंध है उसका अधिकारण स्वयं मनुष्य का शरीर है। उत्कर्ष-काल में मानव-शरीर के महत्त्व को मुक्त कर दे स्वीकार किया गया है। पारंपरिक से बात करने हुए बटु-रूप-धारी शिव ने कहा—धर्म का पहला साधन शरीर ही है (शरीरमाध्यं
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संबंध

बलु धर्मसाधनम्—कुमारसम्बन्ध ५, ३३। इस काल के कवियों में शारीर-सौल्दय—विषेषतः नारी-सौल्दय—के वर्णन के प्रवृत्ति बहुत बड़ी-बड़ी दिखाई देती है। नारी के नब-शिख-वर्णन के चलन का प्रारम्भ इसी युग में हुआ। कुछ हद तक इस प्रकार के वर्णन अस्वघोष के बुद्धचरित में भी मिलते हैं, किंतु बुद्धचरित का उदेश्य केवल साहित्यिक रस की सृष्टि नहीं है। वहाँ कुमार सिद्धार्थ के शोभन व्यक्तित्व के समर्थ संकेत हैं, और जहाँ-तहाँ त्रिवेणि, अप्सराओं आदि के भी वर्णन हैं। किंतु इन वर्णनों का प्रधान प्रयोजन बुद्ध की बौद्ध-भाषना की तीव्रता एवं सशक्तता को दर्शाते करता है। अस्वघोष ने सिद्धार्थ तथा यशोधरा के परिणाम-प्रसंग को लेकर कोई छैसा लम्बा विवरण प्रस्तुत नहीं किया, जैसा कि कालिदास के ‘रघुवंश’ में इनुमती-स्वर्यांवर को लेकर किया गया है। फिर भी यह टीकाकार करना चाहिए कि अस्वघोष का काव्य सौन्दर्य-वर्णन की दिशा में वाल्मीकि की रामायण से कुछ आये जाता है। यह बात तरह-तरह के छोटे-छोटे के समावेश एवं आयापूर्ण, सुचित्रित शब्द-योजना से सिद्ध होती है। सूक्ष्म सिद्धार्त के पिता राजकुमार को विषय-भोग की दुनिया में खींचकर रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने उनके चारों ओर उत्तेजक साहित्यियों एवं सामग्री की योजना की। इनका वर्णन अस्वघोष के लिए जरूरी हो गया। इस प्रकार बुद्ध-चरित में नारी-सौल्दय के अनेक विविध एवं विस्तृत चित्र दिखाई गये हैं। स्वयं सिद्धार्थ के शारीरिक सौल्दय का भी जगह-जगह संकेत किया गया है।

जैसा कि हमने कहा, उत्कृष्ट-काल के कवि नारी-रूप के वर्णन में विशेष रूप से दिखाई देते हैं। इस दृष्टि से हमारे युग के तीन कवियों में कालिदास का स्थान सबसे ऊपर है। कालिदास के नाटकों तथा मेघदूत में भी सुंदर नारी-चित्र हैं, महाकाव्यों में इस दृष्टि से ‘कुमारसम्बन्ध’ अधिक महत्वपूर्ण है। मेघदूत में यद्यपि मेघ को अपनी पत्नी के सौल्दय का परिचय दिया है, ‘कुमारसम्बन्ध’ में कवि ने पारंपरिक शारीरिक रूप का विस्तार वर्णन प्रस्तुत किया है। इस वर्णन को हम नब-शिखर वर्णन कह सकते हैं।
भारतीय संस्कृति

इस प्रकार का वर्णन यह प्रकट करता है कि कवि की दृष्टि नायिका के अंग-अंग में सुंदर लेती और उसकी लेखनी प्रत्येक अवयव का प्रत्यक्षीकरण करने का प्रयत्न करती है। हम यहाँ तीन-चार पद ही उद्धृत करेंगे—

उन्मीलित तुलिकेयेव चित्रं सूर्यशुभंभिष्मिषविवर्तम, बमुव तस्यास्थेतुरस्तोभि बपुरिष्विवंत नवयोवनेन।
एतावता नवनुमेयोशिभि कामचीपुणस्तानमनिन्दितयाः, आरोपितं यदृ गिरिश्रेन पश्चादनन्त्यनारीकमनीयमह्मूं।
शिरीपुषपाधिकसीक्रामायाः बाहु तद्नाधित्वमेव वितर्कं, पराजितेनापि कृतौ हरस्य यो कषपार्शी मकरधवजन।
प्रवात्तिल्लोचनिनित्रीशेषमधीरविश्रेणितमयात्मकः।
तथा गृहीतं नु सूर्यादशनामयस्तती गृहीतं नु मूर्याग्राहानिमः।

कुमारसंभव, ११२२, ३७, ४१, ४६

'जिस प्रकार तुलिका (चित्राकृति की कृति) के रंगों से चित्र उद्भासित हो उठता है, जैसे सूर्य की किरणों से कमल बिलाल जाता है, वैसे ही नये यौवन से उसका सुगंधित, अनुपातिकता शरीर पूर्ण सोन्दर्य में प्रस्फुट हो गया।
उसके कठि-प्रदेश की शोभा का अनुमान इसी से ही नवयोवन हो जाता है कि
बाद में व्यूं शिव ने उसे अपने अंक में स्थान दिया—ऐसे अंक में जो
किसी दूसरी नारी के लिए प्राप्य नहीं था। पारंती की बाहुं शिरीष के
फूलों से भी अधिक सुकुमार थीं, तमी. तो पराजित होने पर भी, कामदेव
ने उन्हें शिव के कठ का बंधन बना दिया। आयताक्षी उमा का चकित-
प्रेक्षण हुआ में कूपते हुए नीले कमल के समान जान पड़ता था; इस प्रकार
देखना उसने हिरिन्यों से सीखा था, या हिरिन्यों ने उससे?

यौवन के आगमन से पुष्ट एवं आकर्षक बनते हुए नारी के अंगों में
कालिदास की दिलचस्पी है। शिव ने जो उमा को स्वीकार किया उसका
एक महत्त्वपूर्ण कारण उनका सोन्दर्य भी था। पुष्प-शरीर में भी कालिदास
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संमोह ने इसी प्रकार अपनी अभिव्यक्ति दर्शित की है। यौवन की ओर उन्मृत्यु रघु की शरीर-वृद्धि का एक चित्र देखिए—

महोक्तानेव वस्तिर: स्पृशसिव हिमेन्द्रभावं कल्भं: अयतितिव, रघु: कमाचौवनिमित्तश्रेयं: पुरोष गाम्भीर्यमनोहुरं वरु:।

रघुबंश, ३१३२

‘वृषभभाव में स्वर्ग रहते हुए बच्चे के समान, गजभाव को प्राप्त होते हुए कल्भ (हाथी के बच्चे) की भाँति रघु ने क्रमशः शीशव को छोड़कर गंभीर (अचंचल) तथा सुंदर पुष्टि शरीर पाया।’

कवि माघ ने एक जगह बलराम की शारीरिक विशेषताओं का संकेत किया है। कवि की दृष्टि मुख्यतः उन विशेषताओं पर है जिनका संबंध प्रणयकंड्रा अथवा तत्संबंधी अभिव्यक्ति से रहता है। बलराम का जो विचार कवि ने उपस्थित किया है उससे उनकी रजोगुणी प्रकृति के दोनों पहलु प्रकट होते है; उनका युद्धोत्सक योग्यता का रूप, और कामपरायण प्रेमी का रूप—

तत: सप्लापनवनमर्गानुवधस्तुरा,
ओष्ठेन रामो रामोद्वप्विमव्युक्तवुण्यनम्।
पूर्णाङ्गस्वास्थ्यायमदशाखितत्वदुः,
रेवारतादनोच्चिद्धपश्चात्वज्ञानपुरुपुगुः।
ककुषिकाकणाक्ष्यात्वसालनसाधारणवश्व, 
मुखामोडः मदरिया कृतानुव्याधं मुद्दमन्।

पर्युपालवद्ध, २२१४, १६, २०

‘तब साथ उनके द्वारा दिखाया हुए अपकारों के स्मरण से उत्पन्न ताप से फड़कते हुए, रमणी के अधर-विव के चुम्बन में पदु, होठों से (बलराम ने कहा)। उस समय उनकी शाराव के नदों से लाल आँखें, जिनके गोले रेवती के मुख के उच्च श्वास से पवित्त हो चुके थे, पूम रही थीं। उनके मुख से बास तरह की गंध निकल रही थी—वह गंध जिसमें रेवती के मुख में बसी मदिरा की सुरभि मिली हुई थी।’
बलराम उद्यान जीवन-संभोग के प्रतीक हैं। 'भेष्ठुत' में भी उनके हत्याप्रेम की चर्चा आयी है। वे कृष्ण के बड़े भाई हैं; जानिए कि कोई कवि उन्हें निजी ठहराने की धृष्टि नहीं कर सकता। वस्तुतः उत्कर्ष-कालीन काव्यों के नायकों के लिए गुरा आदि का सेवन कोई अनहोनी बात नहीं है। रघुवंश में अज और दशरथ दोनों के संबंध में इस प्रकार के संकेत हैं कि वे मदिरा के प्रति विमुख नहीं थे। इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए अज ने इस बात पर शोक प्रकट किया कि जो इन्दुमती उसके मुख द्वारा अपित स्वादिष्ट मध पीती थी, वह अब श्राद्ध के समय आंतरुचों से दूषित जलांजलि प्रहण किया करेगी।" अज के ही संबंध में उसके विजयोत्तर शंखनाद का वर्णन करते हुए कालिवद्ध ने लिखा है—

तत्र: प्रियोपातसंवधयोऽपि विनेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।

रघुवंश, ७१६॥

अर्यात् 'तब कुमार अज ने अपने उस अघोरस्त पर, जिसका रस प्रिया द्वारा आस्वादित हो चुका था, रक्षक शंख को बजाया।' संकेत यह है कि इन्दुमती जैसी सुन्दरी के द्वारा चुम्बित होने से अज के होठों का महर्षि बढ़ गया, और स्वयं अज को इस बात की चेतना थी।

कवि मान ने अनेक सर्गों में नायक कृष्ण तथा उनके साधियों की जल-विहार आदि की डायाओं का वर्णन किया है। शिवरी की समाधि भंग के लिए मेजरे को जब इन्द्र ने कामदेव को बुलाया तो उसने इन्द्र के संभावित कार्यों के संबंध में अनेक कल्पनाएं की; यह कि शायद कोई तपस्वी अपने कठोर तप से इन्द्र को चिंतित बना रहा है, अथवा इन्द्र का किसी ऐसी स्त्री से प्रेम हो गया जो उसका कहना नहीं मानना चाहती, या फिर कोई मानिनी इन्द्र से नाराज हो गयी है और अपना मान नहीं छोड़ रही है। इन सब सम्भावनाओं की कल्पना करके कामदेव यह आश्वासन देता है कि इस

4. रघुवंश, 5, ६५।
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संभोग
प्रकार की समस्याओं का हल करना उसके लिए बहुत ही सही है। उसकी
उद्देश्यों इन्द्र के चरित्र पर, उसकी नारी-प्रियता पर, रोशनी डालती है।
अपनी डिंग हाँकते हुए वह कहता है—
कामेरपल्टीन-खीलां लों मनश्चाित्वया प्रियभादम,
नितिनिरामिश्चसि मुकतात्त्ज्ञान कथषे स्वयंप्राहिनिनक्वयाितवाम्।
कुमारसम्भव, ३१७
‘क्या कोई ऐसी सुन्दरी पतिव्रता स्त्री है जो अपने सौन्दर्य के कारण
अपने चंदल मन में बस गयी है और जिसे आप रुखा छोड़कर खुद अपनी
भुली से अपने गले में बैठी डाले हुए देखना चाहते हैं?’ मतलब यह
कि इन्द्र का चित्त इस प्रकार का था कि किसी सुन्दरी स्त्री को देखकर
उसमें आसक्त हो जाय। स्पष्ट ही यह नारी-सौन्दर्य के महत्व की
घोषणा है।

शारीरिक सौन्दर्य के उद्देश्य में केवल अंगों का स्पष्टात्मक वर्णन
ही नहीं होता। शेष कवि वर्णित व्यक्तिवर्ग के गत्यत्मक सौन्दर्य की भी
विवृति करते हैं। नारी के व्यक्तिवर्ग में यह सौन्दर्य हाव-भावों के वर्णन
का रूप धारण कर लेता है। यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय कवियों,
विशेषतः संस्कृत कवियों को, नारी-व्यक्तिवर्ग की विभिन्न चेष्टाओं का बड़ा
निर्क उपचार है। ये चेष्टाएँ या हाव-भाव देश-विशेष की स्थितियों के स्वभाव
एवं चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं। ‘किराताङ्गिनीय’ के दससव सर्ग में अप्प-
रायें तथा गंधर्व-युवतियाँ अर्जुन को अपनी ओर आक्रमण करते का अवलोकन
करती है। प्रारंभ में हम उद्धेष्य था, इविम भाव-भावियों के प्रदर्शन
द्वारा मोहित करके अर्जुन को तप-भ्रमण करता; किन्तु बाद में कुत्तीपुत्र
के सौन्दर्य से आक्रमण होता, वो सचमुच कामवश होकर तदनुकूल चेष्टाएँ
करते लगे। कुछ उद्देश्य देखिए—
सांवल्लकलित्त्रिकाभिमान सिरसंसयमनाकुद्धके,िणः,
सुपतििपरानि निरासे मनसिलहेनसरं विलोचनानाम्।

१०
भारतीय संस्कृति

यदि मनसि शामः किमहन्त चार्यां च शाठ विषयाक्षतव वल्लक्षा न मुक्तः।
भवतु दिशाति नान्यकामिनीभृत्तव शुद्ध्ये हृदयेशवरावकाशम्।
इति विषमितत्चकुशाभिधाय स्फुरद्वरोष्टमसुयया क्याचित्रः,
अर्धित्सुमुक्तानलज्जायासि स्वयमुरसि श्रवणोपलेन जन्मे।

किरताजुनियो, १०१५२, ५५, ५६

‘दूसरी ने, जो विलासपूर्वक चलते हुए कटि-प्रदेश से सुंदर दीख रही
थी और जिसका एक हाथ केशराशि को बाँधने में व्यस्त था, कामदेव के
विजयी बाण के समान अघमूदो और्दों के कटाक्ष को अजुन के प्रति निक्षित
किया। अजुन के ध्यान न देने से कुपित हुई एक युवती ने कहा—“रे धूतः।
यदि मुझारे मन में शम या शान्ति है तो तुमने यह धनुष क्यों लगा रखा है?
निश्चय ही तुम्हें विषय प्यारे हैं, मुक्ति नहीं। जान पड़ता है मुझारे हृदय
में कोई दूसरी कामिनी बसी हुई है जो औरों को जगह नहीं देती।’” इस
प्रकार टेंडी दुःखित एवं फड़कते हुए अघरोण से कोंपपूर्वक कहकर, बड़ों की,
स्वाभिमान की और ज्ञान-भावना की परवाह न करते हुए, युवती ने स्वयं
अपने कान के कमल को अजुन के बाह्यस्वर पर फेंक कर मारा।

किरताजुनियो के उक्त स्पंद में विशुद्ध विलासिनी तर्कियों के हाव-भावों
का संकेत है। अज-दुनुमती के विवाह के आरम्भ में कालिदास ने
कुछसुगत दिम्बों की चेष्टाओं का चित्र खींचा है। ऐसी दिम्बों भी सुन्दर
पुष्प के प्रति आकृष्ट होकर कुछ क्षणों के लिए कठोर आत्म-निर्वंत्रण भूल
जाती हैं; और आकृष्ट-भावना को प्रकट करते-लिये मूक्ष चेष्टाएँ करने
लगती हैं। कामहेम्पवर के हाथ में हाथ दिये कुमार अज ने भीतर के आँगन
में प्रवेश किया, साथ ही उन्होंने मानो वहीं की नारियों के मन में भी प्रवेश
कर लिया। उस समय उसने रत्नों से संयुक्त, मधुरपक्ष वादि से मिलित
पूजा का सामान और दो दुपट्टे “विनिताओं के कटाक्षों के साथ” प्रहार
किये।” अगिन की वेदी के पास जब वर और वधु बैठे तो एक-दूसरे को देखने के लिए

4. रघुबंश, ७, १५।
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संभोग

उत्तरेक उनके नेत्रों की पुतलियाँ बार-बार आँखों की कोरों की ओर जाती और फिर लोट आतीं; उस समय उन्होंने लुंजा की यंत्रणा का अनुभव किया—

तयोरपाङ्क्तिप्रतिसारितानि भ्रमार्मापतिनिर्वितातानि,
हृद्यन्त्रणामार्मानिषे मनोजामन्योत्तोलानि विलोचनानि।

रथुवंश, ७२२

कालिदास ने अज तथा इन्दुमति एवं शिव तथा पार्वती के विवाह-व्यापार का सर्वथा वर्णन किया है। इन स्थलों में एकाधिक चित्र की पुनरावृत्ति भी हुई है। फिर भी यहाँ कवि के मनोविज्ञान एवं सौन्दर्य-बोध दोनों का माम्रक प्रकाशण हुआ है। वर-रूप शिव ने पार्वती से ध्रुव देखने को कहा, जिसका प्रयोजन यह प्रतिज्ञा व आश्वासन है कि देखेते हाथ का प्रेम ध्रुव की तरह अटल रहेगा। अपने मुख को ऊँचा करके लुंजा से सन्त हुए कठ-वाली वृद्ध ने किसी तरह कठिनाई से कहा—‘देख लिया’, अर्थात् मैंने ध्रुव का दर्शन कर लिया। इन स्थलों में भारतीय नारी का सांस्कृतिक सौन्दर्य भी पूर्णतया प्रस्फुटित हो सकता है।

बलराम का उल्लेख करते हुए हृदने कहा कि वे उद्दाम जीवन-संभोग के प्रतीक हैं। 'शिषुपालवध' के अनुसरण से मन में यह छाप पड़ती है कि कवि की दृष्टि में बलराम उस समय की क्षत्रिय जाति के साधारण चरित को प्रतिफलित करते हैं। प्रायः कवि अतीत को अपने युग की आक्षेपों से देखते हैं। यों तो महाभारत के क्षत्रिय योद्धाओं में तरह-तरह के चरित मिलते नै, किंतु महाभारत कार्त ने अपने नायकों को प्रायः संयत एवं सौम्य चित्रित किया है। अवस्था ही कौशल आदि के अवसर पर उनके चेहरों में विकार आते हैं, किंतु इन विकारों के प्रत्यक्षीकरण का विशेष प्रयत्न महाभारत में नहीं हुआ है। पांडवों से भिन्न अथवा उनके विपक्षी राजा के प्रति महाभारत-कार का खुब स्पष्ट ही सहानुभूति-शून्य है, किंतु इस मनोवृत्ति का प्रकाशण खास तौर से उनके शारीरिक चित्रण से सम्बद्र नहीं किया गया है। इसके
भारतीय संस्कृति

विपरीत कवि माच ने कुछ स्थलों में योद्धाओं के उन शारीरिक विकारों का, जो कोध, विद्वेष-भावना आदि में उत्थित होते हैं, विशाद वर्णन किया है।

वसंत:- इस विशिष्ट दृष्टि से शिशुपालवध के पन्थ-सत्रह सर्ग स्वयं संस्कृत साहित्य में भी वेजोड़ हैं। लक्ष्य करने की बात यह है कि इस प्रकार के वर्णन दोनों ही पक्षों के योद्धाओं के दिये गये हैं, जिससे हमारी यह धारणा पुष्ट होती है कि उनका विषय क्षत्रिय जाति के सभी बीर सदस्य हैं, किंतु एक पक्ष के योद्धा नहीं।

शिशुपाल-वध के चौदहवें सर्ग में यह दिखाया गया है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानकर उनकी पूजा की। इस पूजा का समर्थन मुख्यतः भीष्म ने किया था। उद्योग-यथाप्राप्त ने शिशुपाल में भयंकर प्रतिकाय उत्पन्न की। चैत्र राज शिशुपाल कृष्ण के इस सम्मान को न सह सका, कारण यह यह कि मानियों का मन इसरों की वृद्धि के प्रति असहिष्णु होता है। शिशुपाल को बड़ा कोध हुआ—

अभितर्यहस्ति समस्तनूपमानमसावकमयतू
लोमुक्तमणिरविर शानेरानां: प्रकर्षणमजगत्रथ शिरः।।
स निकाममध्यस्तम्भंष्यमध्यवधुत्त राजकः
सिष्टबहुतरुमलिनसिठु पुष्प: प्रलयार्थवर्वलित इवादिशुरकः।।
क्षणवधंकारस्तिनितिशालिशकरकठिनांसम्पडः
स्तम्भपुत्रितिविविधानांशाधिकावधुमुनितिसमस्तसंसंदमः।।
अतिरक्तभावमुपमायु कुटमतिरमुध्य साहसे
दृष्टिरागितिभयासिद्धान्तावलमन्त्रे सम समया सखरिभिव।।

शिशुपालवधः, १५१२, ५, ६, ९

'समस्त राजाओं की तर्जना-सी करते हुए उनसे अपने सिर को कंपाया, जिससे तीनों जगतू कौपने लगे—वह सिर जिसकी मुकुटमणि की रक्षितां चंचल हो रही थी। सारे राजाओं को अपने तेज से अभिभूत करता हुआ वह अपने पसीने-युवत शारीर को कंपायमान करते लगा। उस समय वह प्रलय
समुद्र से उत्थित आदिवाराह के समान, जिनके शरीर पर बहुत से जलबिन्दु पड़े हुए थे, दिखाई दिया। धारण भर को उसने अपने शैलशिला के समान कठोर कंबे से समास्तम्भ को तालिकित किया; वह स्तम्भ कांपने लगा, जिससे सारी समा कांप उठी। उसका मुखसंदंद कोथ से लाल हो गया था, वह भयंकर साहस का कार्य करना चाहता था, अतः उसकी निर्मित दृष्टि समीप की तलवार पर पहुँच गयी, मानी अनुरागवश अपनी सबी पर पहुँच गयी हो।

इसके बाद श्रिशुपाल ने युविण्ड, भीष्म आदि की भलाना करते हुए बहुत-सी बातें कहीं, जिनके उद्देश्य में भीष्म ने सब विरोधी राजा को चुनौती दे दाली। उस चुनौती के श्रिशुपाल के साथी राजा के बेहदे, शरीर पुनः कोथ से विकृत हो उठे। एक-एक राजा का नाम लेकर कवि ने इन विकृतियों का वर्णन किया है। बाणासुर की आँखें लाल हो गयीं और ब्रह्माण्ड को भयंकर बनाता हुआ उसका मुख कीलियुक्त (कीलाकार छाया सहित, परिधियुक्त) सूर्यसंदंद के समान दीप्त हो उठा। दुम नाम का द्वैत, जो प्रभात के सूर्य के समान ताराग्रंवण था और जिसके प्रभुक्त कुशुम-जैसे नेत्र कोथ से विशेष लाल हो रहे थे, अपने तेज से दीपित हुआ विशज्ञ दुम-सा (वृक्ष-विशेष जिसका रंग लाल होता है) दिखाई दिया। उत्तमीका नाम का राजा कुछ कहता चाहता था, उसकी सफेद दलपंकित चमक रही थी, उस समय ऐसा जान पड़ा कि उसके राखु के समान विकृत मुख ने चक्न्मा का प्रास कर छियाई है। दलनवक्त ने जोर से अद्वहास किया, जिसकी धार्मिक विज्ञान से दलित होनेवाले शैलवुल के समान थी (इस अद्वहास ने सूचित किया कि वह विशेष कुछ है)।

श्रिशुपाल के घोर अपमान-भरे सन्देश को सुनकर युधवर्णियों की समान में भी इसी प्रकार कीम उत्पन्न हुआ। नितान्त अवस्था के भाव से बलराम जोर से हंस पड़े। उस समय चारों अंग फैलती हुई दसन-काल्पनि ने कोथ से लाल हुए उनके शरीर को फिर पहले की साँति श्रेष्ठ बना दिया।

५. श्रिशुपालस्वास्थ, १५११५८-४६, ५१-५२।
रूप कामदेव के छोटे-बड़े बेहरे को देखना कठिन काम था। उस समय शर-सहित वे ऐसे भयंकर हो रहे थे कि उन्हें स्वयं शिव भी उस तीसरे नेत्र से, जिससे पहले अंग-दहन किया था, देखने का साहस नहीं कर सकते थे। लताओं-जैसी बड़ी भुजाओंवाले विदूर्य नाम के राजा ने बोलने की इच्छा से अपने बड़े मुख को, जिसमें मोटी बड़ी जीभ चल रही थी, खोला; जान पड़ा मानो पेड़ के कोटर में फणवाला साप चलायमान है (मुखरूपी कोटर में जीभ साप के फन की भाँति हिल रही थी)। शीघ्र ही स्वभावत: सुन्दर किन्तु सम्राट में भयंकर दीवनेवाले कृष्ण के पास उनकी शस्त्र आकर उपस्थित हो गये और युद्ध के लिए सेना सजने लगी। विशालकाय वाही चिंचाड़ने लगे, बड़े-बड़े पत्थर बाजे ध्वनित होने लगे, जीतनेवाले घोड़े हिंसिताने लगे।

उस समय लग रहा था कि भयंकर शब्द से आकाश फट जाएगा।

कवि माघ ने योद्धाओं के बीच वड़े परिश्रम से संवारकर उपस्थित किये हैं। युद्ध की उत्तेजना में भयंकर दिखाई देने लगना वीरों का अनुभव है। स्वयं कृष्ण भी, जो स्वभावत: सुन्दर है, युद्ध में भीख दिखाई देने लगते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने प्रिय नायकों का ऐसा चित्रण कहीं नहीं किया है—यदापि उन्होंने रघु, अज आदि के युद्धों का संक्षिप्त उल्लेख किया है। यहाँ एक बात लक्ष्य करनी की है। रामायण-महाभारत में पाये जानेवाले अदभुत युद्धों के वर्णन मानवीय दृष्टि से कोई महत्व नहीं रहते। इसके विपरीत माघ कवि ने उल्लोचक वीरों के जो चित्र खींचे हैं वे पूर्णतया मानवीय हैं। काव्य-साहित्य में पाये जानेवाले वर्णन बड़ी तक महत्वपूर्ण होते हैं जहाँ तक वे जीवन के यथार्थ को प्रतिफलित करते हैं। इस महत्वपूर्ण कसौटी के अनुसार उत्कृष्टकाल के काव्य रामायण-महाभारत से निच्छय ही बाली मार ले जाते हैं।

कालिदास को जीवन के भयंकर पक्षों में रूचि नहीं है; वे युद्ध के दृश्य में भी श्रृंगारिक सौन्दर्य खोज लेते हैं और इस प्रकार युद्ध की भीषणता को

6. वहीं, १७१४, १०, १७, २६, ३१।
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संमोह

सौन्दर्य का पुट देते हैं। राम के द्वारा किये गये तात्का के वध को कवि ने एक सूत्रारी रूप में बांधने की कोशिश की है—

राममन्यथशरण तात्कस्तु हृदये निशाचरी
गन्धवदुधारचन्दननोकिता जीवितेषवसति नाम ने।

रघुवंश, ११, २०

'राम-रूपी कामदेव के कठिन बाण से हुदय में तात्कित होकर राक्षसी तात्का, गन्धभरे शंकिरस्वप्न चन्दन से चरित, जीवितेषा (प्रयत्न अध्वा यम) के स्थान को चली गयी।' (धवनि यह है कि वह काम-विवश रमणी की भविष्य जीवितेषा से मिलने गयी।) कालिदास ने भी अपने राजा नायकों की रजोगुणी प्रकृति का उद्धारण किया है, किन्तु यह उद्धारण मुख्यतः श्रुत्गार के संदर्भ में हुआ है। कालिदास की सौन्दर्य-संबद्धता में हम एक दूसरा तत्त्व भी पाते हैं, उन्हें ऐश्वर्य की अभिवृत्ति में प्रतिफलित होनेवाले सौन्दर्य में भी पूरी अभिवृत्ति है। संस्कृत में सौन्दर्य का एक परवाही श्री भी है, कालिदास को (और कवि माता को भी) ऐश्वर्य-रूप श्री या शोभा निष्ठित रूप में आवश्यक करती है। रघुवंश के इत्तमती-स्वयंवर प्रकरण में इस कोटि के सौन्दर्य की सुन्दर विवृति हुई है। राजा भोज के द्वारा निर्दिष्ट कोटि के मंच पर कुमार अज सीढ़ियों से चढ़कर वैसे ही पहुँच गये वैसे मीठे शिलाओं से रचित सोपानों पर चढ़ता हुआ सिन्हाशाख पवित्र के शिखर पर पहुँच जाता है। उस रत्नजिति आसन पर सुन्दर रंगों का विख्यात था, उस पर बैठकर कुमार वैसे ही शोभित हुए जैसे कि मयूर की पीठ का आकाश लेने वाले स्कन्द। इसे राजा भी इसी प्रकार मनोज वेष बनाये वैसे थे।

उस समय—

तात्वु श्रिया राजपरम्परातु प्रभाविशोपद्यदुनिरीक्षयः
सह्ष्ठ्यात्मा व्यवहारभिक्षत: पवयमुचा पंक्तिलयु विच्छिद्रे व।

रघुवंश, ६१५

'उन राजाओं की पंक्तियों में श्री का देशीप्रमाण रूप-सौन्दर्य मानो सैकड़ों
दुकड़ों में बैठकर चमक रहा था, जैसे बादलों की पंखियों में अपने को बैठकर बिजली चमकती है।

ऐश्वर्य शोभाशाली होता है, यह चेतना भारवी और माघ में भी विकसित रूप में पायी जाती है। किरातरजुनीय के पहले सर्ग में द्रोपदी चुम्बते हुए शब्दों में युक्तिशिल्प को उनके कोई हुए ऐश्वर्य की याद दिलाती है—

पुराणिक: शयन महाधन विबोधस्ये यः स्तुतिगीतिमज्जले,
अदब्राह्मविविष्य स्तली जहाति नित्रामशिव: शिवाहस्त:।
पुरोपनितं नृप रामणीयं द्विजातिशेषे यदेवदस्या,
तदव ते वन्यफलाशिन: परं परर्ति कार्यः यज्ञा समं वुप:।
अनार्तं यौ मणिपीठाकायतावर्जयद्राजाःवरः स्रजां रजः,
निपददत्तानी चरणो बनेपु ते मूढिकुञ्जासिनशेषे बाह्यामु।

किरातरजुनीय, ११३८, ३९, ४०

‘पहले आप कीमती पलट पर सोते थे और बन्दी-भाटों की स्तुतियों
एवं मज्झल-गीतों से जगाये जाते थे; और अब कुश आदि कठोर बास से
आच्छादित पृथ्वी पर सोते हूँ और स्त्रापितों की अमज्झलमय आवाजें से
जागते हैं। राजनू! पहले आपका यह शरीर द्विजातियों को बिलायक
बचे हुए अन्न से सुन्दर पुष्टि को प्राप्त हुआ था, अब आप बनेले फलों को
खाकर गुजर करते हैं, जिससे आपका शरीर और यश दोनों कमजोर: क्षीण
होते जाते हैं। आपके जो चरण पहले मणिज्ञातित सोकी पर स्थित होकर
नमस्कार करते हुए राजाओं की विरो-मालाओं की रज से रंगित
होते थे, वे अब वन में पशु-पक्षियों द्वारा कुतरी हुई कुश-बास पर रखे
जाते हैं।’

माघ ने इतनस्त्रथ में कुशन के प्रवेश का और सवारी में बैठकर ठाट-बाट
से युक्तिशिल्प आदि के साथ जाने का बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया है।
भीमसेन उनका चेवर डुला रहे थे और अरुण उनका छन्द उठाये हुए थे,
नकुल तथा सहदेव उनके पीछे चल रहे थे। दोनों ओर की सम्मिलित
सौन्दर्य-शोभा और जीवन-संयोग

संस्कृतिक सौन्दर्य

कुछ पहले हमने संस्कृतिक सौन्दर्य का उल्लेख किया था। नर-नारियों के कुछ व्यापार संस्कृति-विशेष की पृष्ठभूमि में विशेष रूप से मनोज जान पड़ते हैं। यों लूज्जा नारी का सार्वभौम स्वभाव है, फिर भी प्राचीन भारतीय नारी में यह विशेषता कुछ अधिक प्रस्तुत रही है। विवाह के अवसर पर वर को देखने भर के लिए जैसी कठिनाई इत्यादि ने महसूस की, वैसी आज की यूरोपीय या अमेरिकी नारी नहीं करती। आधुनिक भारत की शिक्षित युवती भी उतनी लूज्जा का अनुभव नहीं करती।

भारतीय संस्कृति में मातृत्व का भी गौरवपूर्ण स्थान रहा। संभवतः इसका एक कारण यह था कि प्राचीन आर्य संतान के लिए बड़े चित्रकला रहते थे। प्राचीन भारत में संतान सोभाय का चित्र को मानी ही जाती थी, यह भी समझा जाता था कि उसका, विशेषता: पुत्र का, धार्मिक महत्त्व है। संतान उपचार करके ही पितृ-कृष्ण से उद्वार पाया जा सकता है; यहीं नहीं, पुत्रहीन व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। पुत्र अपने माता-पिता को एक विशेष नरक की प्राप्ति से बचाता है, ऐसा समझा जाता था।

संस्कृत काव्यों में नायक राजाओं के सामने अक्कर पुत्र-प्राप्ति की समस्या आ जाती है। दिलीप, रघु, दशरथ सबके सामने यह अवस्था उत्पत्ति हुई थी। बहुत-से प्राण्यों के बाद जब किसी राजमहिला की गर्मी रहेगी तो स्पष्ट ही वह एक महत्त्वपूर्ण घटना समझी जायगी। फलतः कालिदास ने दिलीप-पली सुदक्षिणा के गर्मवटी हो जाने पर उसमें आये  

७. शिशुपालवध, १३।२०, २१, २३।
दिनेशु गयस्यु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्रयम्
तिरस्करां भ्रमरामिलिनयो: सुजातयो: पञ्चकोशयो: श्रीम्।
रघुवंशः, ३१८

‘दिनों के बीतने पर रामी के, स्थूलता में बड़े हुए, नीले चूचुकोंवाले स्तन भ्रमरयुक्त कमलकोशों से भी अधिक सुन्दर दीखने लगे।’ आगे कवि ने शिशु राम को उत्प्पत करके दुर्वेदं दीखनेवाली कौशल्या का वर्णन किया है।

फलंग पर राम के ले हुए राम से दुःख उदरवाली कौशल्या वैसे ही शोभित हुईं जैसे शरद ऋतु में छोड़ जलवाली गंगा तट-देश में खिले कमलों से शोभाय-मान होती है—

शब्दावगते रामेन्द्र माता शातोदरी बभी, संकटम्भोजवलिना जाखरव स्थरत्कुशा। रघुवंश १०१५९

हमने कहा कि जीवन की कुछ स्थितियों का सौन्दर्य संस्कृति-विशेष का सापेक्ष होता है। इस संस्कृति का संबंध देश की स्थिति से भी रहता है। आज के भारत में, जब कि जन-संख्या की समस्या विकट रूप में उपस्थित है, संभवतः एक शिशु के उत्पत्त होने की घटना हमें उतनी महत्वपूर्ण दिखाई नहीं देगी। फिर भी, मानव-जाति के सार्वजनिक अस्तित्व का विचार करते हुए, हम मातृभूमि के गौरव से इनकार नहीं कर सकते। इस दृष्टि से उक्त गौरव की स्वीकृति के वर्तभारतीय संस्कृति का एक स्थायी पक्षपात ही नहीं है। यह लक्ष्य करने की बात है कि ईसाई संस्कृति से प्रभावित
यूरोप में भी शिशु ईसा और उनकी माता के संबंध को लेकर सैकड़ों महत्व-पूर्ण चित्र अंकित किये गये हैं जो लंदन, पेरिस आदि के संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। यहाँ हम कहना चाहते हैं कि किसी भी प्रौढ़ संस्कृति का सीन्द्र-बोध केवल एक देश या जाति की संपत्ति नहीं होता; उसका इतनी जातियों के लिए भी अर्थ व महत्व होता है। जो जाति वस्तुतः उन्नत है, उसका सीन्द्र-बोध भी विकसित कोटा का होगा; और जो सीन्द्र-बोध जितना ही समृद्ध व विकसित है, वह उसी तुल्य तक सार्वभौम भी समझा जा सकता। एक जाति जहाँ तक अपने सीन्द्र-बोध तथा नीति-बोध को सच्चाई समृद्ध बनाती है, वहाँ तक वह मानो समस्त मानव-जाति की प्रतिनिधि के रूप में, संसार के समस्त रस्सियाँ जनों के लिए, सार्वत्रिक सीन्द्र का साक्षात्कार एवं प्रकाशन करती है। यही कारण है कि एक देश के सदृश पाठक इसी देशों के अच्छे साहित्य में रस ले पाते हैं—कालिदास की कविता यूरोपीय पंडितों को सस्त्रदायी लगती है, और गेटेता तथा शेक्स-पियर की कृतियाँ भारतीय साहित्यप्रेमियों का मन मोहत होती है। यह स्थिति किसी संस्कृति की सार्वभौमता और उसके सार्वाभासिक महत्व का प्रमाण एवं प्रतिनिधि भी मानी जा सकती है।

प्रश्न है, क्या विभिन्न देशों में संस्कृत व्यक्तित्व के अलग-अलग रूप कल्पित किये गये हैं, अथवा उन कल्पित रूपों में समानता भी है? हमारी आस्था है कि संस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध विभिन्न जातियाँ जहाँ कुछ बातों में एक-दूसरे से भिन्न होती हैं, वहाँ उनमें अनेक समानताएं भी रहती हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनानी जाति में नैतिक दृष्टि से अच्छे समझे जाने वाले व्यक्तित्व के चार आवश्यक गुण माने जाते थे; विवेकशीलता (विज्ञान), साहस (करेज), संयम (टेम्परेंस) और न्याय-भावना। प्रायः ये सभी गुण हमारे यहाँ भी स्वीकृत सदृश गुण माने जाते हैं। संयम अर्थात् इन्द्रियों को वृत्तियों में रखने और बुद्धि अर्थात् ध्यान का उल्लेख मनु के दस लक्षणों में किया है; जिसे न्याय की भावना (ジャヒस) कहते हैं वह तो धर्म का निजी रूप ही है। कायरता सभी की दृष्टि में एक दृष्टि है। इसी प्रकार ईसाई धर्म
भारतीय संस्कृति

ने जिन सदगुणों को गौरवपूर्ण माना है वे भारतीय धर्म-चेतना के बहिष्कृत नहीं है।

वाणी-सौन्दर्य

किन्तु हम सौन्दर्य की बात कर रहे थे। व्यक्तित्व को सुन्दर बनाने-वाली विशेषताओं में उपसंस्कृत वाणी का विशेष स्थान है। 'कुमार संभव' में पार्वती और उसके पिता हिमालय पर्वत के संबंध में लिखा है—

संस्कारव्येव गिरा मनीषी तथा स पूर्वत्र विस्मृतितस्त्र।

अर्थात् 'जैसे संस्कारवती वाणी से विद्यानु व्यक्ति पवित्र एवं अलंकृत होता है, वैसे ही पार्वती से उनके पिता हिमवानु पूर्व तथा अलंकृत हुए।' कालिदास ने जगह-जगह संस्कृत वाणी के सौन्दर्य का उल्लेख किया है। देवताओं की स्तुति के बाद विष्णु ने किस बंगा से उन्हें उत्तर दिया, इसका वर्णन कालिदास के शब्दों में सुनिए—

पुराणस्थ कवेस्तत्त्व वर्णस्पात्तितसमीतिता
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थेव भारती।
बभी सदवाचर्युत्स्ता सा विमोचनवलोकाति
निर्यात्तैशा चरणादु गत्वे-वध्यनुस्पवतिती।

रघुवंश, १०१३६, ३७

'उस प्राचीन कवि के मुख से निःस्फूर्त, समुचित स्थानों से उच्चरित शब्दोंवाली वाणी मानो फिर से संस्कृत होकर क्वतार्थ हो गयी। भगवानु के मुख से निर्गत, दांतों की चाँदनी से सहचरित सरस्वती वैसे ही शोभित हुई जैसे चरणों से निकलती हुई, कुछ निक्य और कुछ रकी हुई, अथवा-गामनी ग़ज़ा।' कवि माघ ने भी बलराम तथा उद्धव से बातचीत करते हुए कृष्ण की शुद्ध उच्चरित वर्णोवली (शुद्धर्वणा) सरस्वती का संकेत किया है।

किन्तु वाणी का सौन्दर्य केवल उच्चरण में ही नहीं है; सुन्दर एवं
संस्कृत वाणी को अर्थपूर्ण भी होना चाहिए। संस्कृत कवियों में इस तथ्य की परिपूर्ण चेतना है। कवि भारति ने कई स्थलों में अर्थवती वाणी को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। दुर्योधन के राज्य-शासन के संबंध में सूचना लेकर जो वनेचर युधिष्ठिर के पास आया, उसकी बातचीत में कई विवेचनाएँ थीं। उसमें सौंदर्य या शब्द-संस्कृत अर्थवता समृद्धि शब्दों का समावेश, शब्दों पर विधाकार था, और औदार्य (उदारता) अर्थवता अर्थ-संपत्ति भी थी। इसके अतिरिक्त वह 'विनिर्दिष्ट' अर्थवाली थी। इसका मतलब है कि वनेचर ने जो कुछ कहा वह प्रामाणिक एवं विश्वसनीय था।

युधिष्ठिर को दुर्योधन से अपना स्वतंत्र वापस लेने के लिए युद्ध करना चाहिए, इस उद्देश्य से पहले दौरान ने और फिर भीमसेन ने उन्हें समझाया। दोनों के ही मन में जोश और असन्तोष था। भीमसेन को शासनपूर्वक समझाने की इच्छा रखते हुए युधिष्ठिर ने पहले उनके वक्तव्य की प्रशंसा की। उन्होंने कहा——

स्कुटता न पदैरपाक्ता न च न स्थीतिमतमर्यादारवम्,
रविता पूष्णगर्भं गिरान् न च सामार्थ्यपूर्वो हिंसा करति;
उपपतिशदाहत्ता व्यलद्यः अनुमानतेन न चागमः शतः।

किरातारजुनीय, २१.२७, २८

‘विनिर्दिष्ट पदों की स्पष्टता का त्याग नहीं किया गया, वह भी नहीं कि वक्तव्य में अर्थगौरव का समावेश नहीं हुआ; प्रत्येक वाक्य द्वारा कोई नयी बात कही गयी, तथापि उनके सम्बन्ध-निर्वाह का पूरा ध्यान रखा गया। प्रमुख युक्तियों का समावेश किया गया, फिर भी अनुमान अर्थवता तर्क द्वारा शासन की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ।’ कवि भारति के भीमसेन एक भोजन-भ्र हस्तंतरी होता है। वह समस्तदार और शासनवेत्ता हैं। उनकी बात का बंडन करने से पहले युधिष्ठिर यह आवश्यक समझते हैं कि उनके वक्तव्य की समृद्धि प्रशंसा की जाय।

संस्कृत-कवियों की दृष्टि में संस्कारसम्पर्क एवं अर्थवती वाणी व्यक्तित्व
भारतीय संस्कृति
का आभूषण है। इसका मतलब यह हुआ कि सुसंस्कृत व्यक्तित्व को विचार-सम्पन्न होना चाहिए। व्यक्तित्व में एक दूसरी चीज है नैतिक उच्चता एवं साधुता। साधुता से तात्पर्य व्यक्तित्व की उस सदाश्वतता से है जो देन-लेन से संबंधित आचरण की सीमा से ऊपर उठकर दृश्यों के कल्याण में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की साधुता वीरता तपस्वियों एवं संत प्रकृति के लोगों का गुण है। यह साधुता व्यक्तित्व को एक निराले सौन्दर्य से मंदित करती है; संस्कृत-कवि इस सौन्दर्य से भली-भांति परिचित हैं। पांडवों ने तपस्वी व्यास को आते हुए देखा, उनके मुख पर सहज प्रसादभाव अथवा सीमातका की सम्पूर्ण श्री (शोभा) प्रकट थी, जिससे वे अपरिचित जनों के चित्रों में भी लोह-मिलित खड़ा का भाव उत्पन्न कर रहे थे। उनकी छवि में एक अदृश्य शिविर का समावेश था, जिसमें देखनेवालों के अंत:करण को भी शालिपुर्ण बना देने की क्षमता थी। उनकी आँखों में अपूर्व माधुर्य एवं संपूर्ण विश्वास-वृत्ति प्रतिफलित थी, उनके विलोकन मात्र से लगता था मानो वे बातचीत कर चुके—

प्रसादलक्ष्मी दधूं समग्रो विपुःप्रकरण जनालितागेन,
प्रसहा चेतःसु समासजतंसमस्तुतानामपि भावमाध्रंम;
अनुदत्ताकारतया विविक्ताति तत्सर्वतमन:करणस्य वृत्तिम,
माधुर्यविश्वमभविशेषभाजा कृतोपसम्रामभविष्यतेन।

किराताजुर्णी, ३१२, ३

रघुवंश के पहले सर्ग में कालिदास ने वसिष्ठ कृषि के आध्रम का वर्णन किया है। आध्रम में निराकुल, साल्विक शोभा का वातावरण था, जहाँ पशु-पक्षी भी निरंतर, विश्वस्त और शांत थे—

बाकीर्यमृतिपल्लीनामुटग्रामरोधिमि:
अप्पैरिव नीवारमधंग्रेयोचितैमृगः।
सेकाते मुनिक्रियाभिमित्तस्तासुपीश्वृकम्
विश्वासाय विहुज्ज्ञानामालवालामभुपायिनम्।
सौन्दर्य-बोध और जीवन-संन्योग

आत्मपालयसंक्षिप्तनीवारामु सिन्यादिकः
मृगावतीतिरोत्मण्यमुज्जाज्ञानभूमिष्ठ

रघुवंश, ११५, ५४, ५२

'उस आश्रम में ऋणिपिलियों की संतान के समान ह्रदय कुटियों के
दरवाजों को चढ़े खड़े थे, इस आशा में, कि उन्हें जंगली धान में से अपना
हिस्सा मिलेगा। पीठों को सींचने के बाद मुनिकन्याएँ वहाँ से हट गयी थीं,
ताकि क्यारियों से पानी पीनेवाले पशु विश्वास के साथ वहाँ आ जायें।
वहाँ पर्यावरणों के बागों में (एक में फीलाए हुए) तृणधार्मक सन्ध्या के
समय इकट्ठे कर दिये गये थे और बैठे हुए हिरन उन्हें बाकर जुगाली
कर रहे थे।'

यहाँ आश्रम का दृष्टि ही नहीं, अनुसंधान छंद का सांगतिक प्रवाह भी
सातिवक सुवामा का वातावरण उत्पम करनेवाला है। 'शिशुपाल-वध' में
इस कोटी के चित्र कहीं नहीं मिलते; कालिदास तथा भारती की तुलना में
वह कवि बिशुद्ध रजोगुणी सौन्दर्य का उपासक जान पड़ता है।

प्रकृति-सौन्दर्य

हम जान बुझकर संस्कृत महाकाव्यों से संबंधित प्रकृति-सौन्दर्य के
विषय को मानवीय जगत के सौन्दर्यविद्यातन के बाद हो रहे हैं। कारण यह
है कि संस्कृत काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य प्राय: मानव-जगत से अलग प्रेक्षण व
वर्गन का विषय नहीं है। वहाँ प्रकृति-सौन्दर्य का आकलन मुख्यतः मानवीय
नायकों अथवा दूसरे प्राणियों को विहार-क्रीडा की पृष्ठभूमि के रूप में
हुआ है। प्रकृति मुख्यतः उद्धीपन का कार्य करती है। संस्कृत काव्य का
मनुष्य प्रकृति से विचित्र नहीं है, उसी के अर्थ में रहता हुआ वह जीवन
की संज्ञा-समझ का उपयोग करता है। क्रूटुओं का वर्गन भी हुए जाते हैं
साथ उनके सेवा के लिए उपस्थित हो गयी। तात्पर्य यह है कि प्रकृति का
भारतीय संस्कृति

पर्यवेक्षण और उसके दृश्यों में रस-प्रहर मनुष्य के जीवन-संबंधों के ही अंग हैं।

मनुष्य और प्रकृति एक-दूसरे से मिले हुए हैं; मनुष्य प्रकृति का भाग है।

विशेषतः संस्कृत काव्य में नारी और प्रकृति एक-दूसरे से बहुत ज्यादा संप्रक्षित हैं। प्रकृति का उद्देश्य-कार्य नारी के साहित्य में ही उत्पन्न होता है। इससे, संस्कृत कवि को, अथवा उसके नायक को, जहाँ प्रकृति रमणीय जान पड़ती है वहाँ वह प्रायः नारी-जैसी दिखाई देती है। संस्कृत कवि अक्सर प्रकृति की विषिश्ट छवियों में नारीत्व का आरोप करते हैं। नारी और प्रकृति दोनों मिलकर मनुष्य की संस्कृतिगत मायना को उत्तेजना के बूँप में देते हैं। रघुवंश में राजाओं का वर्णन करती हुई सुनन्दा बार-बार इलु-मती से कहते हैं कि वह राजा-विषेष के साथ प्रकृति की विषिश्ट रमणीय पीठिका में विहार करते वो तैयार हो जाय—

अनेन युना सा पारिवेने रम्भोह कब्जन्मनसो रूस्ते
सिम्मात्रज्ञानिलक्षितातुका विह्वतुमुदानपरम्परासु।
'अद्वास्य चाम्भः पूष्पकृष्टानि शोभायन्धीनि शिलालतानि
कलापिन्यां प्रारूढः पत्थू नूत्यं कातासु गोवर्धनकंदरासु।

रघुवंश, ६।२५, ५।१

‘हे युवे के खंभे जैसे ऊल्वाली! क्या तुम मेरे यह इच्छा है कि इस राजा के साथ सितारा-नदी की तरंगों को छूकर बाती हुई हवा से कपटी हुई उद्यानों की पंक्ति में विहार करो?’ ‘और वर्षा-अभूषन में गोवर्धन पर्वत की कन्दराओं में पानी की बूंदों से भीगे हुए, औषधियों की गंगवाले शिलालतों पर बैठकर मयूरों का नृत्य देखो।’ नारी से संप्रक्षित होकर प्राकृतिक वस्तुएं और भी उद्देश्य हो जाती हैं—

कुमुममेव न केवलमात्यं नवमशोकतरोः स्मरदीपनमु,
किंसत्यस्पर्शोपि विलासिनां मदयिता दयताधियानयितः।

रघुवंश, ९।२८
करी धुनाना नवपत्तवाकुंती वृंदा कुष्का मानिनि मा परिश्रमम्,
उपेयुषी कल्पनातीमिश्रिताय कथं न्यितत्सत्स्याति प्रख्याताविषः।
सरीराज्ञी नु विलिनविष्कपे विलोकादृष्टे: सिद्धमू सिलिचने,
शिरोहास्त्रं सिद्धतप्यसिताःसिद्धेशिरोहाः न विनाशन्निष्ठलम्;
अग्रूहास्वस्फुर्तिदक्षरेण मुखं सिद्धेतद् विकसस्मु पश्चज्ञम्,
इति प्रलीणां निलिनवने सबीं विदाम्ब्रभू: तुच्छेरे सोपितः।
किरातारुणीय, ८१७, ३५, ३६।

'हे मानीनी! नये पल्लवो-जैसे हाथों को कंपाते हुए व्यर्थ परिश्रम
मत करो, तुम्हें कल्पना समझकर पास आयी हुई धर्मराजकी कहीं इस तरह
थोड़े ही डरकर भाग जायगी!' 'ये भौरों से संयुक्त कमलपत्र है, अथवा
चंचल दृष्टिवाली के नेत्र? ये छुकी हुई बरोनियोंवाली के केश है, अथवा
शब्दहीन निर्मल धर्मशृंवन्; बिले हुए हास से दशनों-रूपी केसर को
प्रकट करता हुआ यह मुख है अथवा विकासमान कमल? इस प्रकार
कमलनीवन में छिपी हुई सबी को स्वयं बड़ी कठिनाई से पहचान
सकें।'

नारी एवं प्रकृति की एकस्थिति की यह भावना नारी-अर्जूणों के उपमानों
के विन्यास में भी प्रकट होती है। अभिभागशाकुंतलेन पुष्पन्त ने शकुन्तला
को देखकर उसका वर्णन करते हुए कहा—'किसलय-जैसे रज्ज्ववाला अघर है,
कोमल शाखाओं का अनुकरण करते वाली बाँध हैं और अंग-अंग में पूलों-
भारतीय संस्कृति

जैसा लुभानेवाला योवन गुंथा है। 'मुख की कमल से और केशों की भौरों से
उपमा कवियों को विशेष प्रिय है, किन्तु पुनराबृत्तियों के बावजूद वह कहीं-
कहीं बड़ी नयी जान पड़ती है–

तिरोहितान्तानि नितान्तमाकृतैशनि विगाहादलः: प्रसारिभि:
यथवच्छूनां चधनानि तुल्यतां द्विरेषवृद्धान्तानि: सरोऽहः।
किराताजुनीय, ८२४)

'जल में नहाती हुई युवतियों के मुखमंडल इधर-उधर फैलती हुई अस्त-व्यस्त
अख़लकों से अंशत: आवृत होकर भौरों से आच्छाद कमलों के समान
दिखाई दिये।' मेघोहुत में कालिदास ने भौरों के उपमान का हृदया ही उपयोग
किया है; मेघ को देखकर कुरुहुल से सभे दसपुर की वधुओं के कटाक्ष, हिलते
ए श्वेत कुन्द-कुसुमों का पीछा कर रहे भौरों की शोभा को चुराते प्रतीत
होते हैं–

कुन्दकपानूसमधुकरश्रीमुषाम् आत्मविंम्मू, ।
पात्रीकुर्वन् दसपुरचुंबू-नेत्रकौटूहलानाम्।

कालिदास की दृष्टि प्रकृति की मोहक छवियों में अवसर नारीभाषा का
आरोप करती है–

अभिमन्यू, परिचितुमिबोधता मलयमार्तककमितपत्त्वा, ।
अमदयसहकारस्ता मन: सकलिका कलिकामजितामपि।
श्रुतिसुखोपरमस्वस्वगीतयः कुसुमकोमलदल्दत्तस्वो ब्रह्मः ।
उपवनान्तततः पवनाहत्यः कितलयः: सल्यायती पाणिभि।
शुशुभिरे सम्बिधायक्षरानान: दिनय: हि रत्नशिशितमेक्कलः।
विकर्चात्मरसा शृद्धरीचिका मदकलोदकलोलिविष्णुमा।

रघुवंशा, ९१३, २५, ३७ ।

५. अभिनवशाकुन्तल, अंक १, लोक १८; ६. मेघोहुत, पूर्वमेघ ४७
सीतार-बोध और जीवन-संबंध

'नयी कलियों से भरी आम की लता, जिसके कोमल पत्ते मल्लाह-पवन
द्वारा कम्पित हो रहे थे, ऐसी जान पड़ती थी मानी (नटकी की भावति)
अभिनय का अभ्यास कर रही हो; वह काम-बोध को जीतनेवालों का मन
भी हुर लेती थी। कानों की सुख देनेवाला प्रभारों का गुज़रना ही जिनके सीति
थे, कोमल कुमुद ही जिनकी दल्सकतिति थी। वे उपवन की लताएँ लय-
पूर्वक गोतमानु हार्दियों के सामने पवन के आधार से हिलते हुए कोमल पत्तों
से शोभित हुई। गृहों के मोटर बनी हुई वापियाँ, जिनमें कमल बिल रहे
थे और जलपकी मद से कल शब्द कर रहे थे, ऐसी शोभित हुई जैसे मुसकान
से सुंदर दीननेवाली वे स्त्रियाँ, जिनकी कमर पर दीली करघंटियाँ बज
रही हैं।'

हमाने अब तक जो कहा उससे पाठक यह निष्कर्ष न निकालें कि संस्कृत
कवियों को स्वयं प्रकृति में चचि नहीं है, अथवा यह कि उनकी वह अच्छा
शृंगार-भावना की सहकारी मात्र है। वस्तुतः उनकी नारी तथा प्रकृति दोनों
में दीननेवाली अभिव्यक्ति का एक ही स्रोत है—उनकी जीवन-संबंध की
वृत्ति। उनकी मनोवृत्ति में उस अवकाश-भावना का समावेश है जो सीतार्य
के सतर्क एवं सूक्ष्म निरीक्षण और उस निरीक्षण में रस लेने के लिए अपेक्षित
है। यह कथन भी कि संस्कृत कवियों ने प्रकृति को मुख्यतः शृंगार-भावना
के उद्देश्य व पोषण के उपकरण के रूप में देखा है, उनकी सीतार्य-दृष्टि के
संबंध में पूरा सत्य नहीं है। कुछ स्थलों में प्रकृति का सीतार्य शान्त रस का
उद्देश्य व पुष्टि भी करता है। साथ ही यह भी सत्य है कि संस्कृत कवि कभी-
कभी प्रकृति के मनोरम चित्तों का विवाह से चित्रण के आनन्द के लिए भी
करते हैं। ऐसी स्थिति में उनका इधर के रोमांटिक एवं छायावादी कवियों
से मुख्य भेद यह रहे जाता है कि जहाँ इधर के कवि प्रकृति में अक्षर किसी
परा सत्ता की छाया देखते या देखने का दावा करते हैं, वहाँ संस्कृत कवियों
को उसमें अक्षर नारीलक्ष तथा उससे संबंध हाव-भावों की ही अभिव्यक्ति
दिखाई देती है। इसलिए प्रसिद्ध विचारक कोचे के मत में सीतार्य का अन्यतम
आधार संवेद चित्र या चित्रण की परिपूर्णता है। इस कलोत्तर पर जाँचने पर
संस्कृत काव्य के प्रकृति-वर्ण निर्मचय ही उच्च कोटि के जान पड़ैग। विशेषतः माध के लिये शिशुपाल-वध में सन्ध्या, सूर्योदय आदि से संबंधित अनेक चित्र केवल चित्रण के लिये सप्तशतिम दिखे गये हैं। कवि ने नव सर्ग में सन्ध्या तथा चन्द्रोदय का ओर ग्यारहवें सर्ग में प्रभात तथा सूर्योदय का नितान्त मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है। नवम सर्ग के कुछ पद देखिए,—

गतवत्यराजत जपाकुमुस्तवकुटा दिनकरेवनवति
बहलानुराणकुलवन्दलप्रतिवद्धमध्यमव दिखलायमु।
हुतशालकुमोहिनिमाणकुमोहिनी वापुर्धमग्नवपुषः परसि
हस्ते विरञ्चनवरमेलाहृज्जगाणकेतकरखण्डमिव।
पतिते पत्तुमूगराज़ि निजप्रतिविवरोधित इवाम्बुनिधि
अथ नागृथमलिनानिः जगत्परिस्तमांसिः परिततितारे इति।
किमलभावंतंबरविनमध्यमः किमवर्तोध्रववनीततः
विसःसार तिन्यान्य विरङ्ग्य इति प्रचुरीभवन्न निराधारि तमः।

शिशुपालवध, ९५, ९, १८, २०

'जपाकुमु के गुरू जी के समान चुतिवाला सूर्य जब नीचे लटक गया तो
दिशाओं का मंडल ऐसे शोभित हुआ मानो उसके मध्य में थोड़ी लालिमावली
पत्राराग मणि के टुकड़े टांक दिये गये हों। धतपाय हुए सुवर्ण जैसी कान्तिवाला
सूर्य का बुध (मंडल)पानी में बाधा डूबा हुआ ऐसे शोभित हुआ मानो ग्रहा
के नखों से दो टुकड़े फिर हुए विशाल ब्रह्मांड-गोरो का एक बंध हो। सूर्य-स्वर्गीय
सिद्ध मानो अपने प्रतिविव दो देखकर समृद्ध में चूढ़ गया, तब गज-सूर्यो-जैसे
मलिन अंधकार ने चारों ओर से संग्राम को दहक दिया। नितान्त चाना होता
हुआ अंधकार आकाश से लगा हुआ नीचे की ओर गिर रहा था, अथवा
पृथ्वीतल से ऊपर की ओर बढ़ रहा था, या फिर दिशाओं से निकलता हुआ
tिरंगा फैल रहा था—कुछ समय में नहीं आ रहा था।'

माध का प्रभात-वर्ण संस्कृत-साहित्य में बैजोड़ है। कुछ चित्र देखिए,
अष्टाधूलश्रीजयेन्द्रसुधाहस्ताप्रभादा
बहुमूल्यपुस्तका काजजलेन्द्रवरारी,
सीन्द्र-बोध और जीवन-संयोग

अनुपत्ति बिरावः पत्रिणां व्याहर्ती रजनिमिचरजाता पूर्वसंध्या सुतेव।

विततपृथ्विवर्तात्वल्युपम्यूँयः
कलश इव गरीयान् दिगिरंगाकः स्वयमाणः।
क्षत्रियविधुगालापकोणाइहलामिः—
जलनितिजलमध्यादेश उत्तायते।

उदयशिरस्वर्गूः प्राणेर्वेव रिखुः सकमलमुखहसं वीक्षितः पद्मनीभी
विततमुकुरारः शब्दहन्त्या क्वोभिः
परिपत्ति दिखोऽसे हेलया वायसूर्।

परिणमदिरामं भासकरेणांसुवाणैः
स्तिमिरकरिपाया सर्वदिशु क्षत्याः
थर्मामिव वहन्त्यो भालित बालातपेन
छुरितमुभयोधोधोवारितं वारि नथः।

शिशुपालवर, १२६०, ६४, ६७, ६९

रक्तवर्ण कमलखेरिणी हि जिसके सुनद्र हाथ-पैर हैं, जिसके इत्तीवर-
नयनों में भौरे काजल-जैसे दीखते हैं, ऐसी पूर्वसंध्या (उपा) विश्रु
कन्या के समान पक्षियों की आवाज में बातें करती हुई रजनी-रूपी
जननी के पीछे दौड़ रही है। दिशायुः बडे कलश-जैसे सूर्य को लम्बी-मोटी
रसियों-जैसी किरणों से समुद्र के जल के बीच से खींच रही है; पक्षीगण जो
बोल रहे हैं वही मानो कलश के बीचने का शब्द हो रहा है। उदयाचल के
शिरस्वर्ग अङ्गन में रंगता हुआ बालक सूर्य, जिसे हेतु हुए कमलमुखों से
पचिंतियां देख रही हैं, जिसके कोमल किरण रूप हाथ फैले हुए हैं,
पक्षियों के शब्दों द्वारा पुकारती हुई मातारूप दिव की गोद में बैठता
हुआ मिर रहा है। सूर्य ने अपने किरण-रूप बाणों से सब दिशाओं
में फैली अंधकार जैसी गजघटा (हाथियों की पंक्ति) को घायल कर
दिया। कोमल स्वर्णालिक से नदियां ऐसी शोभित होती है मानो दोनों
भारतीय संस्कृति

टड़ों के बीच पकायी हुई मदिरा-जैसे रंगवाले शिर को बहाकर ले जा रही हैं।

ऊपर के वर्णों में भारतीय सौन्दर्य-संवेदना की एक अपनी निजी विशेषता लक्षित होती है। भारतवर्ष एक विशाल देश है, यहाँ के कवि घरती व आकाश के विस्तार को देखने के अभ्यस्त थे। फलतः उनके लिए सौन्दर्य-चित्रण में विशालता का समावेश करना सहज हो गया है। अर्थात् उनकी चेतना सुन्दर का ही नहीं, उदात्त का भी अनायासित आकलन करती है। सूर्य की बड़े कलश तथा छोटे बालक से तुलना करना यह प्रकट करता है कि वे बड़े आकारवाली वस्तुओं के छोटे भागों से भी सुपरिचित हैं। संस्कृत कवियों द्वारा प्रदर्शित हिमालय पर्वत के वर्णन उनकी आकार-सम्बन्धी विराट की भावना को बड़ी सफलता से प्रतिफलित करते हैं। हिमालय का वर्णन काव्यदास तथा भारतवर्ष दोनों ने किया है। शिशुपालवध में हम रैवतक पर्वत का वर्णन पाते हैं। हिमालय की ऊंचाई का आभास देने के लिए काव्यदास ने एक अनोखे विचार का सहारा दिया है—

सप्तपिंग्लविष्णुविशेषाणीकृति विवरणानु परिवर्तनान्;
पद्मापिं प्रसरोकहाणि प्रवृत्तायुपिश्चूमणेनै।

कुमारसंभव, १११६

'सप्तपिंग्लियों के हाथों द्वारा चुनने से बचे हुए, हिमालय पर्वत के विषयों पर स्थित सरोवरों में उगनेवाले कमलों को, नीचे परिक्रमा करता हुआ सूर्य ऊपर की ओर जानेवाली किरणों से बिलाता है।' मतलब यह कि हिमालय की चोटियाँ विशाल अवसरों पर सूर्यमंडल से भी ऊंची जान पड़ती है। रैवतक का वर्णन करते हुए कवि माघ कहते हैं—

आच्छादितायतिरिक्तमुन्नतलक्षण्योऽधिकरिग्मूः
आकाशम् संस्थितमुद्गितविशालःसुगमः
मूहिन्द्र स्वल्पलिङ्गदीधितिकोटिमेन्माः
उद्दीक्षण को मोहि न विस्मयते नवेयाम

शिशुपालवध, ४११९
‘विस्तृत दिशा-रूप अंबर को जो धारण किये हुए है, विशाल ऊँचे शिखरों वाला जो पृथ्वी को आकाश करके स्थित है, जिसके सिर में चन्द्रमा की कला टैंक रही है, उस परवर्तराज को देखकर किस भूमिवासी को विस्मय नहीं होता ?’ भारति ने हिमालय की विशालता का बोध बढ़े चमत्कारिक दंग से कराया है—


tपतनमण्डलदीविपितकेतः सततनैशतमोबूतमयः
हसितभिन्नतमसम्भवं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा

किरतार्जुनीय, ५१२

‘विशाल हिमालय पर्वत एक और सूर्यमंडल द्वारा आलोकित है और दूसरी और सदैव रात्रि के अंधकार से बड़ा रहता है। वह उन शिव के समान जान पड़ता है जो सामने की दिशा में अपने हास की किरणों द्वारा अंधकार को छिपा कर रहे हैं और जिनके पीछे का काल (अंधेरा) गजचर्म है।’ यहाँ हिमालय की शिव से उपमा विशेष अर्थव्यतिर नहीं होती है, यह प्रकाश तथा अंधकार के रंगों का प्रत्यक्षकरण तो करती है, इसी प्रकार हिमालय की विशालता को अधिक मूर्त नहीं बनाती। माध का निम्न पद इस दौर से मुक्त है—

उदयति वितलोथरसिरमण्डलाविमलती हिमावर्धिनि याति चालम्,
वहिति गिरिरंग विलम्बितप्रवाहपरिवारितवारणंद्रलीला भूमि

शिशुपालवध, ४१२०

‘जब रसियों-जैसी विस्तृत-ऊँची किरणोंवाला सूर्य उदित होता और बैसी ही किरणोंवाला चन्द्रमा अस्त होता है, उस समय यह पवित्र उस गजराज के समान जान पड़ता है जिसके दोनों बाजुओं में रसियों से बंधे घण्टे लटक रहे हैं।’ जिस पर्वतराज के दोनों और लटके सूर्य तथा चन्द्रमा हारी की पीठ से लटकते घण्टे-जैसे सूक्ष्म दिखाई देते हैं, उसकी विशालता का किंतु सेह ही अनुमान हो सकता है। इस चमत्कारी पद के रचयिता कवि को ‘घण्टामाघ’ के नाम से याद किया जाता है।
हमने देखा कि उत्कर्ष-काल के महाकवि मानव-जगत् एवं प्रकृति-जगत्
दोनों के सौन्दर्योद्घातन में सिद्ध हैं। वे जीवन के सम्मोह-पक्ष की सहज
रस्सरता स्वीकार कर उसका वर्णन करते हैं। अगले अध्याय में हम पाएगे
कि जीवन के नीति-पक्ष एवं विवेक-पक्ष के प्रकाशन में भी वे उतने ही
जागरूक एवं कुशल हैं।
तीसरा अध्याय
नीति-बोध और जीवन-विचेक

विषय-प्रवेशा

नीतिक बोध तथा आचरण के दो पहलू हैं। जिन्हें हम नीतिक गुण कहते हैं उनमें से साहस, उदारता आदि कुछ गुण व्यक्तित्व को आदर व श्रद्धा का पात्र बना देते हैं; इसी को समाज के नीतिक गुण हमारे सामाजिक व्यवहार में, हमारे तथा दूसरे नर-नारियों के पारस्परिक संबंधों में, प्रतिफलित होते हैं। राजाओं की नीतिक विशेषताओं उनकी प्रजा के सुख-दुःख का कारण बन जाती हैं। तथाकथित सामाजिक नीतिक गुणों का एक और कार्य भी है—अपने आत्मव्रजत का व्यक्ति को विजय, एवं विजय आदि की प्राप्ति के योग्य बनाना। यानी व्यक्ति का दृष्टि से जा तो सकता है कि मनुष्य के सभी नीतिक गुणों का प्रकाशण सामाजिक जीवन की परिधि में होता है; साहस उदारता आदि की अभिव्यक्ति किसी अन्य जीवन में संभव नहीं है। नीति-बोध से ताल्लुक मानव-व्यक्ति का उन विशेषताओं की चेतना है जो मनुष्य को कम-बढ़ सफल एवं आदर्त सामाजिक व्यक्ति बनाती हैं।

मनुष्य समाज में रहता है, इसलिए हम उसके उन गुणों पर ध्यान देते हैं जो मनुष्यों के बीच उसकी भली-बुरी स्थिति का निर्धारण करते हैं। किन्तु मनुष्य का जीवन केवल समसामयिक समाज में समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य मानव-जाति के इतिहास की अपेक्षा में भी रहता है, और विश्व-ब्रह्मांड के विस्तार में भी उसकी एक सचेत स्थिति हो सकती है। ताल्लुक कि संवेदनशील मानव-व्यक्ति अपने जीवन की गति-विधि को इतिहास तथा ब्रह्मांड की पीठिका में भी आलोचित करता है। यह आलोचना उसे आशावादी या निराशावादी, भाव्यवादी या पुरुषार्थवादी और ऐसे ही
यहाँ सम्बंध मनोभावों से अनुमतिण तरीके हैं उसमें जीवन के प्रति एक समग्र दृष्टि उत्पन्न करती है। इस दृष्टि को हम जीवन-विवेक कह सकते हैं।

एक विकसित मन-बुद्धिवाली जाति का नीतिबोध एवं जीवन-विवेक भी बहुमुखी, व्यापक एवं अनुभवानुमोदक होता है। विभिन्न जातियाँ अपने अपने ऐतिहासिक जीवन तथा अनुभवों के आलोक में अलग-अलग नीतिबोध एवं जीवन-विवेक का प्रतिपादन व साक्षात्कार करती हैं। फिर भी, यदि मानव-प्रगति नाम की चीज का न्यूनाधिक सीमित एवं निश्चित अर्थ है, तो मानना पड़ेगा कि विभिन्न ऐसी जातियाँ के, जो इतिहास की दृष्टि से प्रगति-शील रही हैं, नीतिबोध एवं जीवन-विवेक के रूपों में कुछ-न-कुछ समानता रही है। इस वक्तव्य का एक निष्कर्ष यह भी है कि उक्त बोध तथा विवेक की दृष्टियों से विभिन्न जातियों में भिन्नता के लिए भी गुंजाई है।

इसलिए, चूंकि विभिन्न जातियों की प्रगति के रूपों में कुछ-न-कुछ समानता रही है, इसलिए मानना चाहिए कि एक उसत जाति के बोध और विवेक से दूरसे जाति या जातियाँ लाभ उठा सकती हैं। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि प्रायः सभी उसत जातियों के प्रबुद्ध नेता व सदस्य ज्ञान तथा सदाचार को महत्व देते हैं; जीवन-संग्रह के रूपों तथा प्रकारों में भी विवेक की समृद्धता जातियों में बहुत-सी समानताएँ हूँड़ी तथा पायी जा सकती हैं। प्रत्येक उसत जाति अपने ऐतिहासिक जीवन में कुछ गलतियाँ भी करती हैं, किन्तु यह ज्ञान नहीं कि विभिन्न जातियाँ एक-सी गलतियाँ करें। फिर भी एक जाति दूरसे जाति की प्रभावित भूमि से उसी प्रकार सीख ले सकती है जैसे कि उसकी उपयोगी विशेषताओं से।

हमारे देश के साहित्य में रसु तथा राम के वंशजों का चरित्र भर्ति-बोध का स्रोत रहा है। अपने ‘रचयित’ महाकाव्य में काल्हिलास ने जगह-जगह रचयिताओं की नीतिक चर्चा तथा नीतिबोध का विवरण दिया है। इस विवरण में कवि की सन्दर्भ-दृष्टि तथा लोकमान्य-दृष्टि, सौंपत्र ही पूर्णतया प्रतिफलित होती है। काल्हिलास द्वारा दिये गये रचयिताओं के चरित्रसंबंधी विवरण
नीति-बोध और जीवन-विवेक
एवं चित्र भारतीय नीति-बोध के उदात्त उदाहरण उपस्थित करते हैं; महाभारत के कथाकों को लेकर चलनेवाले महाकाव्य उक्त बोध को अपेक्षाकृत अधिक संर्षण की भूमि व पीठिका में उद्धारित करते हैं।

कालिदास के अनुसार नैतिक व्यक्तित्व

महाकवि कालिदास ने रघुवंशी बीर नायकों के नैतिक व्यक्तित्वों को अनेक स्थलों में वर्णित किया है, रघुवंश के पहले सर्ग के प्रारम्भ में उक्त बीरों का सामान्य परिचय दिया गया है—

सोज्ह्माज्ञनभूद्वानामाफलोधकमर्कंगणामु,  
यथाविविधहठानीनां यथाकामार्चितताधिनामु।  
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनामु,  
त्यागाय सम्भूतार्थानां सत्याय मितभाैतिनामु।  
यथासे विजिष्टधूनां प्रजाये गृहमेधिनामु,  
शैशवेद्वस्तविधानां योवने विषयैधिनामु,  
वाचके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तत्तुल्यजामु।

रघुवंशः, ११५, ६, ७, ८

'रघुवंश के बीर राजा जीवन भर शुद्ध रहते थे, वे तब तक किसी काम के लिए जव तक उसका फल प्राप्त न हो जाय। वे विभिन्न कार्य में भारी करते थे, मिठुकों की कामनाएं पूरी करते थे, अपराध के अनुपात में दण्ड देते थे और समय पर सोकर उठते थे; वे त्याग के लिए धर्म एकत्रित करते थे, सत्य के लिए मितभाभी बने रहते थे, यथा के लिए विजय-कांक्षा करते थे और संतान के लिए विवाह। वे बाल्यवस्था में विद्या का अभ्यास करते थे और योवनकाल में विषयों की इन्द्रा; वृद्धवस्था में वे मुनियों की भक्ति आचरण करते थे और अंत में योग द्वारा बाहर त्यागते थे।' कवि के इस वर्णन से स्पष्ट है कि रघुवंशी राजा वर्णध्रम-व्यवस्था के आदर्श अनुगमी थे। इसके अतिरिक्त वे सक्षम कार्य-साधक भी थे।
भारतीय संस्कृति

राजा दिलीप का आकार क्षत्रिय धर्म की आवश्यकताओं के अनुसार था। वे बड़े बलवान् तथा तेजस्वी थे। आकार के समान ही उनकी प्रशा या बुद्धि थी, और प्रशा के अनुसार शास्त्र-शास्त्र; शास्त्रों के अनुकूल उनके कर्म थे और तदनुसार उत्तर या अभ्युदय। उनमें भौम गुण (जैसे तेजस्विता) और काल्प गुण (जैसे प्रताप, ऐश्वर्य, अनुकृम्या आदि) दोनों स्थित थे; फलतः वे आश्रित लोगों के लिए वैसे ही अभूष्य (जिसके सामने धुर्घट में की जा सके) और अभिमान (आश्रय या शरण लेने योग्य) थे जैसे जल-जन्तुओं तथा रत्नों से युक्त समुद्र अनादर के अयोग्य तथा आश्रय लेने लायक होता है। सेना तो मुख्यतः उनकी शोभा के लिए थी, प्रयोजन-सिद्धि के उपकरण मुख्यतः दो ही थें—अकृतित भाव से शास्त्रों में विचरण करनेवाली बुद्धि और धनुष पर चढ़ने हुई दोरी।

पाठक ध्यान दें, राजा दिलीप में केवल सुन्दर व कोमल गुण ही नहीं थे; उनमें वे कठीर विशेषताएँ भी थीं जो एक शासक को रोबीला एवं अनादर के अयोग्य बनाती हैं। वे शास्त्रों के जानकार भी थे—बहुत तथा मध्ययुग के महाराणा प्रताप-जैसे बीर-प्रकृति राजा वैसे शास्त्रस क्षत्रिय नहीं थे।

राजा दिलीप राज्य-संबंधी मंत्रणाओं को गुप्त रखते थे, उनके इंगित व आकार भी गुप्त संकल्पों को प्रकट नहीं होने देते थे। उनके साम, दान आदि के प्रयोग अपने परिणाम से ही अनुमानित हो सकते थे—जैसे पिछले जन्म के संस्कार सिर्फ अनुमान से ही जाने जाते हैं। वे शास्त्र होते हुए भी मौन रहते थे, बक्ति रहते हुए क्षमा करते थे और आत्मप्रशंसा के बिना दान देते थे। वे विषयों से आकृति नहीं होते थे और शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् थे, उनकी धर्म में रति थी; फलतः वृद्धावस्था के बिना भी वे मृत्यु थे। शिफ्ट आदमी श्रद्धा होती थी भी उन्हें प्रिय था—जैसे रोगी को उद्दाम भित्ती होती है। कुष्ट व्यक्ति प्रिय अयात संबंधी होते थे भी वैसे ही त्याज्य था जैसे सर्प के काटी हुई उंगली।

1. रघुवंश, ११५-१६, १६-२०, २२-२३, २८।
रघुपुत्र अज ने उस राज्य को, जिसे राजाओं के बेटे हुए करने वाला भी अपने अधीन करने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए स्वीकार किया कि पिता की वैसी आज्ञा थी, भोग-तृप्ति से नहीं। दो चीजों दो शुभ वस्तुओं से सहचरित होकर विशेष शोभित हुई; अज के साहचर्य से पिता से प्राप्त समृद्ध राजा का पद, और निवन्य से सहचरित अज का योग था। प्रजाओं में प्रत्येक यहीं सोचता था कि राजा की दृष्टि में सबसे अधिक मान्यता मेरी ही है; जैसे समुद्र के निकट सेकड़ों नदियों में से किसी की अवमानना नहीं होती, वैसे ही अज को प्रजा का कोई सरदार अपने को अवमानित नहीं समझता था। वह न तो कठोर ही था, न बहुत मुद्रा। मध्यम मार्ग का अवलंबन करके उसने दूसरे राजाओं को जुकामा दी, पर नष्ट नहीं किया—जैसे पवन वृक्षों को न उखाड़कर सिर्फ झुका देता है।

वायु ग्रंथ में कवि ने दर्शन के स्वभाव, शील आदि का वर्णन किया है। राजा दर्शन काम करनेवालों को समय से पुरस्कृत करके उनके श्रम का अप्याय कर देते थे। वे अभ्युदय की कामना रखते थे, फलत: शिकार, मदिरा और नवयोगिनवाली प्रीतकाम, कोई भी उन्हें उचित मार्ग से नहीं हटा सकता था। इनके समुद्र भी वे दीन वाणि नहीं बोलते थे, परिहास में भी शून्य नहीं बोलते थे, और लाहौर के प्रति भी कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। कुछ प्रजाओं ने उनसे अभ्युदय प्राप्त किया और कुछ ने अवनति व बिनाश; वे आज्ञा का उल्लंघन न करनेवालों के मुहूर्त थे और उनके लिए, जो स्थान से गरजते थे, नितान्त कठोर। यद्यपि महाराज दर्शन चक्रबल्ली सम्मान थे, तथापि यह देखकर कि राज्यवधी शोंड़े-से बहाने से छोड़कर चल देती है, वे आलंकारीन एवं पूर्णतया जागरूक बन गए।

यहाँ हमने कालिदास की उक्तियों के आधार पर रघुकुल के तीन राजाओं के चरित्र एवं स्वभाव का वर्णन किया। कालिदास की दृष्टि में

2. वहीं, 612, 6, 5, 6।
3. रघुवंश, 613, 7, 5, 6, 15।
नयविद्वद्विने राजि सदसञ्जोपदशितम्।
पूर्बं एवाभवतपश्चस्तसमभावचुरुत्तरः।
रघुवंशः ४११०

'नीति-विशारदोंने रघु को सत्तू और असतू, धर्मयुद्ध तथा कूटयुद्ध, दोनों ही के रास्ते मुझाये, किन्तु उसने पहले को ही ग्रहण किया, दूसरे को नहीं।' यह एक आदर्श राजा की आदर्श परिस्थितियों में संभव हो सकता है। किन्तु सब राजा इतने शक्तिशाली नहीं होते कि शत्रुओं के समक्ष सदैव विजयी हों, और न सबके लिए यही संभव होता है कि सदैव आदर्शों का निर्वाह कर सकें। व्यक्तिगत जीवन एवं राजनीति दोनों में अक्सर कार्यक्षेत्रों को भलाई-बुराई के बीच समझौता करना पड़ता है। सच यह है कि रघुवंश के उक्त राजाओं में किसी को असली संघर्ष नहीं लम्बा रहा, फलतः उनके चरित्र-संबंधी वर्णनों में यथार्थ-दृष्टि का उद्धत समावेश नहीं हो सका है। देखने की बात यह है कि आदर्श राजाओं का वर्णन करते हुए भी कालिदास यह संकेत करना नहीं भूले कि उन राजाओं के चरित्रों में रजोगुणी प्रवृत्तियों का भी समावेश रहता है। दूसरी लक्ष्य करने की बात यह है कि भारतीय संस्कृति के
नीति-बोध और जीवन-विवेक

इस प्रतिनिधि गायक की दृष्टि प्रायः उन सभी गुणों पर पढ़ जाती है जो व्यक्तित्व को कार्यक्षम एवं महत्वपूर्ण बनानेवाले हैं। हमारा अनुमान है कि किसी भी सम्य देश का कोई भी कवि आदर्श राजा रूप के इससे अधिक सुन्दर चित्र नहीं खोज सकेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि कालिदास के आदर्श शासकों के ये चित्र दूसरे देशों के साहित्य-प्रेमियों को भी शिक्षक एवं राजनीतिक ज्ञान पढ़ेगे। वे चित्र इतने आदर्श नहीं हैं कि धरती के वास्तविक शासकों पर लागू ही न हो सकें, फिर भी वे विश्व के मुद्दे भर में शासकों के ही प्रतीक बन सकेंगे।

'किराताजुरूनीय' तथा 'शिशुपालवंद' के कथानक महाभारत के संचर्पूर्ण सन्दर्भों से लिये गये हैं, इसलिए इसके भारतीय नीतितत्त्वों की यथार्थ-दृष्टि के लिए ज्यादा अवकाश है। वास्तविक अंतर्द्वेष की भूमि में पुढ़चने पर शासकों को अधिक यथार्थवादी वन जाना पड़ता है। शासकों में पाये जानेवाले गुण दो प्रकार के होते हैं; एक वे जो उनके मनोरंजन-रूप को प्रकाशित करते हैं, और दूसरे वे जो उनके शासक-रूप पर रोकने दालते हैं। कालिदास के विवरणों में उक्त दोनों कोटियों के गुणों का समृद्धि उल्लेख है। प्रथम कोटि के गुणों की चेतना भारतव प्रायः भाषा में नहीं है, ऐसा नहीं; किंतु उनकी वर्णना का मुख्य विषय शासकों की वे विशेषताएँ हैं जो उन्हें शक्ति तथा ऐतिहासिक का प्राप्ति के लिए सक्षम बनाती है। इस प्रसंग में एक रोचक प्रश्न यह उठता है कि वैसी विशेषताओं में नैतिकता को कितना अवकाश है? अनिवार्य रूप में उक्त कवि यह दाशित करते हैं कि अंततः वे ही राजा सफल बने बिजयी होते हैं जो नीति तथा न्याय के मार्ग को नहीं छोड़ते। अंतिम विश्लेषण में नीति का रास्ता ही सफलता का रास्ता भी है।

किराताजुरूनीय में नैतिक आदर्श

'किराताजुरूनीय' में तीन स्थलों पर उन नैतिक आदर्शों का उल्लेख है जो विजयाकांक्षी शासक के लिए आवश्यक होते हैं। अनिवार्य रूप में ये आदर्श शासक तथा दूसरों के विभिन्न संबंधों में प्रतीकात्मक होते हैं। ये दूसरे
व्यक्ति तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—शासक के सेवक,
उसके सहयोग व भिन्न तथा उसके शान है। नीति के इस प्रवचनों अथवा
उल्लेखों में यह स्वर्ण मान लिया जाता है कि शासक का ध्येय विजय एवं
जीवन प्रदान है।

किरातार्जुनीय के पहले सर्ग में युधिष्ठिर के द्वारा नियुक्त गुप्तचर, जिसे
वनेर उनकी संज्ञा दी गयी है, दुर्योधन के राज्य का निरीक्षण करके लौटा हुआ,
वह का समाचार देता है। दुर्योधन ने राज्य को बेईमानी से प्राप्त किया है,
फिर उसके अब वह उस राज्य को नीति के दृष्टि प्रवचन पर प्रतिष्ठित कराया
बहादुर है। राजा युधिष्ठिर वन में हैं, फिर भी दुर्योधन उनसे बताता है। नया
का कारण यह है कि वह आशंका कि कहीं अपने वीर भाइयों की मदद से युधिष्ठिर
अपना राज्य बाप्स न लें। दुर्योधन अपने सुभाव से कुटिल है, तथापि वह
बहादुर है कि दुनिया की नजर में अपने राज्य से अधिक गुणवान सिद्ध कर दे।
वह गुण-संपत्ति से, गुणों की महिमा से, शुद्ध यथा का विशाल कर रहा है।
उससे काम, कोम आदि छह दोषों को जीत लिया है और इस कोशिश में है कि
मनु के द्वारा उपदेशित प्रजापालन की पद्धति को, जिसका आधार सदाचार है,
प्राप्त कर ले। रात-दिन के समय का ठीक के जीत से विभाजन करके, आलस्थ्यीत
होकर, वह नीति के साथ पुनर्खेत्र कर रहा है। वह अंकुर का परिस्थाप
करके सेवकों ने ऐसा अभ्यर्थ करा कि जैसे वे उसके स्वभाव मिट जाएं, तद्विद्या
मिटने का ऐसा सत्कार करता है जैसे वे उसके संबंधी हों और संबंधियों के प्रति
ऐसा भाव प्रदर्शित करता है मानिए वे ही राज्य के असली मालिक हों। उसका
निश्चल में-प्रकरण दान से अवदेश नहीं होता और दान सक्षार से अवदेश
नहीं होता; उसके सत्कार भाव आदर-प्रवधन का आधार गुणों का अनुराग
होता है। वह अपराधी को विष्टित ढंग से विविध करता है—फिर चाहे
अपराधी शान वही अभाव पुत्र; वह धर्म के लिए ही विष्टि देता है, न कि किसी
काल के लिए अथवा कोध के विशेषता होकर। अपने लोगों का चारों ओर
रक्षा-कायर में नियुक्त करके, मन में शंका रखते हुए भी, वह ऐसा भाव बनाता
है जैसे उसे उन पर दुरा भरोसा है; और वह अपने सेवकों को प्रभूत संपत्ति
देकर उनके प्रति कृत्तिता आपन बना है। तेजस्वी तथा मनस्वी धनुधर, जिन्हें मुख में कीर्ति पायी है, उसके द्वारा सदैव धन से सत्कर होते रहते हैं। वे लोग भी निःस्वार्थ भाव से, स्वामियों के हित के विरुद्ध न जाते हुए, प्राण देकर भी उसका भला करने का प्रयत्न करते हैं। अपने सच्चरित्र गुप्तचरों द्वारा वह इस्तेरे राजाओं के कार्यों को जान जाता है, इसके विपरीत स्वयं उसकी चेष्टाओं का जान उसके प्राप्त होनेवाले महत्वपूर्ण फल से ही होता है। उसे इसकी ज़रूरत ही नहीं पड़ती कि डोरी चढ़ाकर अपने घनुष को ऊँचा करे; न कभी वह चोड़ से अपने मुख को ही कुटिल बनाता है; उसके गुणों के अनुराग से ही दूसरे राजा उसकी आज्ञा को माला की भ्राती शिरोधार्य करते हैं।

दुर्योधन स्वभावत: धार्मिक वृत्ति का आकाश नहीं था, फिर भी वह दूसरे राजाओं तथा प्रजा के साथ बतौर में धार्मिक एवं सदाशिव होने का अभिनय करने की कला जानता था। भारती ने दुर्योधन को बदनाम करने के लिए इस स्थिति में अपना काम नहीं लिया कि उसके राज्य-शासन की बुराईयों की चर्चा कराये। इसके विपरीत काव्य ने बनेचर द्वारा दुर्योधन की प्रशंसा कराकर युधिष्ठिर तथा उनके भाईयों के मन पर यह अंकित करने की कोशिश की कि दुर्योधन एक कुशल नीतिवेद्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए पांडवों को विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। इस स्थिति के उल्लेख ने द्रौपदी तथा भीमसेन को विशेष चित्रित बना दिया। यदि दुर्योधन ने धीरे-धीरे अपने राज्य को सुधूर एवं सुरक्षित बना लिया, तो फिर पांडवों की विजय की क्या संभावना रहेगी? युधिष्ठिर ने समझाते हुए द्रौपदी ने कहा कि दुर्योधन बहुत चालक और मायावह है, यदि पांडवों ने उसके साथ चालाक एवं कपट का व्यवहार नहीं किया तो वे पराजय को प्राप्त होंगे। जो मायावियों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते उन्हें शटा लोग चुसकर वैसे ही नष्ट कर देते हैं। जैसे कब्ज़े से अरक्षित धारीवालों का तीक्ष्ण बाण। युधिष्ठिर ने उस राज्यश्री को, जो

4. किरातार्जुनी, ११५-११०, १२-१४, १६-२९।

१२
उन्हें पैदा करने के प्रयास के प्रमाण होते हैं, जैसे कि अपनी कुलवधु को किन्न जाने दिया—जैसे कोई अपनी कुलवधु को किन्न जाने दे। कोई भी व्यक्ति जिसे अपने बंश का अभिमान है, ऐसा नहीं होने देगा। मनस्वी, स्वाभिमानी लोग ऐसे गर्दे राते पर नहीं चलते; आश्चर्य है कि ऐसी परिस्थितियों में युविन्दक को कोई नहीं आता। जिस व्यक्ति में सफल कोह करने की क्षमता होती है और जो आपत्तियों से छुड़ने की योग्यता रखता है, वह मनुष्यों को स्वतं: ही वश में कर लेता है, लेकिन जिसे कोह ही नहीं आता—जो उपयुक्त अवसर पर कोह नहीं कर सकता—उसकी मिति और बैर दोनों ही निरस्त होते हैं; मित्र उसका आदर नहीं करते और बैरी उसका भय नहीं मानते। यह नहीं कि दुःख और आपत्तियाँ अपने में बड़ा दुर्भाग्य होती हैं—

हिस्सशेषिता यद्यं दशा तत्स: समूद्रमुन्मूलयतीव में भिन; परेप्पवांसितवीस्मपदं पराभववियुप्सङ्गाश्च मानिनामो।

किराताजुनीय, १६५२।

'आपकी यह (शोचनीय) दशा शब्दों के कारण है, इसलिए वह मुझे विशेष कष्ट देती है। जिन मानी बीरों की सौर्य-संपत्ति शब्दों द्वारा निर्धार नहीं होती, उनकी विपत्ति भी उत्तर के ही समान है॥' तात्त्वज्ञान यह कि विपत्ति अपने में उत्तम गृह्निगीत नहीं है, किन्तु शब्दों से प्राप्त होनेवाली पराजय व विपत्ति तुष्णा की चीज है। आपेक्षिक ने कहा—

बिधाय शांति नृप धाम ततु पुनः प्रसीद सन्ध्येषि बद्धय बिधिषाम, ब्रजलित शब्दनवधूर्य निःस्पृहा शमेन सिद्धि मुनयो न शुभ्वुतूऽ।

पुरुषराज धामतता यसोधना। सुदुःसहं प्राप्त निकास्मीदृश्याम, भवादृशशचेष्टदिकुब्ज्यते रति निराश्रया हन्त हता मनस्विता।

किराताजुनीय १६५२, ४३।

'हे राजन! शांति का परिलक्षण करके आप फिर शब्दों के विनाश के लिए अपनी पुरातन तेजस्विता को धारण करें। शांति द्वारा काम-कोह और दशाओं को जीतकर निःस्पृह मुनि लोग सिद्धि को प्राप्त होते हैं, न कि राजा—
राजा लोग अपने बैरियों को शाम आदि के द्वारा नहीं जीत सकते। और जैसे यहां लोग, जो तेजवानों में अप्रगण्य हैं; शत्रुओं से इस प्रकार अवश्य राज कर संतोष कर लेने तो फिर मनस्विता आश्रयाधीन होकर बत्तम ही हो जायगी—तब स्वाभिमान एवं आत्मगोर्ब की वृत्तियों के लिए जमह ही नहीं रह जायगी।'

हीरपदी का समर्थन करते हुए भीमसेन ने पुष्पिण्णिक रंग के सामने निम्न उद्गार प्रकट किये—

'इससे बढ़कर कष्ट की बात क्या होगी कि शत्रुओं द्वारा भाप ऐसी निन्दनीय स्थिति में पहुँचा दिये गये हैं और भापका वह पौर्व, जिसका महत्त्व देखता भी स्वीकार करते हैं; निश्चल एवं नष्ट हुआ जा रहा है।

समस्तकत लोग शत्रुओं के उस बड़े अभ्युदय को भी सहन कर लेते हैं जो शत्रुण्मुख है—जिसका अन्त विनाश है; किन्तु वे, जो अपनी उशरति चाहते हैं, शत्रु के उस भारी कष्ट की भी उपेक्षा नहीं करते, जो फल-संपत्ति अभित्रु अभ्युदय की ओर उम्रम है। समस्तकत शासक तभी उपेक्षा बरतता है जब वह जानता है कि शीघ्र ही शत्रु की अवतार होगी और अपनी उशरति; अन्यथा वह स्थिति का प्रतिकार करता है। जो शासक अनुसार द्वारा के कारण शत्रु की बढ़ती हुई प्रभु-रक्षक की उपेक्षा करते हैं उनके पास से रक्षा ही भाग जाती है।

इस भय से कि लोग उस (लक्ष्मी) की यह कष्टकर निन्दा न करें कि वह पत्तिया पुरुष से अनुराग करती है। उस स्वाभिमानी मनुष्य के लिए, जो अभीन्न उद्धेर पर आश्व आश्वासन चाहता है, अन्यथा को हटाने में समर्थ पुरुषार्थ ही अभिन्न आलम्बन है। जो ध्यान पुकारी नहीं है उसे विपिन्तियाँ चेर लेती हैं, विपिन्तियाँ तौर पर मनुष्य को तीरामध्य (सीमापर्व भविष्य) छोड़ देता है, वही व्यक्ति की लघुता निश्चित है, और जिसमें गरिमा नहीं है वह कभी राज्यवधी के योग्य नहीं होता। इसलिए अब उशरति की शत्रु ज्वोग-शून्य को छूटी दीजिये; समृद्धि सदैव पराग के साथ रहती है, न किसी विश्वाद के। सिहिं सदैव उन मदवर्धी हाथियों से तृप्त होता है जिनका उसने बुद्धिकार किया है; अपने तेज जगत्त को अभिमूल्य करता हुआ महान पुरुष दूसरों से
भारतीय संस्कृति

मिलनेवाली समृद्धि की कामना नहीं करता। वस्तुतः मनस्वी लोग, जो भाविमान को ही परम ध्यान समझते हैं और विनाशील प्राणों से स्वयं यश प्राप्त करना चाहते हैं, बिजली की चमक के समान चंचल लहरी की प्राप्ति को गोरी ही मानते हैं। (तात्पर्य यह कि मनस्वी लोगों के लिए मान-रक्षा ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, धन-संपत्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं।) दुनिया के लोग राख के देर पर ही पैर रखकर चलते हैं, जल्दी अवसर पर नहीं। इसलिए मानी लोग अपने प्राणों को खुश से त्याग देते हैं, किंतु तेज का परिवर्तन नहीं करते। इसलिए है राजनु! प्रमादरूप अंधकार को हटाकर आप पुरुषार्थ करने का संकल्प कीजिये। निश्चय जानिये, आपकी उद्देश्यों के ही शान्तियों की सारी विपश्चितियों को खत्म कर दिया है।

भारतीय ने द्रौपदी, भीमसेन तथा युधिष्ठिर तीनों को नीतियों के रूप में उपस्थित किया है। द्रौपदी तथा भीमसेन ने राजनीति के जिन आदर्शों का संकेत किया है वे अयुक्त नहीं कहे जा सकते। राजा का ध्येय शांति तथा विजय व समृद्धि है। इसे युधिष्ठिर भी अस्वीकार नहीं करते। यदि वे इसे भी मानते तो उनके तथा द्रौपदी और भीमसेन के बीच कोई सामान्य भूमि नहीं रह जाती; उस दशा में उनके बीच किसी प्रकार का विचार-विनिमय संभव नहीं होता। दोनों को उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने उनकी बातचीत के प्रेरक उद्देश्यों से मतभेद प्रकट नहीं किया, सिर्फ यह बतलाया कि अभियंता लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उनका निर्देशित रास्ता विशेष उचित नहीं है। जानिये हम देखेंगे कि ‘शिबुपालवध’ के कथा प्रसंग में भी ठीक यही समस्या उपस्थित होती है।

द्रौपदी तथा भीमसेन की बातचीत में जोश व उत्साह अधिक है, वे उत्साहपूर्ण प्रयत्न के प्रशंसक भी हैं। इसके विपरीत युधिष्ठिर सूक्ष्म विवेक-बुद्धि पर और सूक्ष्मतर नीति पर ज्यादा जोर देते हैं। भीमसेन को समझाते हुए युधिष्ठिर ने कहा—‘आपकी बुद्धिमानी से भरी बातों को मुनाफे के बाद अभी तक मैं निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहा हूँ। बात यह है कि जहाँ एक ओर सर्विच-विग्रह
वादिसुगम जान पड़ते हैं, वहाँ उनके सूक्ष्म प्रभेद सरलता से समान में नहीं आते। कोई काम जल्दी में नहीं करना चाहिए, अविवेक से बहुत-सी आपूर्तियाँ आ बढ़ी होती हैं। जो सोच-समझकर काम करता है उसके गुणों से कुछ होकर संपत्तियाँ सबसे उसका वरण कर लेती हैं। जो धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हुए कार्यपूर्वक बीजों को विवेक के जल से सूक्ष्म है, वहीं बाद में फल देनेवाली जिया का अनुपात बनता है—जैसे शरदू ऊँची में लोग धैर्यपूर्वक की हुई सिचाई से प्राप्त सत्य का लाभ उठाते हैं। श्रेष्ठ विवेक शरीर को अलंकृत करती है; क्रोध आदि पर नियंत्रण उस विश्व को अलंकृत करता है; उस नियंत्रण की शोभा पराक्रम से होती है; वह पराक्रम नीति द्वारा प्राप्त सफलता से भूषित होता है। विजयस्वत क्षाक्रोध के वेग को जीतकर, यह हिसाब उगाकर कि अनुपूर्त खल-सिद्ध प्रभूत ही नहीं, भविष्य में फलनेवाली भी होगी, पुण्यवर्ध का अनुकूल उपाय के साथ जोड़ते हैं। क्रोध अर्धे उदय वाहता है उसे पहले अपनी बुद्धि से कोई पूर्वकाल वंडकार का हुटा देना चाहिए; उदय होते से पहले सूर्य भी रात्रि के वंडकार का नाश करता है। (मतलब यह कि विवेक तथा प्रभावपूर्वक कर्म के लिए निराकार आवश्यक है कि मनुष्य क्रोध पर नियंत्रण करे।) विजयस्वत होते हुए भी जो शासक क्रोध से उत्पन्न होनेवाले वंडकार को नहीं दबाता, वह क्षयकाल के चन्द्रमा के समान क्रमांक: अपनी समस्त शक्तिसंपत्तिः-रूपी कलाओं को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत जो राझा समन्वित है और समय पर मृदुता तथा क्रोध को प्रकट करता है, वह अपने तेज से लोक को भैले ही आकाश कर लेता है जैसे कि सूर्य तिरंग को अपने प्रकाश से। जो विवेक प्रहार करने के बाद भी शरीर में उभरनेवाले क्रोध आदि श्राकाश को नहीं दबाते, वे ही लहराई पर यह कलंक लगाते हैं कि वह चम्पान है।

आयान्यूक्तिसूर्य के समान या कि दुर्योधन अहंकारी तथा दर्पयुक्त प्रकृति का है; ऐसे व्यवस्थित में कार्य-अकार्य का स्नान नहीं होता; और वह क्रमसंस्कृत: न्याय

६. वही, २१२६-३२, ३५-३६, ४१।
भारतीय संस्कृति

ब नीति के मार्ग से हट ही जाता है। उस दशा में लोग अवश्य ही उसके प्रति विरक्त हो जाते हैं। मदोद्रत दुर्योधन राजा की इच्छाओं का उल्लंघन करता हुआ उन्हें ऐसा (रूप) बना देगा कि वे हमारे द्वारा फोड़े जा सकें; साधारण लोग भी तिरस्कार नहीं सह सकते, फिर राजा तो लोक से कहीं अधिक तेज़वाले होते हैं। अहुंकारी लोग करते योग्य काम नहीं करते। उनकी विनय बोधि समय के लिए ही उनके अहुंकार को दबा देती है; ऐसे लोगों को मिलने-वाला ऐशवर्य व शक्ति अवश्य ही उनके दर्प तथा मद में वृद्धि कर देते हैं। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि विनय-सूत्र शान्त लगातार दिखाते हुए उपेक्षा करे; इस इच्छा में वह व्यक्ति सवार ही सरकर से जेय बन जाता है; बात यह है कि विनय से विवुक्त संपत्ति अंत में विपिन का ही कारण होती है।

यहाँ-युधिष्ठिर की युक्तियाँ की दिशा बहुत सफ़ा है। वे जाते हैं कि दुर्योधन स्वतः, भीतर से, भला नहीं है। वह घोर अहुंकारी है। इस समय उसने भक्तिरति का बाना पहन रखा है, किन्तु यह भक्ति बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। अंत में अपने अहुंकार की अवधारणा के द्वारा वह अवश्य ही साधी राजा को नाराज कर देगा। तब मौका हो गया कि पाण्डव लोग दुर्योधन पर दार्शन करें और उससे अपना राय्य बापस ले लें। पाठक देखें कि यहाँ-युधिष्ठिर यह मानकर चल रहे हैं कि अंततः विनयी एवं समर्पण व्यक्ति ही उन्होंने साहित्य-रूप में साथ रख सकता है। अहुंकारी तथा दुर्ग स्वरूपी मैत्री के योग्य नहीं होता और इसलिए शीघ्र ही अपने सहायकों द्वारा परिशोषण होता जाता है। फलका तथा समुद्र की प्राप्ति के लिए यह जहरीला है कि मनुष्य में कुछ नीतिक गुण हों और उसमें विशेष तथा विनयशीलता हो।

माध्य का नीतिक आदर्श

विशुध्दलोक में बलराम तथा उद्भव की वक्तृताओं के माध्यम से कवि

६. बंगी, २१४७, ४५, ४६, ५२।
नीति-बोध और जीवन-विवेक

माध ने भी कुछ ऐसी ही सीख देने का प्रयत्न किया है; किन्तु उसमें, जहाँ बलराम की नीति निरपेक्ष स्वार्थ-साधन पर बल देती है, वहाँ उद्देश्य की वक्तृत्व में भी नीतिकी की उपादेयता का उच्च आवासन नहीं मिलता। इस दृष्टि से भारविभ का नीतिशोध माध की अपेक्षा अधिक उदात्त जान पढ़ता है।

कृष्ण के सामने समस्या थी—रात-दिन अधिक सशक्त एवं उद्देश्य होते हुए शिशुपाल का निग्रह पहले करें, या पहले युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हों? बलराम की राय थी कि पहले शात्रु को बलम कर दिया जाय, इसके विपरीत उद्देश्य का सुझाव था कि प्रतीकों की जाय और युधिष्ठिर के समारोह को सफलता से संपन्न होने में दिया जाय। दोनों के विवरण और चित्तवृत्ति की भूमि एक ही है, अर्थात् आत्म-हित का साधन करने वाली राजनीति। बलराम ने कहा—मन्नद्रा द्वारा किये हुए विचार को, सब तरह से टकराकर रखने की कोशिश करते हुए भी, गुप्त रहना कठिन होता है; शात्रु लोग उसका भेद ले ही लेते हैं—जैसे अधीर प्रकृति का योद्धा, अपने अंगों को ढके रहने के बावजूद, शत्रुओं द्वारा बेघ दिया जाता है। नीति के सिफर दो मूल तत्व हैं, अपना उद्देश्य और शात्रु की हानि; इसे स्वीकार करके ही विद्वान् लोग अपनी वाणी का विस्तार करते हैं। बड़े लोग महान् ऐश्वर्य से भी तृतीय नहीं होते; पूर्णरूप से भरा होने पर भी समुद्र चट्टान के उद्देश्य की इज़्ज़ा करता है। जो धोख़ी-सी संपत्ति से अपने को स्वस्त या संतुष्ट मानने लगता है, उसके संबंध में कहना चाहिए कि विषयात्मा भी उसकी धोखी संपत्ति से कुलार्थता अनुभव करता हुआ उस संपत्ति में बृद्धि करना बन्द कर देता है। जो पराक्रम विज्ञा के दुःख से जला हुआ भी नीति रहता है; उसका जीवन व्यर्थ ही है; माता को कट्टे देनेवाले ऐसे व्यक्ति का जन्म न लेना ही अच्छा था। पवित्र में सिफर ऊँचाई है और समुद्र में सिफर गहराई; मनस्सी पुष्प में ये दोनों गुण होते हैं, जिसके कारण कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।

५. शिशुपालवध, २१२७-३२, ४५, ४६
भारतीय संस्कृति

इस सन्दर्भ में बतलाया गया है कि कृष्ण तथा शिशुपाल का वैर एक-दूसरे के विरुद्ध कायरों से हुआ है; ऐसे वैरी कभी एक-दूसरे को क्षमा नहीं करते। कौशिक कुश्चन मनुष्य वैर-भावाना जगाकर जो लोग निश्चित हो रहते हैं, वे उनकी तरह हैं जो गर में जलती आग ढालकर हुआ की ओर मुंह करके सोते हैं। तात्पर्य यह कि कृष्ण को तुरत ही शिशुपाल पर आक्रमण कर देना चाहिए। शिशुपाल से भांति व शान्ति की बात करना एकदम बेकार है; इससे उसका कोई फायदा ही और बढ़ागा जाते कि पानी की बूंदें डालने से गर्म ही और भी जलने लगता है।

बलराम के बाद उद्योग ने अपना मत प्रकट किया। उद्योग ने जिस नीति का संकेत किया उसमें युविन्थ तक का अंत्य आदर्शवाद दिखाई नहीं देता। उद्योग की दृष्टि पूर्णतया यथार्थवादी है। किंतु वे बलराम की उच्चभाव मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करते। शासक की उत्तमत प्रजा तथा उत्साह दोनों पर-निर्माण करती है, सिर्फ उत्साह पर नहीं। जयकान्ति भारती की युवितेशुक्त बुद्धि का आधुनिक लेखा चाहिए। बुद्धि की चोट सृष्टि किंतु तीव्र होती है; तीव्रता बुद्धिवाले लोग बाण की भांति बोधे ही स्वयं में छोटे हुए भीतर धुस जाते हैं। इसके विपरित स्पूल वस्तु अधिक धरातल को छुड़ी है, किंतु पत्थर की तरह बाहर ही रह जाते हैं। केवल उत्साह स्पूल वस्तु है। वह वास्तव में अनुष्ठानों का वोटक होता है। विचारशृंख्ला लोग छोटा-सा काम शुरू करते हैं और उसके लिए बहुत ज्यादा भाव हो जाते हैं। इसके विपरित बड़ी बुद्धिवाले व्यक्ति बड़े काम शुरू करते हैं और फिर भी निराकुल बने रहते हैं। समस्त्रार राजा जानता है कि न केवल तेज से काम चलता है और न एकांत क्षमा से—ठीक वैसे ही जैसे रस्सा कवि जानता है कि केवल अोज अथवा केवल प्रसाद गुण काफी नहीं हैं। शमुखों के अपकार करने पर भी समस्तार राजा अपने कोई को प्रकट नहीं करता; वह समय आते हैं पर, असाध्य रोग की भांति, अपना जोर दिखाता है। बुद्धिमान राजा न अकेले थे।

६. बही, २१४२, ५५।
नैति-बोध और जीवन-विवेक

दैव पर निर्भर करता है न केवल पुरुषार्थ पर; वह दोनों का ध्यान करता है, जैसे ग्रेश को शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है। बुद्धिशाली राजा कभी-कभी बुद्ध कुछ किये बिना ही दूसरों द्वारा उपलब्ध की गयी स्थितियों को अपने लिए लाभकारी बना लेता है।

हमने कहा कि उद्धव की नीति में नैतिक आदर्शवाद का पुत्र नहीं है। इस संबंध में उन्होंने एक ही बात कही कि युधिष्ठिर के यज्ञ के अवसर पर कृष्ण के लिए यह उचित नहीं कि वे शिशुपाल से युद्ध शुरू करके पश्चात्विपक्ष के सारे राजा को आंदोलित कर दें; ऐसा करते हुए वे ही अजातशत्रू युधिष्ठिर के पहले शत्रु दिखाई पड़ते हैं, जिससे पांडवों की सहानुभूति भी बिखेर जाती है।

स्पष्ट ही यह विचार किसी भी भारतीय नीति की ओर संकेत नहीं करता। इसी प्रकार कृष्ण को यह स्मरण दिलाना कि उन्होंने अपनी बुद्धि को शिशुपाल के सौ अपराध कसाते का आश्वासन दिया है, विशेष नैतिक महत्त्व नहीं रखता। उसका सिफर यही मतलब है कि युद्ध योग्यता को अपने वचन का पालन करना चाहिए।

कालिदास से माय की नीतिचेतना तक यात्रा करते हुए ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय नीति-बोध कम्युनिस्ट: अधिकारिक यथार्थवादी होता जा रहा था। रचनात्मक बायांवादी नैतिकता का चरम उभरेव, जब कि शिशुपालोत्सव में यथार्थवादी स्वर की प्रधानता है। कालक्रम के दौरान ही नहीं, नैतिक संबंध हरे की दुनिया से भी, मायावत की स्थिति उक्त दोनों कवियों के बीच में है। किराताजूनीयों में राजनीतिक यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का सन्दर्भ सामाजिक स्थापित किया गया है। बहुत युधिष्ठिर यह शिक्षा देते पाए जाते हैं कि शक्ति तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भी यह अनवर्तमान है कि शासक अपने में केंद्रित नैतिक गुणों को प्रतिष्ठा करे। सामाजिक एवं वैयक्तिक कल्याण का ऐश्वर्य तथा शक्ति से विशेष संबंध है; इस संबंध की

10. वही, २१७६-७६, ५३-५५, ५६, ६९।
11. वही, २१०२।
भारतीय संस्कृति

अनिवार्यता के अनुपात में ही व्यक्ति तथा समाज के जीवन में नैतिक व्यवस्था की जरूरत है। संकेषण में उल्कर्षकालीन भारतीय कवियों की, नीतिबोध के श्रेणी में, यह भी महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस नीतिबोध को हम आदर्शवादी कह सकते हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि नीति के भारतीय आचार्यों में यथार्थ-दृष्टि का पर्याप्त पुढ़ नहीं है। राजनीति तथा जीवननीति के क्षेत्र में यथार्थवाद के दो पहलू हैं; एक का संबंध जीवन के अनुच्छेदिनीय साधनों से है और दूसरे का साधनों से। लोकिक मुख के लिए शक्ति व संपत्ति जरूरी है, यह अवगति उल्कर्षकाल के सभी विचारकों में पायी जाती है। स्वयं युद्धित्तिर भी इसका अपवाद नहीं है। दौपीदी तथा भीमसेन से विमर्श करते हुए वे कहते हैं इस तथ्य की सचाई में अविवश्वास प्रकट नहीं करते। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि धन तथा शक्ति भी साधन ही हैं, सात्त्विक नहीं। भारतीय नीतिकारों को यह स्थापना अस्वीकृत नहीं होगी। किन्तु वे जानते थे कि ये साधन जीवन के सुख-दुःख से ज्यादा गहरा संबंध रखते हैं। इसलिए स्वयं व्यासजी ने भी पांडवों को यही सोच दी कि वे अपनी शक्ति का विस्तार करने की कोशिश करें।

उन्होंने कहा—

लभ्य धरित्री तव विक्रमेन ज्यायांश बीयास्वरभृविवृपसः,
अतः प्रकर्ष्याय विधिविधेय: प्रकर्ष्यतन्त्रा हि रणो जयश्री:।
किराताणुपर्णय, ३१।१७

'आपको धरती अर्थात् राज्य पराक्रम से ही प्राप्त होगा, किन्तु इस समय शक्ति तथा अस्त्रवाल दोनों दृष्टियों से आपके प्रतिपक्षी ज्यादा बलवान् हैं। इसलिए आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इन चीजों में उल्कर्ष प्राप्त हो जाय; युद्ध में विजय शक्ति तथा शस्त्रास्त्रों के उल्कर्ष पर ही निर्भर करती है।' व्यास के इस उपदेश को नानक ही अर्जुन दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए तप करने लगे गये।

यहाँ पाठक एक बात लक्ष्य करें; राज्यश्री शक्ति से प्राप्त हो सकती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। स्वयं भगवानु क्रष्ण पांडवों के संबंधी थे, किन्तु
पाण्डवों में यह नहीं सोचा कि उन्हें राज्यप्राप्ति के लिए कुण्ड को प्रस्ताव करके उनकी कुपा का अवलम्ब लेना चाहिए। उत्कर्षकाल के कवि इस बात को विशेष महत्व देते हैं कि प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण शास्त्रीय राजा उत्कर्ष के लिए स्वयं अपने पुरुषार्थ पर निर्माण करते थे। इस पुरुषार्थ में वस्त्रभर तथा शास्त्रवल दौरों का समावेश था। कालिदास के शब्दों में दिलीप-जैसे राजाओं के प्रयोजन की पूर्ति करनेवाली दो ही मुख्य चीजें थीं, शास्त्रों में अकूंतित बुद्धि और धनुष पर चढ़ी हुई थी।

बुद्धि तथा राज्य आदि की प्राप्ति के न्यायोचित साधन समावेश जाते थे। साधनों में कूटनीति की भी गणना होती है, उसके प्रयोग में नैतिकता तथा अनैतिकता का प्रश्न बड़ा हो जाता है। दौरान तथा भीमसेन एक सीमा तक इस पक्ष में हैं कि विजय-प्राप्ति के लिए शासक को नैतिकता का ध्यान छोड़ देना चाहिए; बलराम इस दिशा में और भी आगे बढ़ जाते हैं—

यज्ञात् पाण्डवः स्वर्गमविव्यन्नस्तपतिविनः।
वर्यं हृनां द्विप्रत: सर्वं: स्वर्थं समीहते।

शिशुपालवधः, २१६५

'पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यज्ज रहे, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें, सूर्य तथा करें; और हम अपने शान्ताओं को मारें—हर कोई अपने स्वर्थ की चिंता करता है।' तात्पर्य यह कि युधिष्ठिर के यज्ञ का विचार करके कुण्ड शिशुपाल के वध से विरल हों या उस कार्य को स्थगित कर दें, यह उत्तिप नहीं। यह नीतिबोध का घोर यथार्थवादी पक्ष है। उत्कर्षकाल के कवि, विशेषतः भारतै और कालिदास, इस कौटि की नीति का समर्थन नहीं करते।

जीवन-विवेक

राजनीति, कूटनीति और लोकनीति में भी यह मानकर चलना आवश्यक होता है कि ऐसे कार्य तथा शक्ति जीवन के आवश्यक मूल्य है। लौकिक जीवन की सफलता के लिए उनका महत्व असंदिग्ध है। कोई भी व्यक्ति व जाति,
चिराय विषयः। भ्रमाण व च दुष्टेन्द्रज्ञवाजिवश्यता, । शरदइतिलांचलज्ञकोपेन्द्रसूर्या हि बहुच्छलः। श्रियः। । किराता प्रजुनीय, २१३९ ।

'बहुत काल तक लक्ष्मी को पकडकर रखना कहाँ? और दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़ों को बच में रखना भी कहाँ? शरतकाल के बादलों की तरह शीघ्र ही चल देने के स्वभाववाली संपति-श्री बड़ी छलनेवाली होती है; जिनकी इन्द्रियां चंचल हैं, वे उसकी ठीक से रक्षा नहीं कर सकते।' इस वक्तव्य में दो ध्वनियाँ हैं, एक यह कि लक्ष्मी का उपयोग संयममीलन लोगों के लिए नहीं है; और दूसरी यह कि धन व ऐश्वर्य किसी का सदृश साथ नहीं देते। जो व्यक्ति या जाति इस विवेक से संपन्न होती है वह खराब परिस्थितियों की उपस्थिति में अनावश्यक दर्जे तक घृंथ का परित्याग नहीं करती। किसी भी
नीति-शोध और जीवन-विवेक

जाति के इतिहास में हार-जीत के अनेक अवसर आते रहते हैं; प्रायः व्यक्तियों के जीवन में भी उत्तर-चढ़ाव आ ही जाते हैं; ऐसे मौकों पर जो अपना विवेक व संतुलन कायम रखते हैं वे फिर अपने भाष्य एवं भविष्य पर निर्भरण कर रहते हैं। किसी भी दशा में अवर्ग्य तथा निराशा की वृक्षतियों व्यक्ति या जाति के लिए हितकर नहीं होती।

इस कोटि का विवेक प्राचीन हिन्दू जाति के जीवन-दर्शन व जीवन-चर्चा, दोनों में निहित पाया जाता है। कान्तिलाल ने रथूवंश के प्रत्येक राजा के संबंध में यह लिखा है कि एक अवस्था पर पहुँचने के बाद उसने अपना राज्य पुरुष के हवाले कर दिया और ब्रह्मनिर्वृति के मार्ग को अपनाकर मोक्ष-साधना में लग गया। विक्रम, रघु, दशरथ आदि सभी ने पुत्र के युवा हो जाने पर अपने को राज्यशासन से विभिन्न कर लिया। यह विवेक भारतीय जीवन-दृष्टि का व्यावहारिक रूप है। विवेक व्यावहारिक भी हो सकता है और केवल मानसिक भी। जब कुमार अज से, राज्य से विरक्त होते हुए पिता रघु से यह याचना की कि अप मेरा भविष्य न कीजिए, तो रघु ने इतना मान लिया कि वे बन की ओर नहीं जायेंगे—नगर के बाहर ही आश्रम बनाकर रह लेंगे। किन्तु उन्होंने एक बार लघुगा हुई राज्यर्षी को फिर प्रहाण नहीं किया, जैसे सांप एक बार केबुली छोड़कर उसे फिर नहीं प्रहाण करता।

संवेदन में भारतीय जीवन-विवेक का यही मुख्य तत्त्व है—जीवन के भोगौशियों को स्विकार करते हुए भी यह नूलुना कि बंतत: वे सब अस्वायम एवं नाष्टनास्ति हैं। संसार के सुख महत्त्वपूर्ण होते हुए भी हत्ने मूल्यवान नहीं हैं कि उनके बिना जीवन एकदम ही निर्भर हो जाय। भारतीय विचारकों की यह शिक्षा थी कि ऐसयद्य तथा सुख के लिए प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए; किन्तु वे वस्तुतः इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि उनके लिए सारे सदहनों को छोड़ दिया जाय और समस्त सदहन-वृक्षों का बलिदान कर दिया जाय। वस्तुतः ऐसयद्य एवं शक्ति की प्रमुख
भारतीय संस्कृति

उपयोगिता यह है कि वे जीवनचर्चा को सरल बना दें और हमें अभावजन्य कष्टों से बचाये रखें; वे साक्षात् व्यक्तित्व के उत्कर्ष एवं आत्मा के सुख का उपकरण नहीं हैं।

भारतीय विचेष-वेतना की यह स्पष्टीय विशेषता है कि वह धन-संपत्ति आदि का तिरस्कार न करते हुए भी उन्हें जीवन का चरम ध्येय अथवा आनंद का चरम साधन नहीं मानती। तभी तो राम के लिए यह समय हुआ कि वे एकाएक यह ब्रह्म पाकर कि उन्हें राज्य छोड़कर वन जाना है, अपना सत्तलन कायम रख सकें—

दधोतो मंगल्क्षोम वसानुस्य च वल्कले,
दद्वार्तज्ञितानुस्य मुखरागं समं जना:।

रघुवंश, १२१८

‘लोगों ने विरित हृदय देखा: राज्याधिकार के लिए मंगल वस्त्र पहनते हुए राम के सुख का जैसा रंग था, वैसा ही उस समय भी रहा जब उन्होंने वल्कल-वस्त्र प्रहरण किये।’ जब राजा अज अपनी प्रियतमा इदुमती के लिए बहुत रो रहे थे तब कृप्या वसिष्ठ ने उनके पास निम्न सन्देश भिजवाया—

मरण प्रकृति: शरीरिणां विकृतिरीज़विविधमुख्यते बुधः;
क्षणमयविविधान्ते शुक्सन् यदि जन्तुनन्तु लभवानसी।
स्वार्तरासरारिणावर्ति शुद्धमन्योपाधिपर्यं यदा,
विरहः किमिवान्तुविमुक्ताय बाल्बिक्षिष्टाधिपिष्ठू।

रघुवंश, ८१४७, ८९

‘मरना तो जीवधारियों की प्रकृति (स्वभाव) है, जीवित रहना ही विकृति है—विकृति अर्थात संयोग की चीज। ऐसी स्थिति में यदि कोई क्षण भर भी जीवित रहता है तो समस्या चाहिए कि यह लाभ ही लाभ है।

विद्वान आध्यात्मिक जानता है कि अन्त में स्वयं उसका शरीर और आत्मा भी पृथक हो जायेंगे; ऐसी दशा में बाहरी विषयों से होनेवाला वियोग उसे कैसे पीड़ा दे सकता है?’
नीति-बोध और जीवन-विवेक

जिसे हम जीवन-विवेक कहते हैं उसका संबंध किसी व्यक्ति या जाति की दार्शनिक-आध्यात्मिक दृष्टि से होता है। जीवन-विवेक का अभिव्यक्ति है मूल्यों के सापेक्ष महत्व का आभास। जीवन में हम अनेक मूल्यों का उपभोग करते हैं, और विशिष्ट अवसरों पर, प्रत्येक मूल्य महत्वपूर्ण जान पड़ता है। धन और पद, संतान और स्थिर, स्वजाति और स्वदेश इन सभी का कम-बड़ा महत्व होता है। जीवन-विवेक का तात्पर्य उस मनोभाव से है जो विभिन्न मूल्यों को आनुपातिक महत्व के तात्पर्य से व्यक्तित्व करके देखता है। प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक जाति का जीवन-विवेक कुछ अलग होता है। प्रश्न है, ऐसी स्थिति में यह कैसे निर्णय किया जाय कि कौन-सा जीवन-विवेक कितना प्राप्त व ऊँचा है? प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा।

अंतः: व्यक्तित्व अथवा जातियुक्त जीवन का महत्व ही वह कसौटी है जिस पर विशिष्ट जीवन-विवेक की उच्चता को जाँच जा सकता है। श्रेष्ठ जीवन-विवेक वह है जो हमारे अच्छे तथा ऊँचे प्रयत्नों को बाग बद्धने की प्रेरणा दे, और जो निराशा तथा विशारद की भावनाओं से हमारी रक्षा कर सके। उत्कर्षकालीन भारतीय महाकाव्यों के नायक तथा दूसरे मान्य पुरुष इस अर्थ में ऊँचे विवेक से संपन्न कहे जा सकते हैं। वे संपत्ति तथा विज्ञानिक की चिंता करते हैं, किन्तु यदि किसी कारण ये चीजें उनकी पक्की से निकल जाय से तो वे हताश या हृदयोत्साह नहीं होते। इन चीजों का उचित महत्व जानने हुए भी वे उनमें ऐसे आस्थित नहीं रहते कि उनके बिना जीवन को निर्देश अद्यावधि उपचार। वे ऐसे तथा शक्तिका मूल्य समझते हैं, किन्तु उनसे कहीं ऊपर व्यक्तित्व के उत्कृष्ट को स्थान देते हैं।

मनस्तात, तेजस्विता, पराक्रमशीलता और इन सबके साथ मौलिक धार्मिक, उदारता और संदर्भात्मक, ये वे गुण हैं जो व्यक्तित्व को ऊँचा तथा महत्वशाली बनाते हैं। श्रीमद्भागवत इन गुणों के सहकारी अथवा फलमूल पदार्थ है। इन गुणों को धारण करने के अतिरिक्त उत्कर्षकालीन काव्य के नायक उस ऐतिहासिक अथवा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य से भी संपन्न हैं जो जीवन की हार-जीतों में गहरे सत्तुलन को बनाये रखने में सहायक होता है।
भारतीय संस्कृति

इस परिप्रेक्ष्यत व दृष्टिकोण का भारतीय दर्शन तथा अध्यायम की चिन्ताधारा से वना संबंध है। भारतीय मनीषियाँ में एक ओर तो यह भावना है कि इस संसार के भोगवृत्त सात्त्व का सीमित है, जिनमें संवेदनशील विवेकी पुरुष को सीमित आसक्ति ही रखनी चाहिए; दूसरी ओर उन्हें यह भी आभास है कि व्यक्तियों तथा जातियों के इतिहास की गति चक्ररूपी (पहिले के घेरे) जैसी होती है, उसकी स्थिति कभी ऊँची और कभी नीची होती ही रहती है। एवं दोनों ही विचारणाएँ आपत्तिकाल में घैर देनेवाली हैं। जो व्यक्ति या जाति ऐसे विवेक से संस्कृति होती है वह प्रयत्न के क्षेत्र में अपने को कभी निराश व निश्चलाहित नहीं महसूस करती।

आध्यात्मिक समन्वय

जीवन-विवेक-सम्बन्धी भारतीय दृष्टि को यदि हम संस्कृति में प्रकट करता चाहें तो हम कह सकते हैं कि वह समन्वय की दृष्टि है। भारतीय संस्कृति की पीठका में इस वक्तव्य के कई अर्थ किये जा सकते हैं। सबसे प्रचलित अर्थ या व्याख्या यह है कि भारत के विचारक जीवन के बुद्धिमत्व की प्राप्ति के लिए अनेक उपायों, पंथों या मार्गों की उपादेयता स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में मोक्षप्राप्ति के चार उपाय या मार्ग प्रसिद्ध हैं: अर्थात् शानमार्ग, शरणमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग। विभिन्न साधनों में स्वभाव तथा क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं; उनके अनुसार वे बीतिन, रहस्यात्मक, आवेगात्मक एवं प्रयत्नात्मक विभिन्न साधनों का अवलम्बन करते हैं। भारतीय चिन्तन के अनुसार साधनों की यह विभिन्नता स्वयं जीवन के चरम ध्येय या साध्य में विभिन्नता सिद्ध नहीं करती। ध्येय एक ही है, यथाप्रय सदा तक ले जानेवाले रास्ते अलग-अलग हैं।

13. कल्यातपत्तं सुखभुपत्तं दुःखमेकान्ततो बा, नीचर्यग्यत्स्थ्यपरि च वशा चक्रनेमिक्रमेन।
उत्तरमेघ, 36
नीति-ब्रोध और जीवन-विभेद

इस मन्त्रय का एक दूसरा पत्थर भी है। भारतवर्ष में अनेक दर्शन बने जिनके द्वारा एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। किन्तु जीवन के चरम पथ के संबंध में उनकी मान्यताएँ बहुत कुछ तोमाँ थीं। जब हम समन्वय की बात करते हैं तो हम यह भी मान लेते हैं कि बिभिन्न मतवाद तथा पत्थर भी मनुष्य को एक ही पथ की ओर अग्रसर करते के लिए हैं। इस तथ्य को कालिदास ने इस प्रकार प्रकट किया है—

बहुभायरामीभिन्न: पतान: सिद्धिहस्तः,
लच्छये निपतत्योगा जालबीया इवार्ये।

रघुवंश, १०।२६

‘विभिन्न आणमा’ (त्रयो, संबंध आदि) पर आधारित अनेक पंक्ति या उपाय अंत में आप में ही पर्यावरण पाते हैं, जैसे गंगा नदी के अनेक पर्वतों अंत में समुद्र में रूपांतर हो जाते हैं।’ संभवतः कालिदास के समय में भी शैवों, बौद्धों आदि के भेद उत्पत्ति हो गये थे। कालिदास ने अपनी कुटियों के स्तुति-संगीतों द्वारा इन भेदों को दूर करने में योग दिया है। अनुमान किया जाता है कि कालिदास मुख्तियों: शिव के उपासक थे। रघुवंश का प्रारम्भ शिव-पारंत्की की स्तुति से होता है और कुमारसम्भव का विषय शिव पारंत्की का परिणाम तथा कुमार कालिदास की उपत्यका है। किन्तु कालिदास ने रघुवंश में ध्वनि की तथा कुमार सम्भव में ग्रह तथा स्तुतियों की भी कारकियत है। स्पष्ट ही कालिदास इन तीनों देवों को एक परमात्मा की मूलतार में समाजते हैं।

हमने भारतीय समान्वयवाद के प्रचलित अर्थ का परिचय दिया। किन्तु उस समान्वय-दृष्टि के दूसरे, अधिक महत्वपूर्ण पहलू भी हैं, जिनका ईश्वर, मोक्ष आदि से बंधित आस्थाओं से आवश्यक लगाव नहीं है। ईश्वर की सत्या एवं मोक्ष की स्पष्टतियों में सन्देह किया जा सकता है; किन्तु उस सन्देह का अर्थ जीवन-मूल्यों में अनास्था नहीं है और हमारी राय में, भारतीय समान्वय-दृष्टि का ज्ञान महत्वपूर्ण है जीवन-मूल्यों से संबंध रहता है।
यहाँ एक स्पष्टीकरण जरूरी है। उत्तरकाल के हमारे तीनों महाकवि अद्वैत बेदान्त के प्रवर्तक अय्यवा प्रकाश व्याख्याता शंकराचार्य के पूर्ववर्ती हैं। उनके समय में अद्वैतबाद का वह रूप, जिसे शंकराचार्य ने निरूपित किया, प्रचलित नहीं था। शांकर बेदान्त का एक प्रमुख मल्लय मायावाद है—यह सिद्धान्त कि दृश्यमान जगत भाविक या मिथ्या है।

कहा जा सकता है कि यह मायावाद उपनिषदों का अभिमत अद्वैत सिद्धान्त नहीं है। उपनिषदों में जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति बताया गया है। वहाँ इस प्रश्न का कि एक ब्रह्म से अनेकतम जगत की उत्पत्ति कैसे होती है, कोई बहुल, तर्कपूर्ण समाधान नहीं दिया गया है। उपनिषदों के मायावाद को तर्कसम्पत्त बनाने के लिए शंकराचार्य को मायावाद का भाविकार करता पड़ा। यह मायावाद भारतीय संस्कृति के उत्तरकाल में प्रचलित नहीं था। उत्तरकालीन कवि, उपनिषदों की भावना में, जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति समझते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म एक तथा निरुद्ध होते हुए भी अनेकतम गुणयुक्त जगत का कारण बन जाता है। कहा जा सकता है कि स्वयं वादरायव्व के ‘ब्रह्मसूत्र’ अय्यवा वेदांतसूत्रों का भी यही अभिमत है। उत्तरकाल के कवि इस सिद्धान्त से परिचित है; वे सांख्य दर्शन से भी सुपरिचित हैं। किन्तु उनका सांख्य गीता में प्रतिपादित सेववर सांख्य के अधिक निकट है; वह ईश्वरकृपण की कार्यकार्य का सांख्य नहीं है। ब्रह्म की स्थिति में कालिदास ने कहलाया है—

ब्रह्म: संघातकविन: स्थूल: सूक्ष्मो लघुपूर्वः;
व्यक्तो व्यक्तेतरस्वाच्छसि प्राकायमः ते विभूति।
कुमारसम्भव, २१११

‘तुम (सतात्मक) ब्रह्म भी हो और कठोर संघातकृः भी हो, तुम स्वूल-सूक्ष्म भी हो और लघु-पूर्व भी हो, व्यक्त भी हो और अभ्यक्त भी; तुममें सब प्रकार की विभूतियाः हैं।’ उत्तरकालीन कवियों की यह धारणा है कि जगत के मूल कारण ब्रह्म या भगवान में एक साथ ही
विरोधी गुणों की स्थिति है; उनके मन में यह भावना नहीं है कि यह जगत्
सिद्धा है——

रसान्तराण्यकरसं यथा दिव्यं पयोज्युते,
देशे देशो गुणेष्वेवमवस्त्ववस्त्वविविक्यः।
अभेयो भिक्षोवस्त्वरस्त्वे प्रार्थनावहः
अनितो जिन्दुरत्नत्वमव्यक्तो व्यक्तकारणम्।

श्रूवंशस्, १०१७, १८

'जैसे आकाश से गिरा हुआ एक ही जल विभिन्न स्थलों में पहुँचकर
तरह-तरह के रूसों या स्वादों से पुकत हो जाता है, वैसे ही आप (विष्णु),
स्वयं में विकार्धीन होते हुए भी, सत्य, सत्य, अत्याधि के संयोग से अनेक
अवस्थाओं को प्राप्त हो जाते हैं। आप स्वयं में अपरिचित हैं पर लोकों
का परिचय करते हैं, स्वयं निःस्वूह हैं जिन्हें कामनाओं को पूर्ण करते हैं,
स्वयं पराजित न होनेवाले आप जयशील हैं और अद्यक्त होते हुए भी
व्यक्त जगत् के कारण हैं।' ऐसे ही विरोधी विशेषणों के साथ पारंपरी ने,
बुद्ध रूपार्थी शिव के आरोपों का उत्तर देते हुए, स्वयं शिव का वर्णन
किया है।

कवियों की इन दार्शनिक धारणाओं का उनकी जीवन-मूल्यों संबंधी
दृष्टि से गहरा संबंध है। जीवन के भोगों और उनकी सीमाओं की चेतना,
इन दोनों के प्रति उनका जो मनोभाव है, उसे एक विशेष कोटि की समन्वय-
दृष्टि कहा जा सकता है। इस समन्वय-दृष्टि का सबसे बड़ा प्रकाशन
उनके द्वारा की गयी अवतार-पुरुषों अथवा समुहों हिंदू-मूर्तियों की
कल्पनाओं में मिलता है। इन पुरुषों तथा नृत्यों की कल्पनाओं में सौन्दर्य
एवं उसके उपयोग से उत्कृष्ट होनेवाले आन्दोल, और विवेकपूर्ण अन्यतमति,
इन दोनों का गहरा सार्वजनिक दिखाया गया है। यहाँ हम 'मुक्तितवन-भाषापार' के दो सुन्दर पद उद्धृत करता चाहेंगे; पहले में ब्रह्म या परमात्मा
पर अनात्मक पुरुष का और दूसरे में आन्दोल-सह्यचरित सौन्दर्य के उपयोगका
का स्वच्छन्द आरोप किया गया है——
भारतीय संस्कृति

विष्णुविद्वान् श्रवणत्वकैः भवतु वा ब्रह्मा सुदेशीःप्रवाहवः, भानुविनः शास्त्रक्षेत्रगौः भगवान् वृहस्पतिसिद्धोःप्रवाहवः।
रागेश्वरसुपरिशालिस्मोहरहितः सत्वानुकम्पोद्धति, यः सर्वं सह संस्कृतं गुणाणुमूष्यते नमः सबंदा।
शक्यं यश्न विशेषतो निगदितुः प्रेमिवेत्र यन्त्रीन्तितम, मुद्ध्वीववन्यवन्यमयिन्दिवं म्वाते विबधरे मुद्यसा; यन्त्रुः गुणधानन्यावस्थित्वंदिवक्तिवाग्यक्षेिति नो लक्षितं, तत्तजो विनयादमन्द्वृद्धयानन्दाय वन्दामहेः।

'उसको चाहे विश्व कहिए या विशव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, अथवा बुध या सिद्ध; जो रागेश्वर के विष से, आतित (देव्य या दुःख) तथा मोह से रहित है, जो जीवों के प्रति अनुकूल रखता है, और जो सब श्रेष्ठ गुणों से संस्कृत या युक्त है, उसे सदैव नमस्कार हो। जिसे किसी विशेषण से वर्णित नहीं किया जा सकता, जो सिर्फ प्रेमपूर्ण चित्तन का विषय है, जो कोमलांगी रश्मियों के चन्द्रमा जैसे मुखमंडल की भूति बंतर में आनन्द का विषय करता है, मुग्धा की नयनकौरी की चेष्टाओं के समान जो निकट होते हुए भी लक्षित नहीं होता, उस तेज की, हृदय के प्रचुर आनन्द के लिए, हम विनयपूर्वक वन्दना करते हैं।'

संगीतचारण के ये श्लोक किसी अवतार-पुरुष अथवा तिर्मूर्ति के संबंध में नहीं है; इनका विषय परब्रह्म है। निराकार, निरंगुः ब्रह्मा का ध्यान व वन्दना करते हुए भी भारतीय कवियों के लिए यह संभव था कि वे तुलना के लिए कामिनी के चन्द्रबन्ध एवं कटाक्षों का स्पर्श्य दर्शन दे रहे। भारतीय सांस्कृतिक चेतना में भूमिगार और बैराजक्ष, संसार और मोक्ष दोनों एक निविद्ध आलिखा में आबद्ध दिखाई देते हैं। तभी तो भूत्वत्सिर जैसे कवि के लिए संभव हुआ कि वे एक साथ ही ‘भूमिगार शतक’ एवं ‘बैराजक्षातक’ की रचना करते हुए यह सिद्ध कर दें कि वे बड़े भारतीय लोकनीति के शास्त्र भी हैं।

भारतीय आध्यात्मिकता, और वैज्ञानिकता भी, दूर तक यह स्वीकार करती हैं कि व्यक्तिगत जीवन तथा जातीय जीवन में सभी प्रकार के
नीति-बोध और जीवन-विवेक

१५५

मूल्यों के उपभोग के लिए स्वान होना चाहिए। वेदान्त के प्रचार के पूर्व, कम-से-कम हिंदुओं में, मीमांसा का यह सिद्धांत सर्वमान्य-सा था कि प्रत्येक मनुष्य को व्रहार्चय तथा गृहस्य आश्रमों के बाद ही वानप्रस्थ तथा संयास की स्थितियों में प्रवेश करना चाहिए। मीमांसकों एवं मनु के बनसार भी जो व्यक्ति कृष्णयों, देवताओं तथा पिताओं के रूपों का परिशोधन किये बिना ही मोक्ष की इच्छा करता है वह अतोगति को प्राप्त होता है। ० वाद के वेदात्तियों ने यह सिद्ध करने की लम्बी-वौँ विशेषता की कि सिर्फ जान से, कर्मों का आश्रय लिये बिना ही, मुक्ति हो सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्य को जिस दिन वैराग्य हो जाय उसी दिन संयास के लेना चाहिए। किन्तु ये मान्यताएँ उत्कर्षकालीन भारतीय संस्कृति में प्रचलित नहीं थीं। वे गीता की स्पष्ट शिखाओं के भी विच्छेद हैं—जैसा कि लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता-रस्स्य' में सिद्ध किया है। वेदात्तियों की यह शिखा आधुनिक मनोविज्ञान के भी प्रतिकूल है। जो व्यक्ति जीवन के सुख-भोगों से परिचित हुए, बिना उन्हें छोड़ देता है वह बाद में उनकी कल्पनाओं द्वारा पीड़ित होते हुए शान्ति एवं सन्तुलन बो बैठता है। उसे लगतार अपनी वास्तविक जीवन में युद्ध भी करना पड़ता है; जो मानसिक शक्ति एवं शान्ति का विचारक है। इसलिए संबंधित शब्दों के लिए सही रास्ता यही है कि वे जीवन के प्रयत्नों तथा सुख-भोगों से एकदम अलग न होते हुए उनके प्रति विवेकपूर्ण सन्तुलन एवं अनसाक्ति का भाव बनाने व बरतने का प्रयत्न करें। अध्यात्म की उदात्त भूमिका में भारतीय संस्कृति की यही प्रमुख मान्यता एवं शिखा जान पड़ती है।

१४. अधितिथि विद्व्यदेवान्तु गुणांशोचपयाद धर्मतः; इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञमनो चोक्षे विवेयदायतः।
अनधितिथि हिजो वेदान्तमूलयाद तत्वात्मजानान; अनिष्ट्वा चैव यज्ञमोक्षमििष्ठु प्रज्ञात:।
मनुस्मति, ६१३६, ३७
चौथा अध्याय

संस्कृत भाषा

किसी जाति या देश के काव्य-शास्त्र की प्रगति का भाषा से घना संबंध होता है। जिस जाति के पास समृद्ध एवं शक्तिशाली भाषा का माध्यम है, वहीं कला तथा चित्तन के क्षेत्रों में विस्तृत उपलब्धियाँ कर सकती है। इसका यह मतलब नहीं है कि काव्यशास्त्र की प्रगति के लिए भाषा ही पर्याप्त साधन है। वस्तुतः अतिम विशेषण में भाषा स्वयं जाति-विशेष की ही सृष्टि होती है और उसके चरित्र को प्रतिफलित करती है। भाषा आकाश से देश-विशेष की घरती पर नहीं बरस पड़ती। किन्तु व्यक्ति की दृष्टि से वह एक सहज प्राप्त वस्तु ही होती है। भाषा हमारी परम्परा का अंग है। वह स्वयं महत्वपूर्ण परम्परा है, और परम्परा के संरचना का सबसे महत्वपूर्ण एवं शक्तिसंपन्न माध्यम। छापा के कला ने इस माध्यम को और भी महत्वपूर्ण बना दिया है। अब हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि मनुष्य जाति भाषा के बिना अपनी सम्पत्ति व संस्कृति को काम रख सकती है।

किन्तु भाषा गढ़ी भी जाती है। वह प्रत्येक लेखक या विचारक, जो दुनिया को नये विचार देता है, नयी भाषा का निर्माण करता है। श्रेष्ठ लेखक उतना नये शब्दों को नहीं गढ़ता जितना कि पृथ्वी शब्दों के नये संगठनों को। इस प्रकार के नये संगठन काव्य-साहित्य की बनाते हैं। ये संगठन पद-पद पर नये विचार, अलंकारों तथा भावावलोकनों को विवाह करते हैं। वे काव्य में चमकाकर उत्पत्ति करने का भी एक प्रधान साधन है। एक दूसरे वर्ष में भी लेखक तथा विचारक नयी भाषा का निर्माण करते हैं। शास्त्रों की प्रगति के साथ नये पारिमाणिक शब्दों की आवश्यकता होती है,
जिनकी मदद से अभिव्यक्ति में संक्षेप, कसावट एवं एटावत्त्व (Exactness) आता है। इस प्रकार एक प्रगतिशील जाति लगातार नये शब्दों तथा व्यंजनों का आवश्यक करती चलती है। आधुनिक काल में भाषा-विकास के अन्य कारण भी उपस्थित हो गये हैं। विविध भाषाओं का सम्मिलित होने पर वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पहुँचने लगते हैं और उनके अर्थ-प्राकाशण के तरीके एक-दूसरे को प्रभावित करते लगते हैं। इन दोनों ही रूपों में हिन्दी भाषा उद्दी, फारसी, अंग्रेजी आदि से प्रभावित हुई है। स्वयं अंग्रेजी भाषा ने हूजारों शब्द ले टिन, केंद्र आदि भाषाओं से प्रभावित किये हैं और उनके मुहावरों से भी प्रभाव लिये हैं। भौतिक विज्ञानों की प्रगति ने यूरोपीय भाषाओं के शब्दकोश तथा व्यंजना-शैक्षि में अभूतपूर्व वृद्धि एवं विस्तार किया है।

यही बात न्यूतात्विक दृष्टि से व्यापक है, जैसे नर-विज्ञान, समाजशास्त्र, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के प्रभाव के विषय में भी कहीं जा सकती है। वस्तुतः जो जाति विभिन्न क्षेत्रों में लगातार मौलिक अन्वेषण व चिन्तन करती रहती है, वह तदनुप्रेरणा भाषा का विकास भी करती चलती है। 

इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि किसी देश या जाति की भाषा उसके सदस्यों के सर्जनशील बौद्धिक-आत्मिक जीवन का प्रतिफलन मात्र है। साथ ही यह भी कहना ठीक ही है कि जो जाति, इतिहास के किसी युग में, एक समृद्ध भाषा की परम्परा को प्राप्त किये रहती है, वह साहित्य तथा चिन्तन के क्षेत्रों में ज्यादा कीमती काम कर पाती है।

संस्कृत भाषा का महत्व

संस्कृत भाषा अपने तम्बे इतिहास में उक्त दोनों ही अर्थों में महत्व-शालिनी रही। वाद की शास्त्रियों में सैकड़ों चित्रकों तथा साहित्यकारों ने उसके रूप को पुष्ट एवं पलटवित किया। किन्तु वह शुरू से ही एक विराजमान भाषा थी। जिस आर्य जाति ने उसे प्रारंभ में गठित किया, वह बड़ी ही प्रतिभा-सम्पन्न जाति रही होगी। किसी भाषा की उत्पत्ति एवं
भारतीय संस्कृति

समृद्धि के अनेक कारण होते हैं। पता नहीं किंतु किस-किस कारणों ने मिलकर संस्कृत भाषा को उसका नितांत जटिल, बहुमूल्य एवं व्यापक रूप दिया; किंतु इसमें संदेह नहीं कि इन कारणों में एक विशेष महत्वपूर्ण कारण आर्य जाति का निरीक्षणशील एवं जिज्ञासु स्वभाव और उसकी विलक्षण सज्जनशील प्रतिभा थी। संस्कृत भाषा में सैकड़ों घातुएँ, तरह-तरह की क्रियाएँ और भाषा-भाषा के प्रत्येक पाये जाते हैं। इन दृष्टियों से वह हमारी परिचित भाषाओं से बहुत भिन्न है। आंग्नेजी तथा इंद्रिय में प्राप्त सभी क्रियाएँ एक हरें पर विभिन्न कालों का बोध कराती हैं। संस्कृत में भव्य, अवधि, जुटोत्यादि, चुरान्ति, आदि अनेक बयों के धातु-समूह हैं जिनके रूप मिश्र-मिश्र नियमों से बनते हैं। संस्कृत में लकार या कालबंधक रूप भी विचित्र और जटिल है। विभिन्न प्रत्ययों के योग से एक-एक धातु के अनेक रूप बन जाते हैं, जो विभिन्न कोटियों के अर्थों का योग दर्शन करते हैं। इसी प्रकार संज्ञावाची शब्दों से भी, प्रत्ययों की मदद से, अनेक नये शब्द उपलब्ध होते हैं। हम यहाँ इन प्रत्ययों की गणना नहीं करेंगे, किंतु यह देखने की बात है कि प्रत्ययों की बहुत अधिक संस्कृत भाषा के शब्द-कोश को अपरिमित विस्तार दे देती है। अर्थात् दृश्व या दृश्व धातु से निम्नाक्षरित शब्द बनते हैं; दृश्व, दृष्टा, दर्शक, दृष्टि, दर्शन, दर्शनीय, दर्शन, दृष्टि, दृष्टिक, ध्याति दृष्टि, दृष्टि, दृष्टि, दृष्टि, दृष्टि। यह प्रत्यय ही है कि उप-संगों के योग से एक ही धातु अनेक अर्थों को देने लगती है; प्रहार, आहार, सहार, विहार, परिहार आदि शब्द एकदम भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं, यथापि उनमें प्रयुक्त धातु एक ही है।

पर्यायों की प्रचुरता

संस्कृत भाषा पर्यायवाची शब्दों में खास तौर से समृद्ध है। इस भाषा में इतने पर्याय कहाँ से आये, यह शोध का रोचक विषय हो सकता है। संस्कृत में पाये जाने वाले पर्याय आर्य जाति की निरीक्षण आदि अनेक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। सर्व शब्द एक विशेष प्रकार से चलने
की चित्रा को लक्ष्य करके बना है, इसके पर्यायों में निम्न शब्दों की सिसीती है; उरण (छाती या घोड़ा के बल चलनेवाला), फसाय (जो पड़ बुझा चले), जिल्ला (टेंका चलनेवाला), गुडपाद (छिपे हुए पैरोंवाला), दीर्घ-पृथ्वी (बंधी पीठवाला), दंदसूक (इसनेवाला), विज्ञेय (बिजल में रहने या सोनेवाला), असाइविश (जिसकी दाढ़ में जहर हो), कंचुकी (कंचुकी-वाला), विनाश किया हुआ खानेवाला), हरसन (दो जीभोंवाला), भ्रमण-श्रवण (अंखों से सुननेवाला, आँखें ही जिसके कान हैं), विष्णु, कुंडली इत्यादि। ये नाम साँप की विभिन्न विशेषताओं को प्रकट करते हैं। जिस जाति ने उक्त प्राणी को हत्ते नाम दिये हैं उसमें निरीक्षण की सूक्ष्म शक्ति तो थी ही, साथ ही शब्द-कीड़ा की प्रवृत्ति भी थी।

इसी प्रकार संस्कृत में जल के अनेक पर्याय हैं और उनकी मदद से कमल, समुद्र आदि के कोठियों पर्याय बन जाते हैं। ऐसे ही किरण के पर्यायों से अनेक सूर्यावसी शब्द बनते हैं। पाठक यदि सूर्य के पर्यायों पर ध्यान दे तो वे देखेंगे कि उन पर्यायों की सृष्टि में आर्य जाति की सूक्ष्म चेतना का भरपूर प्रदर्शन है। अमरकोश में सूर्य के निम्न पर्याय बनाए गए हैं: सूर, सूर्य, अर्येमा, आदिल्य, द्राक्षशात्मा, विवाह, भार्सर, अत्याव, अहर्षक, विभाकर, भास्वानु, विवस्वानु, हरिदेव, उज्जवल, विकर्त्तन, अर्त, मार्त्य, मिश्रित, अर्ध, पूर्ण, शुमणि (या विभागणि, आकाशमणि), दिनमणि, तरणि, मित्र, ग्रंथभानु, विरोध, विभासु, प्रह्लापति, त्विपापति, अहर्षित, सहरांसु, चंदांसु, जगच्छक, कर्मसाक्षी, तपन, सचिता, रबिक, धामनिधि, अंशुमाली, अभ्रित, मानु, हंस इत्यादि। इस स्थलसंकोच के कारण और नाम नहीं गिना रहे हैं। यह नामावली हिन्दू जाति की सौन्दर्य-संवेदना तथा अंदु-संवेदना से ही नहीं, उसके नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विशेषताओं से भी संबंध रखती है। पत्ता नहीं हूँ। किसी भाषा में नभोमणि, बासरमणि और कर्मसाक्षी तथा जगच्छक-जैसे सूर्य के पर्याय उपलब्ध हैं या नहीं।

यहां एक और बात लक्ष्य करने की है। उक्त कोठियों के पर्याय, जिनमें अधिकांश सौन्दर्य-संवेदना से संबंधित हैं, वहीं जाति गढ़ सकती है
भारतीय संस्कृति

जो हमेशा या अक्सर उपयोगिता के भार से दबी हुई नहीं रहती। ऐसी ही जाति के सदस्य रस लेकर वैसे पर्यायों का प्रचार व प्रयोग कर सकते हैं। हमारा अनुमान है कि उक्त कोटि के बहुत-से पर्याय-वाची शब्दों का उपयोग उत्कर्षकाल के आस-पास हुआ। रामायण-महाभारत में सन्दर्भ- बोधक पर्यायों की उल्लेख प्रकृति नहीं मिलती, यदापि वहाँ भी काफी पर्याय-शब्द प्रचलित पाये जाते हैं।

अब यहाँ हम इस अध्याय के विषय के दूसरे पहलू पर आते हैं। यही नहीं कि संस्कृत भाषा में पर्यायवाची शब्दों की बहुतता है; वहाँ असंख्य संस्कृत-शब्द निरस्तर प्रयोग से जीवित रहते दिखाई पड़ते हैं। संस्कृत के कवि, विशेषतः उत्कर्षकाल और उसके बाद के भी साहित्यकार, एक ही अभ्यंग के धोतिक संस्कृत शब्दों के प्रयोग को चमकाते चूँच्चति तथा पादिय- प्रदर्शन दोनों के लिए आवश्यक समझते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रक्रम हेतु भी उपलब्ध हो जाता है; विविध छन्दों की योजना से उत्पन्न आवश्यकताएँ। संस्कृत के ध्यान से कोटि भी उसका छन्दःशास्त्र भी कठिन व कठोर नियमों के प्रतिपादन के लिए प्रसिद्ध है। छन्दः शास्त्रियों की प्रसिद्ध उक्ति है—‘अपि माष्टं मष्टं कुर्यात् छन्दोंभंगं न कार्येत्’, अर्थात् माष्ट का मष्ट भले ही कर दें, पर छन्दोंभंग न करे। संस्कृत के अधिकांश छन्द हल्दी-रूप वर्णों के निकटित कम के अनुसार चलते हैं, इन कमों में विपर्यय का प्रश्न नहीं उठता। फलतः छन्द की जबलें पूरी करने के लिए कवि लोगों को अक्सर नूनाधिक परिचित पर्यायों का आधार लेना पड़ जाता है।

पर्यायों के प्रयोग का दूसरा हेतु संस्कृत कवियों की संगीत-संवदना एवं यमक, अनुप्रास आदि का प्रेम है। शीघ्र ही हम इसके उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

हमने कहा कि संस्कृत काव्य में विभिन्न धातुओं तथा शब्दों के असंख्य रूप एवं पर्याय निरस्तर जीवित रहते हुए दिखाई पड़ते हैं। कोषकार ही नहीं, कवि और उनके टीकाकार भी संस्कृत की विस्तृत शब्द-राशि से
सस्त्रत माया

जीवन्त परिचय रचते हैं। उत्कृष्ठकाल के कवियों में कालिदास सबसे सरल तथा सरस हैं, किन्तु उनकी कृतियों में भी भौति-भाषि के पर्यायों का प्रस्तुत समावेश हुआ है। ऐसा भी नहीं कि वे कठिन अथवा अल्प-परिचित पर्यायों के प्रयोग से घबराते हों। कुछ उदाहरण देखिए—

1. तस्यासीकुलवृणो मार्गः पादपैरिव दन्तनः।
2. प्रणिपातकसतीकारः सरम्भो हि महात्मनामः।
3. तरोध्वारावशानुवांशंत्व पतवासास्तमः।
4. तन्त्र जन्य रथोघरं पर्यायोचतनगरमूद्।
5. आयोधनायसरतं तविड दीर याते किया वा रिपूस्तव गुरुः सवृमुचिषिन्ति।

इन पदबिंदुओं में स्वाभाविक पर्याय अपेक्षाकृत कठिन एवं कम परिचित कोटि के हैं। विभिन्न कौशों के अनुसार उत्तराय शब्द का अर्थ है प्रकट, स्पष्ट, विशाल, स्फुट; वार्षिक कंचुक का पर्याय है; सरम्भ का अर्थ है ओघ; जन्य तथा आयोधन युद्ध के पर्याय हैं। रचिवास के पहले संग्रह में एक सुन्दर स्कोर है—

कलाओदयमामामुंक पल्लवस्तिनभापातला
विभिन्नती शेतोरमामायुः सत्यवेद शाश्विन्तं नवमू। रचिवास, ११८३

'कपड़ों के सामान कोमल लालिम रंगवाली नन्दनी गो के मायें में कुछ टेंदा सफेद रोशों का बंक था, उसे वह वैसे ही धारण कर रही थी जैसे नये चन्द्र को सन्ध्या।' यहाँ वक्र या टेंडे के लिए "आभुन" शब्द का प्रयोग किया गया है जो अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त पर्याय है।

कविता की भाषा का एक प्रधान लक्ष्य चमत्कार की सुष्ठी है। चमत्कार का एक उपकरण नये शब्दों, मुहावरों आदि का प्रयोग भी है। वर्तमान हिंदी कविता, जिस पर प्रयोगवाद का प्रभाव है, नये शब्दों तथा व्यंजनाओं के समावेश की विशेष महत्व देती है। आज बीसवीं सदी के
छठे दशाबद में, छायावादी काव्य की पदवली नवे कवियों को खटकने लगी है और वे भ्रसक उसके प्रयोग से बच रहे हैं। इसी प्रकार छायावादी कवियों ने, तीस-पैंतीस वर्ष पहले, प्रजमाणा के शब्दों का बहिष्कार किया था। काव्य में नये शब्दयोजना का एक ही स्वरूप होता है—पुरानी भाषा तथा शैली की प्रतिध्वनियों को बचाते हुए नये चमत्कारगुल्फ शैली की सृष्टि करता। इस देश में संस्कृत कविता का प्रचलन सैकड़ों वर्षों तक रहा। काव्य-चमत्कार के लिए संस्कृत कवियों ने यह जबर्दस्त नहीं समझा कि ये नयी भाषा अथवा नये शब्दों का अच्छंद हों। तब पर्यायों के प्रचुरता तथा छन्दों आदि के प्रयोग से उपलब्ध होनेवाली प्रवचन की नवीनता से लयातार अभीच्छ चमत्कार उत्पन्न करते रहे। सुन्दर पर्यायों के समावेश से संस्कृत छन्दों में सत्त्रबन्ध साधारण बात भी चमत्कारपूर्व संपर्क पर देने लगती है। पहले समृद्ध के प्रारंभ में कवि माथे ने ज्योति तथा प्रकाश या प्रकाशण, चमक या चमकने आदि अर्थों का घोषण करने के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करने वाले के वर्ण से संबंधित पद्धों को बड़ा आकार्यक बना दिया है—

1. पतलघो धाम विसारि सर्वतः
किमेतदियाकुलनीशितं जने।

2. ध्वानममभोक्षेषरभूती—
जंता शरणचन्द्रमरीचिरोचिष्यम्।

3. महामहानींशिलाश्च: पुरी
नियेदिवान् कस्मस्य: स बिष्ट्रे।

4. स तप्तकालस्वरसात्बाराम्बः
विविधतुप्रावजनावेदः: शिखामिराशिलस्य इवास्वसा निधि।

5. रथाक्षपापे: पटलेन रोचिषामृगिष्विषः संवलिता बिरेरिजे।

शिखूपालघ, ११२, ५, १६, २०, २१
स्थूलाक्षर शब्दों के अतिरिक्त भी अनेक वैसे शब्द इस स्पष्ट में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे चकासतमु, विभान्तमु द्यायादि। इसके अतिरिक्त कवि ने
संस्कृत भाषा

प्रकाश से निकट संबंध रखनेवाले अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। कुल मिलाकर पाठक के मन पर नारद के व्यक्तिव्र द की ज्योतिर्मयता की विशद छाप पड़ती है।

संस्कृत के क्षण पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से जिन प्रभावों को उत्पन्न कर देते हैं, उनकी सृष्टि के लिए दूसरी भाषाओं में अनेक वर्णनात्मक पदोन्नतियों तथा उपभोक्ता आदि अर्थांकों का प्रयोग अपेक्षित होगा। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में सूर्य के लिए एक ही शब्द प्रचलित है अर्थात् सन्, वहाँ विनयमणि अथवा वियन्यमणि से संकेतित होनेवाले चिन्ता को छोड़ा करने के लिए वर्णनात्मक पंक्ति या पदोन्नत्व का समर्पण कराना पड़ेगा।

माध-काव्य में अपरिचित या अल्प परिचित पर्यायों का प्रयोग काफी-दास से कहीं अधिक मात्रा में पाया जाता है। अर्थन के लिए तनूनपाल, सूर्य के लिए अनुसूक्ष्म, यमराज के लिए कीनाच, बुध के लिए धरीयानु जैसे शब्दों का प्रयोग शिवसुपालवध में हुआ है।

एक ही धातु से निकले हुए अनेक शब्द पदों तथा व्यंजनाओं की विविधता का आभास उत्पन्न करते हैं। संस्कृत की पदवियों में इस तरह भी अनेकस्पताका समृद्धि बढ़ी हुई दिखाई देती है। विविधताते और व्यंजकित्रिय कियाओं में एक ही धातु के भूतकालिक रूप है, किंतु वे दो भिन्न शब्दों की भाषा विविधता उत्पन्न करते हैं। निम्न पंक्तियों में एक ही धातु से उपलब्ध चार रूपों का प्रयोग किया गया हैः—

1. स निकाम्बारोक्तमविस्वम्भरवधीवधारातः।
2. स्तम्भमप्रभासितविगतितमवावधिकावधूनितसमस्तसंस्कृतः।

शिवसुपालवधि १५१५, ६।

यहाँ अवघु तु, अवघुत, विघीति तथा अवघुतिते चारों पद धूमधातु से विविध प्रत्येक के संयोग द्वारा प्राप्त हुए हैं, किंतु उनकी पास-पास स्थिति हमें खली नहीं।
भारतीय संस्कृति

संस्कृत भाषा म कुछ शब्द ऐसे हैं जो नियमित रूप में किसी धार्मि
की से प्राप्त नहीं होते। ऐसे शब्द व्याकरण में विशेष नियमों से सिद्ध
होते हैं और अपेक्षाकृत कम परिचित रहते हैं। संस्कृत के कवि इस कोटि
के शब्दों का प्रयोग करने से भी नहीं चुके। कालिदास की निम्न पंक्तियों
में ऐसे ही कुछ पदों या शब्दों का प्रयोग किया गया है—

१. प्रत्याशमेधावंभृतमूर्तः सौतनातिको यस्य भवत्त्वगतस्यः। ६, ६१
२. भृगवादीसनुनूहं गवतं सौखशायणकारूण्यसी। १०, ६४
३. इति रामो वृषस्यन्ति वृष्णकन्धः शशास तामू। १२, ३४

ये तीनों पंक्तियाँ रघुवंश की हैं। जो यह पूछते हैं कि ‘आपने सुख से
स्नान कर लिया?’ और ‘आप सुख से सोये?’ उन्हें क्रमशः ‘सौतनातिक'
एवं ‘सौखशायणक’ कहते हैं। वृषस्यन्ति का अर्थ है कामुकी या काम-
पीड़िता। उल्लकाल के काव्य में ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जिनके अर्थ
का परिभाषा विशेष जानकारी की अपेक्षा रहता है। विशिष्ट सन्दर्भ में
ऐसे शब्दों का प्रयोग संस्कौप के साथ अर्थगौरव उत्पन्न करने में सहाय्य
होता है। रघु की प्रशंसा में कालिदास ने लिखा है—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदश्यता मनः।
आदेशा
रघुवंश, ४१८

अर्थात् रघु यथाप्रारंभ दंड देता था, जिससे प्रजा उससे प्रसन्न रहती थी।
यहा युक्तदश्यता” व्यजना एक प्रकार का मुहावरा है जो राजनीति तथा
शासन के विशिष्ट क्षेत्र से सम्बन्ध रहता है। इसी तरह निम्न पंक्ति में
लब्धप्रशमनसत्ववर्धनं समुपस्थिता—सर्ग ४११४

“लब्धप्रशमन” शब्द का प्रयोग किया गया है जो एक शासन-संबंधी मुहावरे
को प्रभाव करता है। जिस राज्य पर विजय प्राप्त कर ली गयी है उसका
प्रशमन या नियरीकरण अपेक्षित होता है, जो कुछ लोगों के अनुरंजन और
कुछ के दंड द्वारा सम्बन्ध बनाया जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग से वक्तव्य
में एक बास तरह की प्रामाणिकता एवं अर्थगौरव आ जाता है।
अब तक हमने संस्कृत भाषा के शब्दकोष के संबंध में चर्चा की। शब्द भाषा-शरीर के घटक-रूप (Cells) है। फिर भी भाषा व संस्कृति दोनों के विकास में शब्दों का स्थान अपेक्षाकृत गौर ही है। किसी भाषा की शक्ति व समृद्धि का समुचित परिचय केवल उसके शब्दकोष की जानकारी से नहीं हो सकता। संस्कृत का अधिक महत्व इस ऐतिहासिक परिस्थिति में है कि उसका कलेवर तरह-तरह के ज्ञान-विद्याओं के विकास से पलंगित व पुष्ट हुआ। व्याकरण, निर्वक्त, गणित, ज्योतिष, निजग, राजनीति, वर्णन, यहाँ तक कि कामशास्त्र-जैसे विषयों का भी संस्कृत भाषा के माध्यम में ऊँचा विकास हुआ। एक और जहाँ संस्कृत की कविता ऐतिहाय चित्रों से भरी पड़ी है, वहाँ दूसरी और उसके दर्शन ने प्रकृति, परमाणु, पुरुष, ब्रह्म, अध्याय-पद्ताल सुस्त प्रथाओं को उत्पन्न किया है। उसके माध्यम में एक और जहाँ कृषि तथा कृतिज्ञ-जैसे यथार्थस्वरूपी नीति-विशारदों के मन्त्र अनुप्रयोग हुए, वहाँ दूसरी और भवानीप्रेत तथा योगवासिध जैसे धार्मिक प्रत्येक भी प्रस्तुत किये गये, जिनमें निष्काम कर्मशीलता तथा त्याग की ऊँची तथा ऊँची शिक्षाएं मौजूद हैं। संस्कृत वाचनात्मक नित्य चौड़ा है और उसमें उच्चकोटि के प्रत्येक की नित्य बड़ी संख्या है, इसका कुछ बोध इस तथ्य से हो सकता है कि संस्कृत भाषा का साहित्य विस्तृत एवं मात्रा में यूनानी तथा लैटिन दोनों भाषाओं के सम्मिलित साहित्य से अधिक है। जहाँ तक हमारे देश का प्रश्न है, यहाँ किसी दूसरी भाषा में इतना ऊँचा तथा विस्तृत साहित्य नहीं बना, जैसा कि संस्कृत में। इसीलिए कारणों से यह माना जाता है कि भारतीय संस्कृति के उच्चतम रूपों को समझने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान नित्यन्त्य आवश्यक है।

संगीतमयता

संस्कृत के प्रायः सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि यह भाषा बड़ी संगीतमय है। संस्कृत काव्य के संगीत का डूंग आधार है उसकी शास्त्रीयता अर्थात नियमबद्धता। जैसा कि हमने संकेत किया था,
भारतीय संस्कृति

संस्कृत के छन्द कठिन नियमों के अनुशासन में बैठकर चलते हैं। यों तो सभी भाषाओं के छन्द नियमानुसार रहते हैं, किन्तु संस्कृत में यह अनुशासन बहुत ही कठोर बन गया है। विशेषतः हृदय-दीर्घ वर्णों के निषिद्ध क्रम पर आधारित छन्दों का निर्वाह काफी कठिन होता है। संस्कृत में छन्दों की संख्या बहुत लम्बी है, यद्यपि काव्यों में लीलित्त छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। पिछले के छन्द-शास्त्र में सैकड़ों छन्दों का उल्लेख है और नये छन्दों को बनाने के तरीकों भी बताए गये हैं। संस्कृत के आचार्यों ने राग-रागिनियों के संबंध में भी विस्तृत चित्रण किया। विभिन्न कोटियों के पदों में राग-रागिनियों के समावेश के ठंग भी आवश्यक किये गये।

किन्तु केवल छन्दों की विविधता किसी भाषा या उसके काव्य को संगीत-परम में नहीं बना देती। संस्कृत काव्य जो विशेष संगीतक ज्ञान प्रदान करता है, उसके मुख्य कारण दो हैं: एक, संस्कृत कवियों की विकसित शब्द-मैत्री की संबंधता, और दूसरी संस्कृत निषिद्ध शब्दद्वार-योजना, जिससे शोध शब्दों में बुझत-सा अर्थ भर दिया जाता है। वस्तुतः काव्य के कलेवर में शब्द-संगीत तथा अर्थ-संगीत को विचित्र नहीं किया जा सकता। एक ही छन्द में प्रस्तुत किये गये दो पदों में बड़ा गुणात्मक भेद हो सकता है। कालिभद्र ने अपने मेघदूत में मन्दिराल्य छन्द का रूप संगीत-निर्मात्मक प्रयोग किया है, बैठा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। इस छन्द में कवि को विशेष ही कर सामाजिक-वहुल शैली का आधार लेना पड़ा है, फिर भी उसमें प्रसाद गुण का पर्याप्त सामाजिक हो सकता है। कालिभद्र के हायों में अनुभव छन्द भी विशेष संगीतपूर्ण बन गया है। जहाँ तक शब्द-मैत्री का घर है, संस्कृत काव्य विच्छ-साहित्य में बेजोड़ है; अनेक कवियों की प्राय: प्रत्येक पंक्ति में किसी न किसी अनुभव का पूरा रहता है। कालिभद्र ने किरुष्ट यमकों की योजना कम ही की है; उनके यमक व अनुभव दोनों आयामान्य ज्ञान पहले हैं। उनकी रचना में शब्द और अर्थ दोनों मिलकर एक अपूर्व प्रसाद गुण से सहजरित सामाजिक की सुधिं है।
संस्कृत भाषा

ताम्रोदेश्यु पतितं तस्पलभेषु,
नितीत्हारुपुलिकाविशं हिमाभमः ।
आभाति लक्ष्यरंभेत्ताधरोऽपे,
लीलामितं सदानान्चिरिव लब्धीयम् ॥

रघुवंशः, ५, ७६

इस पद में तवर्ग के अक्षरों की गिनति की जिते और ध, भ आदि शब्द
प्रत्यहार के अक्षरों की भी। मालिनी छांद में निम्न पद की सांगीतिक
शनक कर भी कम मनोहारिणी नहीं है—

इति विरचितवामिर्मिलिपुत्रे: कुमारं,
सपदिद सिवमित्वस्त्तमुज्जांचकारः,
मदयतुनदभिभोंधितो राजहृतः,
सुरज्ज इव गाज्जं सैकंतं सुप्रतिकः।

रघुवंशः, ५, ७५

पहले पद में तवर्ग के अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के चौथे अक्षरों का संचय
है; दूसरे में पाँचवें अक्षरों, विशेषतः नकार, का अधिक प्रयोग हुआ है।
भारवि तथा माध में भी शब्द-मैथी के सुदृढ उदाहरण सर्वेण गुल्म हैं।
भारवि की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

१. स वर्णलिखी विदित: समययू युधिष्ठिरः तैत्तरे वनेशरः। १, १
२. ध्रुवर्त्तुः तत्तुः: कस्य रणो न कुर्यमनो भृष्टप्रवणः स भृष्मः। २, १९
३. निरीक्ष सर्मद्धारितस्वर्ष: राजेवमाराधितराजाद्यमूः। ३, २१

इन पंक्तियों में प्रथम में व की, दूसरी में नकार तथा ध-भ की और
tीसरी में ध-र की आभूतियाँ उन्हें विशेष संगीत-संपन्न बना देती है।
माध की भी कुछ पंक्तियाँ देख लोजिए—

१. निवत्त्व सोजूनयजत: क्रुतानंदीतिनित्रितानितिर्भ: सदः। १, ११
२. नमद्यमधीक्षयादिपुयदुः: सपर्यायं साधु स पर्यंपुदुः। १, १४
३. कालो त्वेः: कालयित्वा क्षेत्र: कालमकाण्डमलीमसं नमः। १, ३८

१४
पहली पंक्ति में नकार की, दूसरी में प-प की और तीसरी में क्ष की आवृत्तियाँ पाठक की चेतना को अपूर्व शब्द-रस से चमकता करती है। शेखपुरिया की "हाँ हाँ हाँ हैज हाईनेस होल्डज हैज हैटे हेड" पंक्ति में अनुभाग का चमकार अवस्था है, पर वह सांगनिक ओज व ब्लणकार नहीं है जो संस्कृत कवियों की पंक्तियों में पायी जाती है। इस भिन्नता का प्रधान कारण यह है कि संस्कृत के कवि अनुभागों के समावेश के लिए अर्थ की निविड़ता तथा गौरव का लयाग नहीं करते, उनके काथ्य भी, पयायियों की प्रत्युत्पत्ति के कारण, कठिन से कठिन अर्थ की कम-से-कम शब्दों में प्रकट करने की प्रक्रिया के साथ ही साथ तरह-तरह की शब्द-मैत्री का सहज समावेश होता चलता है।

हमारे देश के आधुनिक व उनसे पुरानी भाषाएँ अंततः संस्कृत से ही नितःपुत्र हुई हैं, फलत: उनके काथ्य में भी संस्कृत की अनुभाग-परमपरा पायी जाती है। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के काथ्य में अनुभाग-विधान की व्यापक प्रवृत्ति रही है। बहारी-जैसे सत्क कवियों में अनुभागों का सत्संवेश काफी स्वाभाविक हो सकता है। किंतु साधारण कवियों में अनुभाग अक्सर स्वयं में साध्य बन जाता है, और इस प्रकार अर्थगौरव को क्षत करने का कारण हो जाता है। पत्राकर की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं—

बीतिय में ब्रज में नबेलिय में बेलिय में,
बनन में बागान में बगराही बसत है।

यहाँ स्पष्ट ही कवि ने अनुभाग के चमकार को अपना प्रधान ध्येय बना लिया है। अर्थ की दृष्टि से पंक्तियों की रचना विशेष उपयुक्त नहीं है, 'बीतियों' के बाद 'ब्रज' का उल्लेख जो कि समस्त क्षेत्र का वाचक है, और उसके बाद बीच में 'नबेलियों' तथा 'बेलियों' का संकेत करते हुए पुनः बनों, बागों आदि का नाम लेना उचित नहीं जान पड़ता। संस्कृत के पदों की अपेक्षा इन पंक्तियों में एक दूसरा दोष भी है।—इनकी रूप नितान्त विशिष्ट है और इनकी गति में उस सांगनिक दृष्टि का अभाव है जो संस्कृत के वर्णबोधों में सहज ही सत्प्रविष्ट हो जाती है। पत्राकर की पंक्तियों में
एक दुर्भव स्वीकारता है, जिसका माध आदि की रचनाओं में कहीं आभास नहीं मिलेगा।

सांख्य-रचना और सामास-विधान

संस्कृत छन्दों की सांगीतिक दृष्टि को एक इतर से भी पुष्टि मिलती है—संस्कृत शैली की सांख्य-रचना एवं सामास-विधान से। ये चीजें अर्थ व संगीत दोनों में सच्चता का पुद ला देती हैं। समासों के प्रयोग द्वारा संस्कृत कवियों ने स्थान में बहुत-सी बात कह देता है। और संस्कृत तिनों द्वारा प्रयुक्त शब्दों में अभिव्यक्ति की स्थापना कर देती हैं। कदाचित् विचारों का प्रकाशन जितने संस्कृत में संस्कृत भाषा में हो जाता है। वैसा कम भाषाओं में संभव है। यों सभी भाषाओं के अनेक लेखक अपने वक्तब्य को संस्कृत में प्रकट करने के अभ्यस्त होते हैं। नीचे हम विभिन्न संस्कृत कवियों से चिन्तकार्पूर्ण संक्षिप्त व्यंजनाओं के कुछ उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

1. अथ काव्यचन्द्रशैलशृंखलपर्वम् गजमेघवर्षभानुमित्वनाकः

2. स हि काव्यचन्द्रपर्वतावतिः हुदयोगमानकरो वर्णनानाम, भवजाकृतिविलोचनात्मकमावान् वचनस्पर्शपुरुषस्वाजिणंज्ञाहार।

बुधचरित, ५२६, ४२

3. हमां हि रम्यां गजयुथलोचिता निषोलोलोग गर्जसिंहवानरः।

रामायण, अ० काण्ड, ९५, १८

पहले दो पदों में कुमार गौतम (बुध) का वर्ण है। उनकी बाँट, स्वर और अंधें कमाहोपक्षी (की सूर्द), मेघ और वृषभ की जैसी थीं। सुवर्ण पर्वत के समान कान्तिमानकुमार ने अंगनाओं के कान, अंग, नेत्र और मनोभाव कमाहो: अपने बचनों, भूष और गुणों से हर छिये। राम ने सीता से मंदाकिनी नदी के संबंध में कहा कि इसमें हाथियों के बुढ़ा लोटते हैं, और गज-सिंह-वानर इसका पानी पीते हैं।
भारतीय संस्कृति

महाभारत में व्यावहारिक विवेक व नीति-संबंधी बातें संकेत में कहने की कला पराकाष्ठा पर पहुँची दिखाई देती है—

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनमू, ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशालिनि प्रजागरा: ।
क्रोधो हय्यर्षच दर्पंच ही: सल्मो मान्यमानिता, ।
यमप्राप्यापरङ्गति स वै पण्डित उच्चते ।
ईरुर्वृणि न संतुष्ट: क्रोधो नित्यशंकित:, ।
परमान्यायोपजीवी च पढ़ेते नित्यपुःविन: ।

उद्योगपर्व, १३१३, १७,९०

'जिस साधनहीन दुर्बल पुरुष का बलवान् से विरोध है उसे, जिसका धन (संवस्त्र) हर दिखा गया है उसे, कामी तथा चोर को नीटद नहीं जाती।'

यहाँ 'हृतस्व' शब्द बहुव्रीहि समास के कारण संकेत का बिखिया उदाहरण बन गया है। अर्थात् श्लोक की एक पंक्ति में छह दोष गिरा दिये गई हैं; क्रोध, हय्यर्ष, दर्प, लज्जा, उद्वेद, अपने को मायामणिता, ये जिसे पुरुष द्वारा धर्म नहीं करते वही पंक्ति (समासदर) है। संकेत की यही विशेषता बादवळे पढ़ा में भी है। जो ईरुवृणु है, जो धृष्टा करनेवाला है, जो असंतुष्ट है, जो क्रोध है, जो नित्य शंकाशील है और जो प्ररुषे बाय्य पर जीवन-निर्वाह करता है—ये छह व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकते।

बहुव्रीहि समास का चमकार कालिदास के मेघदूत में विशेष लक्षित होता है। अलकापुरी का संकेत करते हुए कवि ने उसे

बाल्योदयानिष्ठतहशिरसश्रव्दिरकायात्मक्याः

अर्थात् 'बाल्य काल में स्तिथ शिव के सिर में विस्मान (चन्द्रमा की)
चाँदनी से धौत (धोये गये) प्रासाद दावेली' कहा है। यहाँ संपूर्ण पंक्ति
अलका का विशेषण है और एकदम स्पष्ट है। मेघदूत में इस कोटि की
दर्जनों व्यज्ञानात्मा आसानी से मिल सकती है। वस्तुतः बहुव्रीहि समास की
मदद से बननेवाले विशेषण संक्षेप काय्य का एक स्पष्टीय उपकरण है।
उद्देश्यलक्षितत्वानुसार सांप्रदाय गुरुद्वारिती शिक्षा लखा में स्थूलावर विशेषण बहुविकस ह समाज से युक्त है (जो तीनों लोकों को बहुन या धारण किये है), वहाँ

जगत्वर्क्षयायत्वात्समीत्वानुसार:
पंक्ति में संक्षेप का कारण तत्पुरुष समाज है। (अर्थ है—तीनों लोकों का एक स्थापत्य अर्थात् निर्माता।)

जैसा कि हमने कहा था, संस्कृत का व्यक्तित्व बड़ा पूर्ण है। शायद ही किसी के देश ने ऐसा प्रतिभासंपन्न वैयक्तिक उत्पन्न किया होगा जैसे कि पाणिनि थे; उन्होंने संस्कृत-जैसी जटिल भाषा के रूपों को नियमों के अनुसार में लाने का प्रयत्न किया। इस अनुशासन के फलस्वरूप संस्कृत भाषा सर्दियों तक अपना रूप स्थिर रख सकी, जब कि विभिन्न प्राकृत भाषाएं उत्तर में होकर विकसित और परिवर्तित होती रहीं। व्यक्तित्व के कठोर नियंत्रण का दूसरा फल यह हुआ था कि संस्कृत भाषा का अंतरा एकदम सुनिश्चित एवं स्पष्ट बन गयी। यह स्पष्टता और विश्वासपालक शास्त्रीय भाषा की आवश्यक विशेषता है। फलतः संस्कृत में शास्त्रीय साहित्य का बौद्ध विकास हुआ। इस दृष्टि से विभिन्न प्राकृत और अपरंपरा भाषाएं ही नहीं, आधुनिक भारत की भाषाएं भी अभी तक संस्कृत का मुकाबला नहीं कर सकतीं। इस देश की दूसरी भाषाएं मुख्यतः साहित्य का माध्यम बनकर रह गयीं।

किंतु साहित्य की दृष्टि से व्यक्तित्व के अनुसार का एक ख़ूब असर भी हुआ। साहित्य में सर्वथा बहुत-सी स्पष्टता प्रिय नहीं लगती। नारी के समान, साहित्यिक भाषा का सौन्दर्य, एक सीमा तक, रहस्यमय संकेतात्मकता से बढ़ जाता है, यद्यपि यह ठीक है कि रहस्यात्मकता सिर्फ भाषा-रूप माध्यम का गुण नहीं है। कालिदास की

कुन्दसेपागुपमधुकरश्रीसुपामार्तविम्बम्
(दोलते हुए कुन्द पुष्यों का अनुगमन करते भीरों की शोभा चुरानेवाले
बृहदरूप भरे नयन-निकेप) जैसी पंक्तियाँ, भाषा की चुस्ती के बावजूद, देखने की विश्वास के एक ऐसे सौदर्य का संकेत करती है जिसकी उपरेखा सिंघव व सुभक्ष नहीं है। फिर भी एक जीवित भाषा में रहस्यालमकता के संकेत का प्रदान उपकरण शब्दों का ऐसा संगठन होता है जो बहुत स्पष्ट अर्थ नहीं देता, जो भाषा द्वारा पाठक के अंतःकरण में रहस्यमय चेतना का स्फुरण करता है। संस्कृत भाषा का यही योगयोग जितनी सत्कारता मांगता है, वह इस कोटि के भाषा-संगठनों की सृष्टि में बाधक हो जाती है। संस्कृत कवि को भाषा नामक अस्त्र का उपयोग करते समय लगातार सजनग रहना पड़ता था, वह उसके साथ किसी तरह की आजादी नहीं ले सकता था; फलतः वह उस अवसर पर अपने को मूलकर अविद्य, अर्थात् तत्त्व मनोदशाओं की उत्सुकता नहीं कर सकता था। यही कारण है कि संस्कृत काव्य में प्रयुक्त अवसर, उसके सामय-वैषम्य विधान, कुछ ज्यादा स्पष्ट व तीव्र ज्ञान झड़ते हैं। नारद तथा कृष्ण की वर्ण-विषमता दिखाने के लिए कवि मान ने एक की बदले के बीते दूसरे की कोशिशें के पहाड़ से गुज़रना कर दिखाई है। चित्रों को पीत्र व पैना बनाने के लिए संस्कृत के कवि, विशेषतः बाद के कवि, अक्सर अतिवथोपक का आधार लेते दिखाई देते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति का भी बाद की पीड़ितों पर प्रभाव पड़ा। किंतु सूर-जैसे कवियों में, भाषा एवं चित्रों की रचना में, अधिक स्त्रः-स्पूर्तिता व लचील और उससे सहृदयित संकेतात्मकता उपलब्ध होती है।

बिनु गुपाल बैराग भई कुंजे
तब ये लता लगति अनि सीताल अब भई विसम ज्वाल की पुंजे,
बृहाद बहुति जमुना खग बोलत बृहा कमल फूलें अलि गुंजे।
इस पद में भाषा को जो सहजता और भावनाओं का जैसा अत्यावहित
लोंग व प्रवाह है। वैसा संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। संस्कृत कविता के
प्रत्येक छन्द में प्रत्येक पद सतर्क एवं सुचित्रित योजना का अंग होता है।
आश्रय यह है कि इस सब सीमाओं के बावजूद संस्कृत-कवि इतनी अनुभूति-
प्रवण एवं रसमयी काव्य-रचना कर सके।
उत्कर्षकालीन संस्कृत काव्य में अनुशासन, नियमबद्धता एवं मर्यादा-वादिता का गौरव है। जीवन और काव्यसृष्टि दोनों क्षेत्रों में संस्कृत के कवि बिस्मिल्लाह तथा मर्यादा पर जोर देते हैं। दिलीप की प्रशंसा करते हुए कालिदास ने लिखा है कि उसकी प्रजा मनु के समय से अच्छी हुई लोगों से वैसे ही नहीं हटती थी। जैसे चतुर सारथि द्वारा संचालित रथ के पहियाँ के बीच लोक से बाहर नहीं जाते। माघ ने अवश्य ही बलराम के मुख से कहलाया है—

अन्युष्कूर्तम् सत्यमय्चासरस्वतिनितम्,
सामानाधिकरणं हि तेजस्तिमिरयो: कुतः।

शिशुपालवधः, २१६२

'उज्ज्वल, नियमों को न माननेबाला व्यतीत दूसरा ही होता है और शास्त्रों के नियंत्रण में चलनेबाला दूसरा; प्रकाश और अंधकार कभी एक जगह नहीं रह सकते।' मतलब यह है कि शास्त्र-नियंत्रित व्यतीत घटिया होता है। नियमों को मानकर चलना हमेशा वांछनीय नहीं होता, इस तथ्य से कवि माघ परिचित हैं। फिर भी उन्होंने बलराम के वक्तव्य को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित किया है, जिससे सिद्ध होता है कि अंततः उनकी सहानुभूति उज्ज्वल सत्त्व के साथ नहीं है—अथवा वह सहानुभूति अधूरी है।

संस्कृत कवियों में श्रीर्ष के ही नायक-नायिका ऐसे हैं जो भाववेश में आकर सामाजिक मर्यादाओं के बंधन को भूल जाते हैं, किंतु हमें यदि रचना होगी कि श्रीर्ष भारतीय संस्कृति के उत्कर्षकाल के गायक नहीं हैं।
तृतीय खंड
भारतीय संस्कृति का मध्ययुग
पाँचवाँ अध्याय
मध्ययुगीन संस्कृति : श्रीहर्ष और तुलसीदास

इस अध्याय में हम दो महाकाव्यों के आधार पर भारतीय संस्कृति के मध्ययुगीन रूप को समझने का प्रयत्न करेंगे। पहला महाकाव्य श्रीहर्ष का ‘नैयायिक चरित’ है जो संस्कृत का अंतिम महाकाव्य माना जाता है। श्रीहर्ष एक प्रसिद्ध बेदाती विचारक भी था; उसने ‘खडंड-खडंड-बांध’ नामक प्रसिद्ध बेदात्म-प्रान्त लिखा है। यहाँ बेदात्म से हमारा तत्त्वांशिक शंकर द्वारा प्रबन्धित मायावाद-संयुक्त अद्वैत बेदात्म से है। श्रीहर्ष का समय बारहवीं शती का उत्तरार्ध है; वह संवत: कश्मीर के विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र की समा का राजकवि था। उसके देर शत के इतिहास में यह वह समय था जब यहाँ मुसलमानों के हमले में हो गया था। हिंदुस्तान पर पहला महत्त्वपूर्ण मुसलमानी हमला एक हजार ईसाई के लगभग महमूद गजनवी द्वारा किया गया। उसने पंजाब के राजा जयपाल ने पराजित किया। सन् १२०० एक हजार अठारह में महमूद ने कश्मीर पर हमला किया और लूट का बहुत-सा घन लेकर चला गया। सन् १२०० एक हजार छब्बीस में उसने काठियाँ-वाद में प्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण किया। वहाँ भी वह मंदिर की बहुत-सी संपत्ति लूटकर ले गया। सन् ग्यारह-सी पचहतर ईसाई में गजनी के दूसरे राजा मुहम्मद गोरी ने इस देर के कुछ भागों पर हमला किया। सन् ग्यारह-सी तिरानने ईसाई में उसने प्रसिद्ध चौहान समाज पुर्खीजाज को हराकर क्रमश: अजमेर, दिल्ली आदि पर अधिकार जमा किया। वाद में मुहम्मद गोरी के गुलाम कुटुबुद्दीन ने ग्यारह-सी चौहान ईसाई में कश्मीर के राजा जयचन्द्र को पराजित किया।
नैयायिक चरित का काव्यत्व

इस ऐतिहासिक विवरण से एक बात स्पष्ट है: अब हिन्दू जाति, विभिन्न कारणों से, अपनति की ओर अपनाता हो रही थी। श्रीहर्ष का काव्य इस हासकालीन युग की उपज है। तुलसीदास का ‘रामचरितमानस’ ‘नैयायिकचरित’ के प्रायों: चार-सौ वर्ष बाद अकबर के राज्यकाल में लिखा गया। वर्तमान मुसलमानों के शासनकाल को मध्ययुग की संख्या देने तो कहना होगा कि नैयायिक चरित इस युग के प्रारंभ की रचना है और रामचरितमानस उस समय की, जब मध्ययुगीन सभ्यता अपने उच्चतम शिखर पर थी।

नैयायिक चरित का लेखक, विशुद्ध कविता की दृष्टि से, भारती, माध्यमवि, माध्यमवि से सटकर नहीं है। संस्कृत भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार है, और उसमें अपने शब्द-संगठनों, व्यवस्थानों तथा चित्रों को उत्सुकता करने की क्षमता है। किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से वह उत्कर्षकालीन कवियों के समक्ष नहीं कहा जा सकता। श्रीहर्ष का सौन्दर्यबोध तथा तीनतिबोध बहुत दूर तक परम्परा का—उत्कर्षकालीन उदात्त परस्पर का—अनुसरण करता है। ऐसे बोध के प्रकाशन में जहाँ-जहाँ पर्याप्त नवीनता तथा चमककार है। किंतु इस बोध के साथ वह अपने युग के विशिष्ट बोध को अनजाने ही मिश्रित कर देता है, जिससे प्रसंगविशेष का समग्र प्रभाव मिलता कुछ घटिया कोटा का बन जाता है। कहने का मतलब यह है कि ‘नैयायिक चरित’ में ऊँचे तथा घटिया सौन्दर्यबोध का संकुल मिलता है। जहाँ इसके बंधियों सौन्दर्यबोध का स्वर हिंदु-भारतीय कव्य का उदास परस्पर है, जहाँ मानना जाहिए कि उस बोध की कमियों तथा जिहातों का हेतु उसके युग का अपेक्षाकृत निचला सांस्कृतिक धरातल है।

श्रीहर्ष का काव्य इस तथ्य का अर्थपूर्ण निर्देशन है कि किसी कवि या लेखक की संबंधित अविवर्त रूप में उसकी युगीन चेतना से प्रभावित होती है। श्रीहर्ष के सौन्दर्यबोध की कमियों का लगाव काव्य की विषयवस्तु तथा उसके रूपाकार (फार्म) या शैली दोनों से ही है। पहले फार्म या
शैली की ओर घायल दीजिए। 'रघुवंश' में उस्मान सर्ग हैं, 'किरातार्जुनीय' में अठारह और 'शिशुपालवंश' में बीस। 'नैषदिक चरित' में पूरे बार्षिक सर्ग है, यद्यपि उसकी कथा का विस्तार अन्ततः तीनों महाकाव्यों में छोटा है। कथा की पूरीति से 'रघुवंश' की विविधता सबसे विस्तृत है, और वही सबसे छोटा भी है। इसका मतलब यह हुआ कि रघुवंश का लेखक अपने वर्णियों में कहीं भी अनवश्यक विस्तार नहीं करता। साथ ही उसे वर्णन के लिए तरह-तरह के विषय या प्रसंग भी सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण के लिए रघुवंश में कवि बिना किसी उक्तिमता के वसिष्ठाथ, रघु की इन्द्रियध्य, इन्द्रियस्वायम, अन-विलास, वसन्त-वर्षन, समुद्र-वर्णन आदि के अवसर पा सकता है। भारवि तथा माध इनमें से कई प्रसंगों के वर्णन का मौका नहीं पा सके, किन्तु उन्होंने कठिनाई नये प्रसंगों की सफल परिकल्पना की। किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के साथ बनेचर, ब्रीपदी, भीमसेन और व्यास के संबंध ऐसे ही प्रसंग हैं। शिशुपालवंश में कृष्ण के साथ नारद, बलराम तथा उद्धर्व के बारातियाँ भी रोचक व स्वाभाविक बन सकते हैं।

इस कोटी के संबंधों ने भारवि तथा माध की विशिष्ट संबंधनाओं के प्रकाशन के सून्दर अवसर उपस्थित किये। राजनीति तथा धर्मनीति से संबंधित प्रसंगों के समावेश से किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवंश में निश्चय ही अर्ध-गोरख भी सकता है। इसी प्रकार शिशुपालवंश में शिशुपाल तथा कृष्ण के भी पक्ष के बीरों की रोपण संभिताओं का चित्रण बड़ा प्रभावशाली एवं मौलिक है। फिर भी कहना पड़ता है कि भारवि तथा माध अपने काव्यों में उतना बड़िया प्रसंग-निर्वाह नहीं कर सके हैं जैसा कि 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' में हुआ है। किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवंश दोनों में प्रकृति, पान-गोष्टी आदि के अनेक वर्णन आप्रासंगिक जान पड़ते हैं, जिनका समावेश काव्य-कलेवर में वृद्धि के लिए ही किया गया है।

इस दृष्टि से श्रीहर्ष भारवि तथा माध से कहीं अधिक दोषी है। 'नैषदिक चरित' में सर्गों की संख्या अधिक है; इतना ही नहीं, उसके सर्ग बड़े लम्बे भी हैं। 'नैषद' के पहले सर्ग में १४५ पंक्ति हैं, दूसरे में ११०, तीसरे में
भारतीय संस्कृति

१३६, चौथे में १२३ और इसी प्रकार आये भी। इसके विपरीत ‘किरातारुजुनीय’ के पहले सर्ग में सिर्फ ४६ पद हैं, दूसरे में ५२, तीसरे में ६०, चौथे में ३८, इत्यादि। ‘शिशुपालवध’ के पहले सर्ग में ७४ पद हैं, दूसरे में दो पंक्तियों में ११५ शब्द, तीसरे में ८२, चौथे में ६० और इसी प्रकार आये। ‘नैष्दीय चरित’ पदसंख्या में ‘किरातारुजुनीय’ से दूसरे से कम नहीं होगा और ‘शिशुपालवध’ से भी बहुत बड़ा है। आर्थिक की बात तो यह है कि वक्तव्य अभ्या कथा की दृष्टि से श्रीहर्ष को उतनी भी बातें नहीं कहती हैं जितनी कि ‘किरातारुजुनीय’ तथा ‘शिशुपालवध’ में कही गयी हैं। अर्थगोरूक की दृष्टि से श्रीहर्ष का काव्य उल्कर्ष-काल के तीनों ही महाकवियों की कृतियों से घटकर है।

प्रश्न है, श्रीहर्ष के काव्य की इस विशालता का कथा रूप व रहस्य है। किस प्रकार, किस चीजों के समावेश से, उसका कलेवर इतना बड़ा बन सकता है? हमारी समझ में इस कलेवरवृद्धि के दो मुख्य रूप तथा हेतु हैं। प्रयत्न: श्रीहर्ष में अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत बड़ी हुई है। दूसरे उसने अपने काव्य में कुछ ऐसी बातों का समावेश किया है जिनका सम्बन्ध उसके विशिष्ट युग अथवा उसकी मनोवृत्ति से है।

श्रीहर्ष ऐसा मानता प्रतीत होता है कि अच्छी चीज की अच्छाइ के बाद सुन गए हों, मात्रा पर भी निर्भर करती है। कालिदास आदि ने अपने काव्यों में जिन रोचक प्रसंगों का समावेश किया है, उनमें से कुछ न को समावेश नैष्दीय चरित में हुआ है, किन्तु यहाँ उन प्रसंगों को अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है। उदाहरण के लिए रघुवंश के पाँचों सर्ग में तरुण अवस्था के नन्दी-भाटों द्वारा अज को जगाने के लिए कुछ पद गवाये गए हैं। ये पद बड़े सुंदर हैं, उनकी संख्या सिर्फ आठ है। इसके अनुकरण में श्रीहर्ष ने समूह उत्सवों सर्ग राजा नल को जगाने के प्रसंग को लेकर रच दिया है, और इस सर्ग में हरिरी-जैसे बड़े छन्द में सात पद हैं, और दूसरे बड़े छन्दों में बाकी सात पद। इन्द्रमती-सम्बंध के प्रसंग में सुनवादा द्वारा नायिका को अनेक राजाओं के सामने उपस्थित किया गया है, इन राजाओं के वर्णन
नायक का सौन्दर्य-वर्णन

श्रीहर्ष ने नल तथा दमयती के सौन्दर्य-वर्णन में भी बड़े विस्तार का प्रदर्शन किया है। ‘कुमारसंभव’ में कालिदास ने पार्वती के सौन्दर्य-वर्णन में सिर्फ उसी स्तोत्र श्लोक लिखे हैं। इसके विपरीत ‘नैचयीय चरित’ में दमयती का वर्णन करनेवाले श्लोकों की संख्या कई सौ होगी, कारण यह है कि यह वर्णन कई जगह अनेक दर्शकों की दृष्टि से कराया गया है। इसमें संदेह नहीं कि श्रीहर्ष के ये वर्णन बहुत कुछ गलातुलितकात तथा पिश्चेदेशण के बावजूद आर्क्स का बन सकेंगे। इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का नयापन इस बात में है उसने नल के शारीरिक सौन्दर्य का भी लम्बा-चौड़ा वर्णन प्रस्तुत किया है। यह वर्णन उल्काधारी वायु की धर्मादायियों के विश्व नहीं है। वहाँ नारी-सौन्दर्य की ही विवृति का विशेष प्रयत्न मिलता है; पुष्प-नायकों के संबंध में स्वभाव, चरित्र आदि की विवेषशास्त्रों का उल्लेख ही महत्वपूर्ण समझा जाता है। वस्तुतः श्रीहर्ष द्वारा वर्णित नल के सौन्दर्य में कुछ हद तक स्त्रृणाता का पुट दिखाई देता है। श्रीहर्ष ने नल का नख-शिखर वर्णन करने का कुछ बैसा ही प्रयत्न किया है जैसा नायिकाओं के संबंध में किया जाता है—
भारतीय संस्कृति

अधारि पद्मेषु तदन्धिणास्मात् गृहाम्,
कव तन्भयन्यायलोकापि पल्लवे;
तदाव्यास्यायपि गतोधिकारिता,
न शारदः पाशिकसर्बरीशवः।

नैपधीय चरित, २१२०

'उसके चरणों ने कमलों के प्रति घृणा (जुगुप्सा या दया) धारण की;
कपलों में उसके हाथ की शोभा की छाया का लेख भी कहूँ था और शरद का पूर्ण वनस्पति उसके मुख की दासता के योग्य भी न था—समानता का तो प्रसन्न नहीं उठाता।' नल के सौन्दर्य-वर्णन में सर्वत्र कवि ने इसी प्रकार अतिशयोक्ति से काम लिया है। फिर भी यह मानना पड़ता है कि वह सौन्दर्य-वर्णन जहूँ-हार्ष प्रभावशाली हो सकता है—

महीप्रचास्य च मन्मथश्रया,
निजस्य भिक्षस्य च तं प्रतीवृक्षया;
विधा नृपे तत्र जगत्यीयभवां
नात्रायाभारोमयिष्ठमोभवतु।

न का निशिका स्वप्नस्वातं ददार्थ तं,
जगाद गोभरसत्तेवते च का न तमम;
तवालमतत्वर्णाधित्वा रत्ते च का
चकार वा न स्वप्नोभवोद्भवम्।

नैपधीय चरित, २१२६, ३०

'राजा नल कामदेव के समान सुन्दर था और उसके प्रति चित में काम-
वासना का उद्रेक होता था; इस प्रकार तीनों भूमियों की सुन्दरियों के मन में
उस नरपति में दो प्रकार का काम-विभ्रम होता था। ऐसी कौन-सी रूढी थी
जो नल का स्वप्न नहीं देखती थी और धोखे से नल का नाम नहीं हो लेती
थी? कौन-सी नारी थी जो रति के समय अपने पति को नल के रूप में
ध्याती हुई काम-विद्वान नहीं हो जाती थी?'
मध्ययुगीन संस्कृति : श्रीहर्ष और तुलसीदास

अतिशयोक्ति के बावजूद ऊपर के पद्म हृदय पर प्रभाव डालते हैं। पहले सर्ग के प्रारम्भ में श्रीहर्ष ने नल के दूसरे गुणों का भी वर्णन किया है—उसकी शूरता का, उसके शास्त्र-ज्ञान का, उसकी उदारता एवं दानवीलता का; किन्तु ये वर्णन परस्पर-भूमक से हैं। सोलह वर्ष की अवस्था से पहले ही नल ने सारी पुष्क्रि को जीत लिया था, यह सुचना केवल सुचना जान पड़ती है; वह हुमारी रसानुभूति का अंग नहीं बन पाती। कालिदास ने एक पूरे सर्गों में रघु की दिशिवजय का वर्णन किया है, उन्होंने रघु तथा इंद्र के संघर्ष का भी उल्लेख किया है। फलतः हमें रघु की वीरता का रसात्मक बोध होता है। 'दुर्मती-स्वयंवर' में अज तथा दूसरे राजाओं के युद्ध का भी वर्णन है। श्रीहर्ष के लम्बे काव्य में ऐसा वर्णन कहीं नहीं दिया गया है। संपूर्ण काव्य की कथा मुख्यतः यही प्रभाव उत्पन्न करती है कि नल एक बहुत सुंदर एवं अनुरागी पुरुष थे।

दमयत्ती तथा नल दोनों के ही सौन्दर्य का वर्णन कईं जगह किया गया है। हंस के द्वारा दमयत्ती के साथेने नल के रूप की प्रशंसा करायी गयी है। नैषधीय चरित में हंस को कुछ ज्यादा महत्त्व दिया गया है और उसे लेकर बहुत से पद लिखे गये हैं। हंस के द्वारा किया गया नल के रूप का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण तो है ही, साथ ही पौराणिक व्यक्तियों के संकेतों से युक्त और हुलका भी है। ब्रह्मा के प्रति क्रोध प्रकट करते हुए हंस कहता है—

धिकं त्विरविज्ञवः: पापिजमात्रज्ञवः
निमितिः यः पर्विन्ध पूर्णमिन्धुः
मन्ये स विज्ञः: स्मृततमुख्ये:
क्रित्विशार्धमोहादरसुन्दिनः यस्तम्।

नैषधीय चरित, ३११२

'विधाताके उस लोकभूत हाथ को धिक्कार है जो हर पूर्णिमा की रात में पूर्ण चन्द्र को निर्मित कर देता है। (जब नल का सुंदर मुख मौजूद रहता है)
है तो फिर पूर्ण चन्द्र के निर्माण की बया जहूँत है? मानना चाहिए कि नल के मुख की शोभा को याद करते हुए ही ब्रह्मा ने शिवजी के माये पर चन्द्रमा को अर्धरचित ही छोड़ दिया था।' इस प्रकार की उद्योगाण इतने ही मत करते से युक्त भरे ही हो, किन्तु सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति को आगे बढ़ाने में बिलकुल ही सहायक नहीं होती। नीचे के को पद भी ऐसे ही, बल्कि इससे भी खराब है—

अस्मत्व फिल श्रोतसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य, तत्तानुरक्ता तत्तमाप्य भेजे तत्तमागन्धासङ्कूबरं सा।
स्वल्लोकमयामामिरत: प्रयातः केलीधु तद्गामणुङ्गाप्रीय, हा हैति गायन्यदशोचि तेन नामवेख हाहा हरिगायनोभूतु।
नैषधीय चरित, ३१२६, २७

'हमसे नल के अतुल सौन्दर्य के बारे में सुनकर रम्भा नाम की अपराध नल में बढ़ी अनुरक्त हो गयी; किन्तु, क्योंकि वह उसे नहीं पा सकती थी, इसलिए उसने उस राजा के नाम की गन्ध से युक्त होने के कारण नलकूबर को स्वीकार कर लिया। नल के सुन्दर संगीत को सुनने के बाद स्वर्ग में इतने गायक के गीत सुनते हुए हमारे मुख से अफसोस के साथ निकल गया—हा, हा! फलतः इन्द्र के गायक का नाम 'हा-हा' पड़ गया।' (कोश के अनुसार हाहा शब्द का अर्थ है स्वर्ग का गन्धयर्थ या गायक)। इस कोटि की हृदःकी उत्प्रेक्षाओं से उन्हीं का मनोविनोद हो सकता है जिनकी अभिशिष्ट बालकों-जैसी है। जो दमयती हंस की ऐसी बातें सुनकर नल पर मुग्ध हो गयी, उसकी शुचियाँ कितनी विकसित रही होंगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः श्रीह्यार्य के नल और दमयती के व्यक्तित्वों में
महायुगीन संस्कृति: श्रीहर्ष और तुलसीदास

शारीरिक सौन्दर्य से भिन्न मनस्विता, गरिमा आदि गुणों का उचित समावेश नहीं हो सका है।

मानवीयता का हास

उपर्युक्त कोटि के वर्णन एक महत्वपूर्ण आलोचनात्मक प्रश्न उपस्थित करते हैं: क्या ये वर्णन उदात्त एवं प्रभावशाली नहीं जान पड़ते? श्रीहर्ष की वाणी में विद्वंद्वता की कमी नहीं है, उसमें अलंकारों के विधान की भी पर्याप्त क्षमता है। उसका भाषाधिकार माध से घटकर नहीं है। दमन्त्री के स्तम्भ में भारतीय सरस्वती इन्द्र आदि के समक्ष राजकुमारी से ऐसे बात करती है कि उसके वक्तव्य एक साथ ही नहीं नामक राजा तथा उसका वेश धारण करनेवाले इत्या या दूसरे देवता पर लगू हो जाये। दूसरे स्थलों में भी श्रीहर्ष ने अपने भाषा-ज्ञान का पर्याप्त परिचय दिया है। भाषा के साथ ही उसका पौराणिक कथाओं पर भी विस्तृत अधिकार है। इन कथाओं का ज्ञान उसके काव्य के लिए गातक सिद्ध हुआ है। नैपाण्डकर जहाँ-जहाँ पौराणिक घटनाओं के संकेत प्रस्तुत कर देता है जान पड़ता है जैसे वह मानव-जीवन को पौराणिक कहानियों के छोटे की मदद से प्रकाशित करना चाहता हो। फल यह हुआ है कि बहुत-से स्थलों में उसके काव्य की मानवीयता, मानवों को आर्थिक, बहुत-कुछ भाव को गया है। श्रीहर्ष को यह जान नहीं कि काव्य-साहित्य का असली एवं एकमात्र विश्व मानव-जीवन एवं मानव-जगत है। पुराणों के आध्यात्म भी हमें जहाँ तक अच्छे लगते हैं जहाँ तक उनमें मानव-जीवन से संबंधित स्त्रियाँ की दिलचस्पी मिलती है; काव्य के लिए पौराणिक गाथाएँ स्वयं में साहित्य तथा महत्वपूर्ण नहीं हैं। किसी कवि की महत्ता का माप उसका मानव-जीवन-सम्बन्धी अनुभव या बोध होता है, किसी दूसरे प्रकार का ज्ञान या बोध नहीं। श्रीहर्ष के वर्णन अक्सर मानवीयता की सीमा का उल्लंघन करते हैं।

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि नैपाण्डकर के कतिपय वर्णन भावधारकता से अधिक लम्बे हैं। दमन्त्री-स्तम्भकर का वर्णन करनेवाले कई
भारतीय संस्कृति

सर्ग इसी कोटि में आते हैं। इस स्वयंवर में कवि ने अपने पौराणिक स्नान का बढ़ा ही दुश्यन्त किया है। कालिदास द्वारा वर्णित इनुमति के स्वयंवर में सिर्फ मानव राजा या शासक उपस्थित हुए थे; दमयन्ती के स्वयंवर में इन्द्र आदि नल-सूप्तार्द्धे देरवाने के अंतिम्ब दांतुक नाग जैसे अमानवीय सत्ता भी आं पहुँचे थे। वस्तुत: दमयन्ती को जिन परिणाम-प्राप्तियों व्यक्तियों के सामने पहुँचाया गया है, उनमें सर्वाधिक सर्पराज वासुकि ही हैं। पाठक अभिमान कर सकते हैं कि ऐसे जीव का वर्णन कहाँ तक मानवोत्सरित रस-भावना की सृष्टि कर सकता है। इसी प्रकार विभिन्न राजाओं के वर्णन के बीच में इनका भाग इतना उज्ज्वल, काशी आदि नगरियों का वर्णन है, जिसका प्रकृत प्रसंग से विशेष सम्बन्ध नहीं है। काशी नगरी पार्षदों को कानेवाली है और मोदे देवेवाली है, यह संकेत एक ऐसी युवती के लिए कोई महत्व नहीं रखता जो ऐहताकिक सबोष्टियों के लिए उपयुक्त पत्त का वरण करने चाहती है।

प्रकृति वर्णन

श्रीहर्ष के प्रकृति-वर्णनों में भी इसी तरह अनावश्यक पौराणिक तथा दूसरी कोटि के विवरणों का समावेश किया गया है। उद्देश्यस्वरूप सर्ग में बन्दियों द्वारा प्रभाव-वर्णन कराया गया है; यह वर्णन एकदम ही उच्चतम ग्राह है। जान पड़ता है, श्रीहर्ष में प्रकृति-सौन्दर्य के आकलन एवं वर्णन की क्षमता बहुत सीमित है; कवि का यह उस सौन्दर्य में रमता हुमा बहुत कम दिखाई देता है। ऐसे स्थल में सिर्फ प्राचीन काव्य का शान पर्याप्त नहीं होता। यहाँ भी श्रीहर्ष ने गृहयत: पौराणिक कथाओं एवं अरोचक धर्म-विवाहों के लिए नीरस परिचय दिया है। पाठकों को जाणकारी के लिए हम सिर्फ दो पद सर्वज्ञ करेंगे—

प्रजाति कुमुदे द्वृष्ट्वा मोहं दृष्टोपिघायके
भवित च नले दूरं तारापति च हृतोजसि,
लघु रघुतेजाया श्रावणीयमय रावणिका-
स्तिमिरिचुक्रग्राहं राँचिं हिन्नि गम्भिरिराद्।
"अंधकार रूपी केवल को पकड़कर सूर्य रात्रि को बैले ही मारता है जैसे रावणपुरुष मेघनाद ने मायामयी सीता को मारा था—उस समय, जब कुमुद (पुष्यविशेष तथा कुमुद नाम का वानर) मोह या मूर्छा को प्राप्त हो रहा है, नल (राजा नल और उस नाम का वानर जो राम की तेना में था) आंखें बंद किए हुए हैं और तारापति (चन्द्रमा या युधिष्ठिर) का तेज नष्ट हो चुका है। आकाश सूर्य की काल्पिकियों का आतिथ्य-सत्कार कर रहा है; तिमिर-समूह-रूपी द्रुव की गाथों से जिनका रंग शवच द्रुव (चंकितनारा) हो रहा है ऐसे नग्न-रूपी साहित्य चालाणों से उन्हें अंग देखकर (पूजकर) ओस की बिन्दुओं के चूर्णलप्पु जल भी चींता सत्तू भौजन के लिए अपित कर रहा है।

यहाँ पहले पद में रामचरित के कुछ पाठों का संक्षेप है, जिसका प्रकृत वर्णण से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। पाठक इस स्थान की तुलना मात्र के सूर्योदय व प्रभात के वर्णों से करें। इसी प्रकार दूसरे पद में बाँधा हुआ रूपक भी अर्थपूर्ण है। दोनों ही पद हमारी चेतना में सीन्द्रिय का उन्मेश करने में असाध्य हैं।

श्रीहरि द्वारा चित्रित सीन्द्रिय तथा प्रणय-प्रसंगों में एक नयी चीज देखी जाती है, अर्थात् नायक-नायिकाओं में प्रत्याविष्ट संयमशीलता की कमी। नायक-नायिकाओं से भिन्न व्यक्तियों में संयम की विशिष्टता का संकेत काल्पिकिता, मात्र आदि में भी मिलता है। रघुवंस में राह से गुजरते हुए कुमार अज को देखने के लिए नगर की दीवार बड़ी उत्कंठा और लंबे से गवायों या बिंडुकियों की ओर दौड़ी दिखालेयी गयी है। इस प्रकार दीड़कर पहुँचने की जल्दी में कोई अपने केशपाण्डु को बाँधना भूल गयी, कोई करघनी के द्वारे में मणियों को पिरोना; किसी ने एक बाँध में अंजन लगा लिया था।
भारतीय संस्कृति

तो दूसरी में लगाये बिना ही कुमार को देखने दौड़ पड़ीं। 'इस प्रकार का वर्णन कालिदास से पहले अस्वच्छ के 'बुद्धचरित' में मिलता है, यद्यपि वहाँ यह वर्णन उतना चमत्कारपूर्ण नहीं हो सकता है जैसा कि रघुवंश में। माय रेखा 'सिलुपालवध' में भी श्रीकृष्ण के 'इतिहास-प्रवेश' के अवसर पर प्रदर्शित पुरानार्थियों की चेताओं का वर्णन किया गया है। नैवधीय-चरित के पद्धतियों सर्ग ने श्रीहर्ष ने इन वर्णनों का यथास्थान अनुकरण किया है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, श्रीहर्ष ने कालिदास आदि के द्वारा वर्णित प्रसंगों का यथासंभव समावेश तो किया ही हैं, अक्सर उन प्रसंगों का ज्यादा लम्बा भी बना दिया है।

किन्तु नैवध में, कथा की प्रकृति के अनुसार, कहीं-कहीं नये प्रसंगों का समावेश भी हुआ है। अवश्य ही ये सब प्रसंग काव्य की प्रगति और उसके सौन्दर्य के लिए हितकर नहीं हुए, फिर भी कुछ प्रसंगों की सुन्दरता तथा प्रभावशीलता निविवाद है। ऐसे प्रसंगों में सबसे रेखाएं एवं प्रभावशाली प्रसंग नल द्वारा इन्द्र आदि देवताओं के सन्देश का दमन्त्व के सामने उपस्थित है। नल स्वयं दमन्त्व में निर्भरता अनुरक्त हैं, फिर भी वे बड़े धर्मों और संयम के साथ दमन्त्व के समझ के केवल रेखाएं प्रमुख देवताओं के सन्देश ही रखते हैं, बल्कि दमन्त्व को यह समझाने की कोशिश भी करते हैं कि उसे इन्द्र आदि दर्शकशाली देवताओं में से किसी एक का वरेन कर लेना चाहिए।

इस प्रसंग में नल दमन्त्व को यह भी बताते हैं कि देवताओं के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने के क्या-क्या बुरे परिणाम हो सकते हैं। नल के इस व्यवहार द्वारा कवि ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वे एक धर्मभीम एवं कर्तव्यविनियम पुरुष थे।

किन्तु इसी प्रसंग में श्रीहर्ष ने दिखाया है कि किस प्रकार नल-जीसा

1. रघुवंश, सर्ग ७, श्लोक ६ तथा आगे।
2. बुद्धचरित, सर्ग ३, १५ और आगे।
मध्ययुगीन संस्कृति : श्रीहर्ष और तुलसीदास

कर्तव्यपरापण पुरुष भी, एक सोमा तक ही आत्मनिर्वागण एवं धैर्यशीलता का निर्वाह कर सकता है। देवताओं के पश्चात भी दमयती के सामने पूरी शक्ति व इमानदारी से प्रस्तुत करने की धृष्टि में नल ने उसने यहाँ तक कह दाला कि यदि किसी कारण उसने एक या दूसरे देवता के वरण नहीं किया तो वे लोग उसे विपत्ति में डालने से न चूकेंगे और इस प्रकार वह किसी भी प्रकार राजा नल का वरण करने में सक्षम नहीं हो सकेंगे। निष्कर्ष यह कि देवताओं की हर्षाओं का विरोध करते हुए दमयती के लिए यह किसी भी तरह संभव नहीं है कि वह अपने प्रेमसपद नल से परिवर्तन कर सके।

इद्देश सत्तेश्वरों हिंदु मय विहाय मोहं दमयति चित्तव्र,
शुरुतू विधलकौरसु नो नर: कर्स्यमप्यवर्थमचापुमाग्निश्वरः।

नैष्ठ्रीय चरित, ९८३

'है दमयती ! मैंने यह जो तुमसे कहा, वह बहुत हितकारक है; मोह को छोड़कर उस पर विचार करो। जब देवता विचन करनेवाले हीं तो कोई मनुष्य हाथ में मौजूद चीज़ को भी कैसे प्राप्त कर सकता है? ' ऐसी बातें सुनने पर दमयती उन पर विश्वास करके रोने लगी। आ behave मानो सावान-भादों बन गयी। उसकी आबों से बहुकर काजल से काया आसू कुंवरों की दिशा में बैठे ही गिरते लगे जैसे कलियों की ओर भाँति प्राधिकार होते हैं। गाम के बाणों से पीड़ित व कांपती हुई वह उस समय चोक अयोवा वियोग-स्थान रूपों के रस की सरसी जैसी दीक पड़ी—उसके नीचोत्तल जैसे लोचनों से आसुओं की धाराएं बह रही थीं। दुःख से मतिभ्रष्ट होकर, धैर्य-शून्य हो गई वह तरह-तरह के प्रशंसाकरण लगी—'है कामानं! तुम जलदी करो, मेरे क्रियाकलाप की भस्मभूपी कौति का श्रीग्रंथ विष्टार करो। हे हुदय! यदि तुम मोह व तुम भी वियोग की आग से तपका द्रवित कैसे नहीं हो जाते? तुम बजर तो ही नहीं—क्योंकि कामदेव के बाण तुम्हें में गालत है। फिर तुम विदीर्ण कैसे नहीं हो जाते? हे प्राण! तुम्हारा...
हृदय-हृपी घर जल रहा है, फिर क्यों तुम नहीं शीघ्र ही उसे छोड़कर चले जाते, क्यों आलस्य कर रहे हों?

दमयति के मुख से इस प्रकार के प्रलय-उद्दार सुनकर नल आत्म-विस्मृत हो गये। वे यह भूल गये कि वे देवताओं के दूत बनकर आये हैं, और उन्होंने दमयति को अपना सही परिचय दे दाला। वे कुछ ऐसा महसूस करने लगे जैसे दमयति उनकी प्रेयसी है जो रूप होकर मान का अभिनय कर रही है; यह मानकर नल उसे तरह-तरह के वचनों से प्रस्थर करने की कोशिश करने लगे। उन्होंने कहा—हे प्रियेय, तुम किसके लिए विलाप कर रही हों और तुम्हारा मुख क्यों आसुरों से आच्छादित हो रहा है? क्या तुमने अपने दिव्यकृ देखनेवाले नेत्रों से सामने खड़े इस नल को (चरणों में) गिरते हुए नहीं देखा? तुमने हाथ के कीड़ा-कमल को नीचे क्यों पंक्तिदाया, और अब उसकी जगह अपने मुख को बहुत क्यों रख छिया है? वस्त्र-स्थल पर से आभूषणों को हटा कर तुम आसुरों का हार क्यों बना रही हो? आँखों से गिरता हुआ यह जल अभ्यंगलकारी है, इसे मैं अपने हाथों से पोंछ दूं? यदि मुझसे अपराध हुआ है तो उसे तुम्हारे चरन-कमलों की धूल के साथ अपने सिर से हटा-दूं?

काफी देर बाद नल को यह आम्स हुआ कि वे अपनी स्थिति को भूल गये हैं, और उन्होंने इस बात पर परवाह नहीं किया। किन्तु आत्म-विस्मृत होने से लगे वे दूत के कर्तव्य का भली भांति निवाह से हुए।

इस प्रकार श्रीर्य ने एक असामान्य स्थिति में नल की कर्तव्य-प्रतिभा दिखायी हुई, और उसे वस्तुतः कर्तव्य से व्युत होते नहीं दिखाया है। नैपादी चरित का यह प्रसंग श्रीर्य की काव्य-प्रतिभा का सबसे बड़ा निदर्शन है।

इस प्रसंग के अतिरिक्त स्थलों में श्रीर्य ने प्रत्यक्ष काव्य-निर्माण-शक्ति

3. नैपादी चरित, ६१५५-६० ।
4. बहुत, ६१५९, १०५, १०६ ।
मध्ययुगीन संस्कृति: श्रीहर्ष और तुलसीदास  

का कम ही परिचय दिया है। नैषधीयचरित के कथानक की एक विचित्रता यह है कि नायक और नायिका दोनों ही एक दूसरे को बिना देखे तीव्र अनुराग का अनुभव करते लगते हैं। दोनों ही वियोग के कष्ट का अनुभव करते हैं। श्रीहर्ष की यह कल्पना भी नयी कहीं जा सकती है। फिर भी उसके वियोग-वर्णन उतने यथार्थ एवं प्रभावशाली नहीं जान पड़ते। 'कुमारसंभव' में रति शिवजी द्वारा भस्मसात्तु किये हुए पति को याद करके विलाप करती है। वैसे ही 'घृङ्गसंत' में राजा अज अपनी मृतक प्रिया इल्मातिक की याद करते रहते हैं। रति और अज दोनों उन सुख की स्थितियाँ का स्मरण करते हैं जिनका मूत साथी के साहस्य से सम्बन्ध था। स्थष्ट ही नल और दमनती दोनों, जिन्होंने एक-दूसरे को अभी तक नहीं जाना है, वैसी स्थितियाँ का स्मरण नहीं कर सकते। (कवि ने नल के वियोग का वर्णन पहले सरग में किया है और दमनती के विरह-कष्ट का वर्णन चौथे सरग में हुआ है; तब तक दोनों ने एक-दूसरे को विलुक्त ही नहीं देखा था।) फलतः दोनों के विरह-वर्णन को प्रभावशाली बनाने के लिए कवि को अतिशयोक्ति का अधिक आध्यय केन्द्र पड़ा है। इनके विपरीत कालिदास के वर्णनों में अतीत सुख की स्थितियों के चित्रों की प्रधानता है।

उपर हमने कहा था कि श्रीहर्ष ने सौन्दर्य-वर्णन तथा दूसरे प्रसंगों में पौराणिक संकेतों का अनावश्यक समावेश किया है। नैषधीयचरित में हनुम, अभिन यम आदि देवता, जो दमनती के पाणि-प्राणी हैं, बहुत सा स्थान लेते हैं। स्वयंवर की घटना के बाद यह आवश्यक नहीं था कि उन देवताओं को पुनः वर्णन का विषय बनाया जाय। किन्तु श्रीहर्ष ने एक पूरे सरग में—अर्थात् सत्रहवें सरग में—देवताओं का प्रस्ताव दिखाया है। स्वर्ग की ओर प्रस्ताव करते हुए इन देवताओं से कल्युंग की सेना का साक्षात्कार होता है। इस प्रसंग में कवि ने रोध, लोभ, मोह आदि के स्वरूप व शक्तियों का वर्णन किया है और चार्कि आदि के वेदविरोधी सिद्धान्तों का भी परिचय दिया है। काव्य की दृष्टि से ये सब अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। अवश्य ही वे श्रीहर्ष के युग की नैतिक-धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। बीसवें
भारतीय संस्कृति

सर्ग में नल तथा दमयती की बातचीत, उनकी नोक-शोंक व एक-दूसरे के प्रति प्रदर्शित भोग, मान आदि का वर्णन है। यह सर्ग भी काव्य-दृष्टि से बहुत कमजोर है। इसी प्रकार इक्कीसवें सर्ग में नल द्वारा की गयी देवपूजा तथा स्तुतियों का विवरण भी अप्रासंगिक एवं ऊब उत्पास करनेवाला है।

नैषधीय चरित में संस्कृत काव्य निरंजन रूप से पतनोमुख दिखाई देता है। उसके कलेवर में पौराणिक आक्षणों, उपमाओं आदि का प्रचुर समावेश इस बात का चोटक है कि अब आर्य-जाति के नेता तथा प्रवक्ता क्रमशः जीवन के यथार्थ की पकड़ से वांछित होने लगे थे। पुराणों की दुनिया में रचित बड़ी रही थी, जिनके फलस्वरूप लोगों की धार्मिक मतोपवृत्ति स्थूल एवं घटिया बनने लगी थी। भारतीय तथा माध में हम जैसी प्रबुद्ध नैतिक एवं राजनीतिक चेतना पाते हैं वह श्रीहर्ष में दिखाई नहीं देती। कालिदास की क्रतियों में शिव, विष्णु आदि की जैसी उदात्त स्तुतियाँ हैं। वैसी नैषधीय चरित में नहीं मिलती।

प्रवृत्तिस्पृंगों में उल्लिखित सूक्त में दार्शनिक पूजा के बदले स्थूल पौराणिकता ही अधिक मुख्य है। यथापि श्रीहर्ष एक बड़ा दार्शनिक भी था, फिर भी उसके द्वारा रचित अवतारों की स्तुतियाँ रघुवंश तथा कुमारसंभव की स्तुतियों से कहीं घटिया जान पड़ती हैं। पाठक कालिदास तथा श्रीहर्ष के कुछ पदों की तुलना करें—

प्रबुद्धपुंडरीकांशा बालातपनिमांशुकमुः
दिवसं शारदभिब्रम प्रारम्भमुखर्दशनम्।
बालुभिविपक्का राति: भूपित:।
आतिभूतमपमो मध्ये पारिजातमिलवापरम्।
सर्वस्तवस्तवस्तवस्तवस्तव: सर्वब्रह्मात्मात्।
सर्वब्रह्मात्माश्चात्मामेकस्तं सर्वन्त्वभाक्।

रघुवंश, १०१९, ११, २०

'बिले द्वारा कलमों-जैसे उनके नेत्र थे, वे प्रभात के पीताम्बर प्रकाश-जैसा पीताम्बर पहने द्वारा थे, वे शरद के प्रारंभिक दिवस के समान देखने में
सुखकर प्रतित हो रहे थे। शाखाओं-जैसी लम्बी बाँध हामूणों से भूषित थीं; जान पड़ता था मानो जल के भीतर एक नया पारिजात का वृक्ष आविभूत हो गया है। ...आप सर्वज हैं; पर आपको कोई नहीं जानता; सबके कारण हैं, पर स्वयं कारणात्म हैं; सबके ईश्वर हैं, किन्तु आपका कोई ईश्वर नहीं है; एक है, किन्तु सब प्रकार के रूपों को धारण करनेवाले हैं।’

पीछे हम कालिदासकृत स्तुतियों के द्वारे उदाहरण भी दें चुके हैं। ऊपर के निर्माण दो पदों में भगवान् के सुन्दर एवं उदासरूप का उल्लेख है, तीसरे में उनकी बिंदु-विभाजिती अदृश्य शक्तियों का संकेत है, जिसमें सहज ही वर्षी निक रहस्यमयता का पुत्र आ गया है। इनकी तुलना में श्रीहर्ष-कृत स्तुतियाँ, अप्रासंगिक होने के साथ-साथ, स्थूल रूप की परिचयक जान पड़ती हैं। कुछ पद देखिए—

दिखु यस्वुचुतुष्ट्यमुद्रामभ्यैरी चुरुपोष्पि समुद्रानु, तस्य पोतिवपुरस्तव दंपत्रा युत्स्पद्येतु सम बालसु जगत्या।।
उद्वभावजतनुजाज्ञ! काम विश्वमूर्ण! न हृपणमत्र, 
हृपणप्रशमनाय समय येन देव ! तव वैभवमेव।

नैषधीय चरित, २१५७, ६९।

‘प्राची आदि चारों दिशाओं में जो समुद्र है, उन्हें बराह एक धर्मार्थी भगवान् के, महावराह के, छुंटों की मुद्राएं (चरण-चिंतु, चरण रखने से उत्पन्न गढ़े) मानता हैं। विशाल बराह की देवताएँ आपकी वह पं दंपत्र (दाढ़ या बैत), जिस पर पृथ्वी को धारण किया गया था, मेरी कामवालों की पूर्ति करे।...है जन्मरहित राम! आप अज (जन्मरहित) के पुत्र 
दशरथ से उत्पन्न हुए, इसमें कोई दोष की बात नहीं है; क्योंकि आपका 
ईश्वर ही हृपण (दोष या हृपण नाम राक्षस) के शमन में समय है।’

यहाँ पहले पद के प्रथम पंक्ति में उपयुक्त गौरव है, किन्तु दूसरी पंक्ति, 
हर्षकी याचना के समावेश से, घटिया बन गयी है। दूसरे पद में भी सस्ती 
कोटि की शब्दकोड़ के अतिरिक्त कोई चमत्कार नहीं है। संस्कृत के मूल
भारतीय संस्कृति

श्लोकों पर दृष्टि डालकर पाठक यह सहज ही देख सकेंगे कि सौष्ठव तथा भावना के भौदालय, दोनों दृष्टिकोणों से श्रीर्हर्ष के पद्ध कालिदास के श्लोकों से कहीं घटकर हैं। निम्नलिखित पद्ध में निहित प्रार्थना में भी वैसा ही घटियापन है—

नी ददासि यदि तत्त्वधिर्म में यथा मोहमपि तं रघुबीर
वेन रावणचामूर्युधि मूढा तवनयं जगदप्यवदशेषम्।

नैषधीय चरित, २१७०

'हे रघुबीर! यदि आप मुखे तत्त्वधिर्म नहीं देते, तो वह मोह-भावना नहीं
दीजिए जिसके वश में होकर रावण की सेना ने समूचे जगत् को रामरथ देखा
था।' कालिदास-जिसे कवियों के स्तुति-प्रसंगों को पढ़ने के बाद इन पद्धों का
अवलोकन करते हुए जान पड़ता है जैसे हम किसी चित्राइ के दिप्नकर एकाएक
बहुत नीचे पहुँचा दिये गये हैं। माना कि कालिदास में भी सुगुण ईश्वर की
भावना वर्तमान है, किन्तु वहाँ हम यह क्षण भर को भी नहीं भूलते कि
भगवान् की सुगुणपूर्णता एक आरोपमात्र है, और उनका यथार्थ रूप विश्व-
सत्य व विश्व के अवधिप्रभाव का है—कि वे वस्तुतः विश्व के अर्थों रूपों
के हेतुभूत तथा प्रकाशक हैं। श्रीर्हर्ष के पद्यों में भगवान् के उदात्त रूप को
निरन्तर सामने नहीं रखा जाता, यही नहीं; हलकी याचना द्वारा भी उनके
गोरख को क्षत कर दिया जाता है।

वस्तुतः मध्ययुग के अधिकांश भक्त-काव्य में यह कमी दिखिलाई देती
है; अंततः कवियों के कतिपय स्तुति ही इसके अभाव हैं। मध्ययुगीन
भक्त कवि न तो भगवान् के उच्चतम रूप को ही कल्पना-वच्चुओं के सामने
स्थापित रख पाते हैं, और न अपने को ही उस ऊंचे घरातल पर प्रतिष्ठित
कर पाते हैं जहाँ विस्वार्थमा, विश्वविद्याली विराट शक्ति का साक्षात्कार एवं
भावना होनी चाहिए। नैषधीय चरित में ही नहीं, 'रामचरितमाणस' में भी
पायी जानेवाली स्तुतियाँ, जिनकी संख्या लम्बी है, साहित्यक व दर्शानीक
दृष्टिकोण से बहुत मामूली हैं।
रामचरितमानस में हिंदू संस्कृति

अब हम मध्ययुग के एक ही समय में हाकाकाव्य की पर्यालोचना करेंगे, अर्थात् तुलसीदास के ‘रामचरितमानस’ की। श्रीहर्ष के प्रसांग में हमने कहा था कि उसमें कविता-शक्ति की कमी नहीं है और उसका भाषा पर भी अच्छा अधिकार है। किन्तु श्रीहर्ष का भाषाधिकार परम्परा से प्राप्त है। फिर भी यदि वह कहीं-कहीं संक्षिप्त व्यञ्जनाओं में पर्याप्त नवीनता ला सका है तो इसका अर्थ उस अदभुत भाषा को ही अधिक है। सौदेज्योति, नीतिज्ञोति तथा आध्यात्मिक भाषा की दृष्टि से श्रीहर्ष की वाणी में संक्षिप्त भाषा स्पष्टतया हस्तोन्मूख दिखाई देती है। श्रीहर्ष की चेतना में सर्जनात्मक नये तत्त्वों की कमी है; वह परम्परा से प्राप्त चेतना को भी ठीक से संजोग प्रकट नहीं कर सकता। तब यह है कि कोई भी लेखक एक परिपूर्ण परम्परा को ठीक से अनुवाद नहीं कर सकता। श्रेष्ठ लेखक व विचारक जो किसी परम्परा को आगे बढ़ाते हैं, केवल प्राचीन का नया अनुवाद नहीं करते। इस आगे बढ़ते के कार्य
भारतीय संस्कृति के लिए सर्जनशील प्रतिभा अपेक्षित होती है, सिर्फ अतीत की पादरित्यपूर्ण जानकारी नहीं।

भारतीय संस्कृति के लिए यह एक शुभ घटना हुई कि अब उसके कवियों ने, विशेषतः महत्त्वपूर्ण कवियों ने, संस्कृत का मोह छोड़कर जनमानसों के माध्यम में रचना करना शुरू कर दिया। हिंदी अपवाद अवधी भाषा में इस दृष्टि से जो सबसे महत्त्वपूर्ण महाकाव्य लिखा गया वह गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' था। इस महाकाव्य को हम केवल हिंदी की ही नहीं, बल्कि समस्त उत्तर भारत की प्रतिनिधि सांस्कृतिक क्षीर कह सकते हैं। 'रामचरितमानस' में तत्कालीन हिंदू समाज की समस्त अच्छाइयों तथा दुर्बलताओं प्रभावशाली रूपों में व्यक्त हो सकते हैं।

हमने 'नैवधीय चरित' की संवेदना में दो सम्बद्र कमजोरियों लक्षित की थीं, मानवीय अभिवृत्ति का ह्यास और पौराणिकता की बृद्धि। पौराणिक संकेतों तथा कथाओं के समावेश की दृष्टि से तुलसी का मानस 'नैवधीय-चरित' से दो करम आए ही हैं। मतलब यह कि श्रीहर्ष से लेकर तुलसीदास के युग तक भारतीय जनता अधिकारक नवरानिक जगतु में रहने की अभ्यस्तता बनती जा रही थी। इस नहीं कि उत्कर्ष-काल के कवियों में पौराणिक जगतु के पात्र और उस जगतु के समावेश दिखाई देते नहीं। उत्कर्ष-काल के कवियों में प्रायः कहीं भी पौराणिक अतिरिक्त मानवीय अभिवृत्ति पर हावी नहीं होती। रघुबंश, किरातारलियों आदि में वर्णित गायनें सुखत: मानवीय ही हैं। श्रीहर्ष के प्रमुख पात्र भी मनुष्य हैं, किन्तु नैवध में अनेक ऐसे मानवीय प्रशंसा का समावेश कर दिया गया है जो मूल कथा के प्रवाह के लिए आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से तुलसीदास और भी अधिक दोषी हैं। निश्चय ही राम-कथा का मानवीय पहलू बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसका ज्यादा त्रुणद्वय उस कथा का है। बल्लभीक ने रामायण में जहाँ अयोध्याकांक्ष तक राम-कथा के मानवीय पहलू का रोचक निर्वाह हुआ है, वहाँ बाद के काण्डों में, और बालकाण्ड में भी, पौराणिक
मध्ययुगीन संस्कृति: भीरूर्म्भ और तुलसीदास 167

आख्यानों का मिश्रण व समावेश हुआ है। अयोध्या के बाद के काण्डों में विभिन्न राजसाहों से समबि संयुक्त अन्ध्र घटनाओं की भरमार है।

हम संकेत कर रहे हैं कि वाल्मीकि की ये काव्यां तुलसी के मानस में प्राय: ज्यों की त्यों अनुकूल हो गयी हैं। कालिदास आदि ने रामायण-महाभारत के ऐसे अलोचिक प्रसंगों को, जो केवल विश्वय उत्पन्न करते हैं, यथासंभव बनाया है। उत्कर्ष-काल के कवि अपनी रचना में दो चीजों का विशेष ध्यान रखते हैं: मानवीय अभिव्यक्ति का और सौन्दर्य-सौववन दक।

तुलसीदास सिर्फ इन्हीं चीजों का ध्यान करते हुए नहीं चलते। राम की मानवीयता पर गौरव देते हुए भी वे जगह-जगह यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि हारते अवभाव कुछ होते हुए राम वस्तुतः पराजय अवभाव शक का अनुभव नहीं कर रहे हैं—वे केवल लीला कर रहे हैं। राम के संकेत रामचरित की मानवीय अभिव्यक्ति का क्षतिको निरन्तर हैं।

चूँकि तुलसी के राम अलोचिक अवतार-पुरुष हैं, और अक्सर अपना कार्य अलोचिक यथासंख्या द्वारा पूरा कर लेते हैं—जैसे मेघनाद, रावण आदि से युद्ध करते समय—इसलिए उनकी जीवन-गाथा में उन गुणों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जिनका सम्बन्ध सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के आकलन, परालोचन और नियंत्रण से है। राम का प्रतिद्वंद्वी रावण विषय-

5. जन्म के समय ही माता कौशलया ने राम का अद्भुत रूप देखा और उनकी स्तुति की; राम ने उन्हें समझाया, क्योंकि वे “विविध चरित” करना चाहते थे। सीता के लिए विलाप करते हुए, मेघनाद से हारते हुए और लक्षण के लिए रोते हुए, कुमारश्रृंग से परेशान होते हुए राम को लक्ष करके तुलसीदास बार-बार ऐसा स्मरण दिलाते हैं। यथा लंकाकाण्ड में—

उसा अखण्ड एक रघुराइ, नरगति मभिन्न हुपालु दिखाई।
उसा करत रघुपति नरलीला, बेल गरहड़ जिम मनिम मोला।
बुकिट संग कालह जो खाई, ताहि फि ऐसी तोह लराइ।
बिजेता बीर था, किन्तु मानस में कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि राम को उस पर विजय पाने की कठिनाई का तीखा आमास था। इस प्रकार का आभास जैसा पाण्डवों में दिखाई पड़ता है वैसा दूसरे काव्यों के नायकों में नहीं। पाण्डवों के सामने नैतिक समस्याएं भी उपस्थित थीं। फलतः हम पाते हैं कि राजनय तथा नीतिविरोध का जैसा उज्वल प्रकाशन ‘किरातार्जुनीय’ में हो सकता है वैसा दूसरे काव्यों में नहीं। कहना पड़ता है कि जीवन-सम्बन्धी यथार्थ की पकड़ की दृष्टि से, और मानवीय अभिशिक्त की दृष्टि से भी, ‘रामचरितमानस’ एक मिश्रित कोटि की कृति है। उसमें लोकिक व बलिकक, मानवीय व अमानवीय तत्त्वों का स्वच्छंद संप्रभुत्व है।

तुलसीदास में वह प्रबुद्ध चरण-शक्ति नहीं है जो उल्काध-काल के कवियों की विशेषता है।

हमने देखा था कि राजनय तथा नीतिविरोध की दृष्टि से ‘नैषदिक चरित’ भी उल्लेखनीय काव्य नहीं है। अध्यात्म अथवा धार्मिक चेतना की दृष्टि से भी ‘नैषदिक चरित’ और ‘मानस’ में सामय है। मध्ययुग में अवतारावाद पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गया था। कालिदास के समय की सूक्ष्म आध्यात्मिक संबंधन का स्थान पूजा-उपासना का अपेक्षाकृत स्थऱ्ठ भावना ने ले लिया।

इस दृष्टि से श्रीहर्ष के समय से तुलसीदास तक आते-आते एक प्रकार की प्रगति अवश्य दिखाई देती है—तुलसी की भक्ति-भावना में उपास्य देवता या ईश्वर का पूर्ण मानवीकरण हो गया है। सूर, तुलसी आदि कवियों में हम भगवान् के क्षण, वराह आदि रूपों की स्तुति-उपासना नहीं पाते।

तुलसी के राम में एक पूर्ण मानव की कल्पना अथवा परिपूर्ण मानवता का आरोप किया गया है। मध्ययुगीन हिंदी कवियों में समग्र भक्ति की भावना अपने पूर्ण विश्वृद्ध रूप में विकसित हुई दिखाई पड़ती है। वहाँ भक्ति की साधना किंतु साधारण चीजों की प्राप्ति के लिए नहीं है; उसका लक्ष्य चरम पूर्णता अथवा मुक्ति की प्राप्ति है। तुलसीदास तो भगवान् से केवल उनके चरणों में “अनपापिनी” भक्ति ही माँगते हैं।
मध्ययुगीन संस्कृति : श्रीहर्ष और तुलसीदास

काव्य-संबंधन का जनतन्त्रीकरण

तुलसीदास तक आते-आते भारतीय सांस्कृतिक संबंधन में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए दिखाई देते हैं, ये दोनों परिवर्तन कुछ हद तक सम्बन्धित हैं, और प्रगतिशील कहलाने के अभिक्रियाएं हैं। हमने उल्लेख-काल को सांस्कृतिक उन्नति का मानदण्ड माना है, फिर भी हमें यह कहने में संकोच नहीं कि निन्मलिखित परिवर्तन भारत के सांस्कृतिक विकास में प्रगति के सूचक है—

(१) उल्लेख-काल का काव्य मुख्यतः अभिजात वर्ग का काव्य है। संस्कृत शिष्टों की भाषा थी, और उसका काव्य-साहित्य मुख्यतः शिष्टों द्वारा निर्मित तथा शिष्टों के लिए ही हो था। कवि लोग विद्वान् राजाओं तथा उनके समाजदर्शियों को प्रसार करने के लिए साहित्य-रचना करते थे। साधारण संस्कृतमें उनके काव्य की टीकाओं की मदद से ही समाज सकते थे। तुलसीदास पहले महत्त्वपूर्ण हिंदू महाकाव्यकार थे जिन्होंने जन-भाषा में काव्य-रचना की।

सूर, तुलसी आदि कवियों की सहयोग स्पष्ट रूप से मंदिर-रचना के दृष्टि से सम्बंधित बनाने से मुक्त हुई, और उसमें एक नया प्रवाह व ओज आया। श्रीहर्ष के समय से ही संस्कृत भाषा की सर्जनशीलता कम हो चली गई। उससे पूर्व के कवियों में भी श्रीपालकार की बहुत ध्यान, एकाचारी प्रचलन अथवा शलोक-रचना का आप्रव, आदि इस बात के खोजकरथे कि कवियों की बक्तव्य की अपेक्षा शैली का मोह अधिक होने लगा था। इस प्रकार का मोह सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संबंधन के ह्वस का खोजकर होता है। संस्कृत के माध्यम से मुक्त होकर कविता ने इन मोहों से मुक्ति पायी।

शेषी भाषाओं के माध्यम में जो काव्य लिखा गया उसमें निवेदन अनुभूति पुराने अनुभवों की आवृत्ति मात्र नहीं थी। कवियों द्वारा जनभाषाओं के अपने जाने का अर्थ था उनकी अनुभूति का जनता के निकट आ जाना। तुलसी आदि कवियों की अनुभूति व संबंधन के केवल राजाओं अथवा शिष्टों की संबंधन नहीं है। सूर और तुलसी दोनों में ही हमें भारतीय जन-हृदय का आवेग और संगीत मिलता है। सूर के ग्राम-बाल ब गोपियाँ भारतीय गाँवों की जनता के प्रतिनिधि है। सूर की पद्मोदा की भाषा ही तुलसी की कौशल्या
भी एक साधारण माँ की भाविता आशा-निराशा तथा सुख-दुःख प्रकट करती है; वे एक राजमहिली की गरिमा के साथ वातचीत नहीं करतीं। कुछ हद तक यह वात वाल्मीकि की कौशल्या पर भी लागू होती है, किन्तु इसका कारण शायद यह है कि वे दशारथ की उपेक्षित पत्नी थीं। इसके विपरीत ‘मानस’ की कौशल्या उपेक्षित रानी नहीं है। मानस से भी अधिक तुलसी-दास की दूसरी कृतियों—जैसे ‘जानकी मंगल’, ‘पार्वती मंगल’, ‘रामलला नहूँ’, ‘कवितावली’ आदि—में काम्य-संवेदना का जनतान्त्रिक आरोप हुआ है।

यहीं वात ‘मानस’ आदि में प्रकाशित धार्मिक संवेदना के बारे में भी कही जा सकती है। भक्ति का मार्ग सम्पूर्ण जनता के लिए है, जब कि शान-मार्ग केवल श्रोदेवुद्ध सम्पत्ति लोगों के लिए ही है। चूंकि तुलसीदास क्षेत्र-मार्गी हैं, इसलिए उनके मुक्ति आदि से सम्बन्धित उद्वेद सम्पूर्ण जनता के लिए अर्थपूर्ण है। वे ऐसी भाषा में प्रकट किये गये जिसे साधारण लोग समझ सकें। तुलसीदास से समय में और वाद में भी हिंदी में महत्वपूर्ण नाटक-रचना नहीं हुई। संस्कृत के नाटकों में इस वात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि विभिन्न पात्र अपने-अपने पद के अनुसार उचित भाषा का प्रयोग करें। ऊँचे वर्ग के पुख्त-पात्र संस्कृत बोलते थे, जब कि स्त्रियाँ और अनुचर प्राचीन का प्रयोग करते थे। देशी भाषाओं के जनतान्त्रिक माध्यम में इस प्रकार के प्रभेदों के प्रकट होने का अवकाश नहीं था।

(२) प्रायः समस्त संस्कृत काव्य में हरे वर्णभेद की तीखी चेतना मिलती है। वर्ण-भेद की मान्यता का अर्थ है मनुष्यों की समानता का अस्तित्व। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सब मनुष्य समान उत्पाद नहीं होते, जन्म से ही कुछ लोग ऊँचे होते हैं और कुछ नीचे। यह सिद्धान्त, जो कि वर्तमान जनतन्त्र की भावना के वर्णवृत्त अभिकृत है, वर्ण-व्यवस्था का मूल आधार है। ‘नैयायिकारिता’ के सन्दर्भ में सर्ग में कल्युग के अनुयायियों की बातचीत से यह प्रकट होता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था को आलोचना होने लगी थी। उक्त सर्ग में भ्रातविधि, देव-द्विज-गो-सेवा आदि का उपहास किया गया है। 'मानस' के कल्युग वर्ण में भी यह शिकायत की गयी है कि
मध्ययुगीन संस्कृति: श्रीहर्ष और तुलसीदास

बुध लोग अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष समझते हैं। ‘मानस’ में ब्राह्मणों के पक्ष का भी पूरा समर्थन नहीं है—यद्यपि ब्राह्मणों ने अपने विहित कर्मों का परित्याग कर दिया है—

वर्ष धर्म नाहि आथम चारी, श्रुति विरोध-रत सच नरसारी,
द्विज श्रुतिवंचक भूप प्रजासान, कोउ नाहि मानु निगम अनुशासन।

उत्तरकाण्ड, दोहा १४३ के बाद।

जात-पात का भेद

किंतु ‘मानस’ में वर्ष-यवस्था के विरोध की भावना भी पायी जाती है। यह भावना भले ही स्पष्ट प्रकट न हुई हो, पर यह तुलसी के महत्ववाद में अन्तर्निहित है। वस्तुतः जैसा कि हमने संकेत किया, भक्ति का आन्दोलन एक जनतन्त्रीय आन्दोलन था। यह भी एक कारण था कि उसने अपने प्रचार के लिए जन-साधारण की माध्यम को अपनाया। भारतीय भक्तों में रामदास जैसे संतों की भी गणना होती है। ‘रामचरितमानस’ में विन्यासराज गुहा तथा शबरी की कथाओं द्वारा इस बात को महत्व दिया गया है कि भगवान् का भक्त छोटी जाति का होते हुए भी अभिनवद्वीपी होता है, और उसके साथ खान-पान का व्यवहार किया जा सकता है। ‘मानस’ में जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन हुआ है उसके अनुसार मानव-यवक्तित्व के उत्कर्ष का सबसे महत्वपूर्ण साधन बन उपादान भगवान् की भक्ति है। तुलसीदास से पहले कबीर-जैसे महात्मा जात-पात का विरोध कर चुके थे; जिस समय तुलसीदास सामने आये, जाति-विरोधी विचार बहुत-कुछ प्रचारित हो चुके थे। तुलसी को इन विचारों से अपने ठंग की सहानुभूति थी। उनकी दृष्टि में भगवद्भक्ति की भूमि एक ऐसा स्थल था जहाँ सब प्रकार के लोगके भेद लुप्त हो जाते हैं। जहाँ अपनी बाहरी मान्यताओं में गोस्वामी तुलसीदास वर्ष-यवस्था के समर्थक थे, वहाँ भीतर से उनकी मनोवृत्ति अधिक रात्तिकारी थी। उनके तथा दूसरे शिक्षकों के प्रभाव से उत्तर भारत में क्रमश: यह धारणा जड़ पकड़ती गयी कि जात-पात के भेद महत्वपूर्ण
भारतीय संस्कृति

नहीं होते, और यह कि भीतर की गुणवत्ता तथा भक्ति से ही मनुष्य ऊँचा उठता है।

कहा जाता है कि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था-मूलक भारतीय अथवा हिंदू संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। जैसा कि हमने दिखाया, यह कुछ सीमा तक ही ठीक है। तुलसीदास भारतीय अथवा हिंदू संस्कृति के प्रवक्ता-भर ही नहीं हैं, वे उसके संस्थापक और निर्माता भी हैं। संभवतः हमारे देश के वे पहले महाकवि हैं जो मूल रूप में एक सन्त और महात्मा हैं। तुलसी के मानस का देश के हृदय पर जो ब्यापक प्रभाव पड़ा उसका एक महत्वपूर्ण कारण था—उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व में सन्त एवं कवि का सम्बन्ध।

तुलसी में सन्त का व्यक्तित्व इतना प्रधान है कि उनके काव्य में गुरुगार रस बहुत कुछ परिफ़र्मित ही नहीं हुआ है, बल्कि वहाँ से बहिष्क्षत-सा हो गया है। इस दृष्टि से बायद हमारे देश का कोई भी इससे कवि तुलसी की विशुद्धता का निर्देश नहीं कर सका है। भवमूर्ति के ‘उत्तर रामचरित’ में भी राम-सीता के प्रेम का वर्णन बड़े साधारण धरातल पर हुआ है, किंतु वहाँ भी शारीरिक सम्पर्क के संकेतों का एकदम बहिष्कार नहीं किया गया है। वहाँ वनवास का स्मरण करते हुए राम याद करते हैं कि किस प्रकार वे और सीता कपोल से कपोल स्ताये, बाह्र में बाह्र बाँधे, बालों करते हुए तारी रात गुजार देते थे। चूंकि तुलसीदास सीता को अपनी और विश्व की माता मानते हैं, इसलिए वे कहते हैं भी इस कोटि के संकेत नहीं देते।

राम—एक सन्त नायक

सच यह है कि तुलसी ने अपने राम को बहुत-कुछ एक सन्त के रूप में व्यक्त किया है। वाल्मीकि के राम की मुख्ति भी पहले राज्य-प्राप्ति के और फिर वनवास-प्राप्ति के समाचार से विकृत होती है। किंतु वह मनोवृत्ति तुलसी के राम के लिए जितनी स्वाभाविक है उतनी आदिवृत्ति के राम के लिए नहीं। वाल्मीकि के राम एक आदर्श बीर एवं नीति-परायण शासक है; तुलसी के राम केवल उतने ही नहीं हैं। वे सच्चे अर्थ में एक सन्त
मध्ययुगीन संस्कृति: भीमर्यं और तुलसीदास

है जो कभी किसी की बुराई नहीं सोच सकते, और कोई जिनके स्वभाव का सहज अंग नहीं है। राम के रूप में तुलसी ने एक ऐसे व्यक्ति को कलपना की है जिसमें शहीदता, कल्पना, मैत्री, उदारता आदि अवेश नैतिक गुण पूरी मात्रा में विचारक है। विश्वुद्ध नैतिकता की दृष्टि से मानव जाति का कोई कवि राम से उच्चतर व्यक्तित्व की कल्पना कर सकता है, या कर सकेगा, इसमें संदेह है। इसका कारण सम्बन्धित: यह है कि राम का व्यक्तित्व मूलतः एक संत तथा व्यक्ति है, जिसमें स्वाभाविक, सुंदर, हिस्सा आदि की वृत्तियों के लिए कोई स्थान ही ही नहीं सकता। यही कारण है कि तुलसी का 'मानस', अथवा उनके राम, महात्मा गांधी जैसे नीति-शिक्षक नेताओं को प्रेरणा एवं बल दे सके।

मानस में दो प्रकार के आदर्श चरित्र हैं; एक और राम है जो अवतार होने के साथ-साथ आदर्श महापुरुष भी है; दूसरी और राम के भवत हैं जिनमें भरत प्रमुख है। कहा जाता है कि मानस में आदर्श भाविक संबंधों की कल्पना या चित्र है। यह कुछ हद तक ही ही ठीक है। मानस में तुलसीदास का प्रधान रूप भगवान् राम और उनके भवतों का महत्त्व-भावना और इस प्रकार भावभंगत का प्रचार है। राम के रूप में कुछ दूर तक उन्होंने संत-चरित्र का बख़्चन भी किया है। मानस में संत-समाखम एवं सत्संग का विशेष महत्त्व है। किन्तु राम का आदर्श सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय आदर्श है, यह मानस का संपूर्ण अभिप्राय नहीं है। जहाँ राम के नैतिक गुण शलायन और अनुकरण योग्य हैं; वहाँ स्पष्टतः ही उनके अलौकिक कृत्य साधारण लोगों के लिए उदाहरण नहीं बन सकते। तुलसीदास यह कभी नहीं भूलते कि राम वसूल: भगवान् हैं, और उनके सुख-दुःख बहुत-कुछ बाहरी विचार हैं। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण के लिए पूर्णतः अनुकरणीय आदर्श भरत-जैसे भवतों का ही ही सकता है। विचारविरिधि पृथ्वी ज्ञानप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित मानस के अनुसार अन्योक्ति: अनुकरणीय आदर्श भरत-जैसे भवतों का ही ही सकता है। विचारविरिधि पृं ५० ज्ञानप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित मानस के अनुसार संजीवनी ओपिशिक लेखर लौटे हुए हमामान भरत द्वारा अयोध्या में रोक लिये गये थे। वहाँ उनसे यह जानकर कि लक्ष्मण गरम-शाया पर हैं, सुमित्रा को हर्ष और शोक दोनों हुए—हर्ष यह शोचक कि
लक्ष्मण राम के लिए छुट्टे हुए मरे। मानस में सर्वेण्ज जन-साधारण के लिए \( \frac{1}{2} \) उपदेश है कि उन्हें भगवान् की भक्ति के लिए जीवित रहना चाहिए।

सांस्कृतिक चेतना पर नये प्रभाव

संख्या में कहा जा सकता है कि तुलसीदास के मानस ने उत्तर भारत की सांस्कृतिक चेतना को दो नयी दिशाओं में प्रभावित किया—

(१) कालिदास के अनुसार दिलीप-जैसे आदर्श राजा में 'भीम' और 'काल्त' दोनों प्रकार के गुणों की अवस्थिति थी। संभवतः एक ऐसे शासक में, जिसे देश में शान्ति स्वाप्त रखने के साथ-साथ उसकी आक्रमणकृति से रक्षा का भी समुचित प्रबन्ध करना है, उक्त दोनों प्रकार की विशेषताओं का होना जरुरी है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में लिखा है कि शासकों को उन रक्षक कुलों की भांति होना चाहिए जो घर के सदस्यों के लिए कोमल एवं विनोत तथा बाहरी लोगों के लिए भारी भांति होते हैं। कालिदास और प्लेटो दोनों ही, इस दृष्टि से, यथार्थवादी थे। प्लेटो के विधान में शासक जहाँ एक और विद्यालय दार्शनिक है, वहाँ दूसरी ओर युद्ध-सचालन की धारा तथा संपत्ति भी। यही बात कालिदास के रघु आदि शासकों पर लागू होती है। इसके विपरीत तुलसी के राम में भीम गणों का नितांत अभाव है। उनमें महाभारत के कृष्ण की कृत कुंडिन भी नहीं है। राम के चरित्र में तुलसीदास स्पष्ट ही, एक ऐसे राजा का चित्र नहीं बनाया रखें ये जो एक स्वतन्त्र जाति का नेता और शासक बन सके। राम-रावण का युद्ध राम-कथा का आवश्यक अंग है, पर वह तुलसी के राम का स्वाभाविक कार्य नहीं है।

(२) तुलसी ने जनता के लिए राम से भी अधिक भरत, लक्ष्मण, निषादराज, शबरी, विश्रीण आदि रामवक्तों का आदर्श रखा।

6. तुलसी की दृष्टि में राम की योद्धा-सी भक्ति भी मुक्त होने के लिए पर्याप्त है। इसलिए राम और लक्ष्मण का नाम लिया, इस
आदर्श ऐसा नहीं था कि एक पराधीन, दबी हुई जाति को स्वतंत्र एवं सक्षम बनने की प्रेरणा दे। कालिदास के रचयिता वीर आत्म-निर्भर थे; वे अपने बुद्धि-बल तथा शस्त्र-बल के आधार पर निर्मय होकर चलते थे—उनके दो ही प्रधान संवल थे, शास्त्रों में निष्पाद पैनी बुद्धि, और धनुष पर चढ़ी हुई डोरी। इसके विपरीत तुलसीदास ने जन-साधारण को समझाया कि वे भगवानु पर निर्भर होना सीखें। भगवानु की धरणागति, भगवानु की निर्भरता, यह तुलसी के भक्तिवाद का प्रधान स्तम्भ है। इस प्रकार का मनोभाव उत्कर्षकाल के काव्यों अथवा उनके नायकों में कहीं भी नहीं मिलता। वह महाभारतकार की मानसिक गठन का भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है—वर्षपि भगवादगीता के दो-सीन श्लोकों में इस भावना का उल्लेख है।

(3) हमने संकेत किया था कि उत्कर्ष-कालीन काव्य-संवेदना में सांस्कृतिक चेतना अपनी पूर्णता में प्रस्फुटित हुई दिखाई पड़ती है, वहाँ लौकिक जीवन व मूल्यों की पूर्ण चेतना के साथ-साथ उच्च कोटि की आध्यात्मिक (वेदीजस) संवेदना का भी समावेश है। संत तुलसीदास के काव्य, विशेषतः 'मानस' में, इस दृष्टि संवेदना की प्रधानता है। उनका भक्तिवाद इस संवेदना की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। किन्तु उत्कर्षकालीन एवं मध्ययुगीन अध्यात्म-संवेदनाओं में महत्त्वपूर्ण अंतर है। उत्कर्ष-काल की आध्यात्मिक संवेदना लौकिक जीवन व प्रयत्न की विरोधिति नहीं है। रश्मु ने दिनिक्य थी, और वाद में, अज के राज्य में नगर के बाहर रहते हुए, मौख-साधना भी की। उत्कर्षकालीन अध्यात्म-चेतना गीता के 'लोकसंग्रही' निर्धार कर्म के आदर्श के निकट जान पड़ती है। सब प्रकार के लौकिक कर्म व भोगों के बीच गुजरते हुए भी रश्मुवंशी शासक अपने मन में एक प्रकार की तद्भवता या नित्यप्रतिद्वंद्व का भाव बनाये रखते थे। इस भावना के कारण उनमें से किसी ने कभी यह कोशिश नहीं कि कि पिता के राज्य को दुष्पर अंगद और हनुमान ने उसकी माता को 'धर्म' कहा। राम ने कुम्भकर्ण और रावण तक को अपना लोक या मुक्ति दी।
उपायों से भात्मसात करें; साथ ही किसी ने राज्य-प्राप्ति के बाद उससे संबंधित कर्त्तव्यों की उपेक्षा भी नहीं की—वस्तुतः राज्य-शासन की स्वीकृति और संभाल उनके लिए कर्त्तव्य-रूप ही थी। अज को लक्ष्य कर कालिदास ने लिखा है—

हृदपति कर्त्तुमातसात् प्रयत्ने नुपसूनवो हि यथा,
तदुपस्यपतमप्रहीदव: पितुराश्रेतिः न भोगतृप्तिः।

रघुवंश, 812

'राजपुत्र जिस राज्य को दृष्ट तरीकों से पा लेने की कोशिश करते हैं,
उसे अज ने पिता की आज्ञा समझकर स्वीकार किया, भोगतृप्ति से नहीं।'
संक्षेप में उत्कर्षकालीन अध्यात्म-संबंधन का यही मुख्य तत्त्व है, अर्थात्
सति सम्बन्धित भोगवस्तियों के प्रति एक मूल तत्त्वात्मा का भावना। किन्तु यह भावना
लोक-संप्रह के लिए अनुभवित होनेवाले कर्मों में बाधक नहीं होती। यही
नहीं; विद्युप, रघु, अज, दशारथ आदि धार्मिक चरित्र-नायक साधारण जनों
की भावति एक या अनेक विवाह करके कीड़ा-विलास करते हुए भी पाये
जाते हैं।

इसके विपरीत मानस में निहित धर्म या अध्यात्म की भावना हूँ तक
कर्म व प्रयत्न के जीवन की विरोधित है। उसमें जीवन-संभोग के लिए
स्थान नहीं दीखता। इस दृष्टि से तुलसी का राम-काव्य क्षण-काव्य के
गायकों—सूर, विधापति आदि—से भी भिन्नता है। किन्तु क्षण और राम
दोनों से संबंधित भविष्य-काव्य में भवावानु पर निर्भरता का उपदेश है, और
कर्म जीवन की उपेक्षा या तिरस्कार। 'मानस' में लक्ष्मण नवपरिणामता
वधू को छोड़कर चलें जाते हैं, और भ्रत, राम के पास से अभोध्या लौटकर
तपस्वियों का जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा अनुमान है कि भविष्य-
मार्गियों का यह लोक-विरोधी मनोभाव कुछ हुद तक पूर्वकालीन अहृत वेदान्त
और संन्यासवाद के प्रचार का परराम था। कुछ भी हो, यह निष्ठित है कि
मध्ययुगीन भविष्य के आन्दोलन ने हिंदू जाति को इस प्रकार की प्रेरणा नहीं
दी, जिससे वह फिर स्वाधीन एवं शक्तिशाली बनकर उस ऊँचे ऐतिहासिक पद को प्राप्त कर सके जिस पर उत्कर्षकालीन भारतीय प्रतिष्ठित हो चुके थे। मध्ययुग के सम्बन्ध में हमारा निष्कर्ष इस प्रकार है—जहाँ मध्य-युगीन संस्कृति ने हमारी जातीय चेतना को दो नयेर तरीके दिये, अर्थात् जन-तांत्रिक मनोवृत्ति एवं उसें गठित व प्रकाशित करनेवाली जनमाध्यम तथा संत-चरित्र के महत्त्व की संबंधन, वहाँ उसने उन बौद्धिक एवं कर्मठ प्रवृत्तियों को उचित प्रोत्साहन नहीं दिया जो किसी जाति को ऐतिहासिक महत्त्व के पथ पर अग्रसर करती है।
उपसंहार

भारतीय संस्कृति की साम्प्रदायिक स्थिति

संस्कृति के अन्तर्गत मुख्यतः उस बोध, उन संबंधनों एवं नैतिक-मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं का समावेश होता है, जो व्यक्तित्व के गुणात्मक स्तर और उसकी कियाओं का निर्धारण करती हैं। मानव जाति के ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के साथ उसके जगद्धारण और आत्म-बोध एवं नीति-बोध भी बदलते चलते हैं। इन्हीं कारणों से जाति-विशेष की संस्कृति में परिवर्तन व संशोधन होते हैं। किंतु इन परिवर्तनों के बीच वे स्वभाव एवं चरित्रस्तुति विशेषताएं जो एक या दूसरी जाति को प्रगतिशील बनाती हैं, बहुत-कुछ बदलती रहती हैं। उत्कृष्टकाल के कवियों में हम ऐसी विशेषताओं का, जो प्राचीन आर्य जाति की दृष्टि में महत्वपूर्ण एवं उसके महत्व का कारण थीं, विवरण देख बूढ़े हैं। इन विशेषताओं में साहित्य एवं शास्त्रों का बोध, आत्मनिर्माण, पुरुषार्थवृत्ति आदि का विशेष स्तर है।

आन्दोलनों के कारण शास्त्रों का बोध में कमी

मध्ययुग के अनेक आन्दोलनों तथा दूसरी परिस्थितियों के कारण इस देश में शिक्षा, विशेषतः शास्त्र-बोध में, कमी हो गयी। मध्ययुग के पूर्वीराज, राजा प्रताप आदि बीर शासक व सेनानी विशेष पढ़-लिखे थे इसका कोई प्रमाण नहीं है। वस्तुतः राजपूत कहलानेवाले राजा और सेनाध्यक्ष प्रायः अद्वैत-शिक्षात, हल्दी और अदरकदर्शी थे। राजा प्रताप का नितांत नाजुक परिस्थितियों में मानसिंह-जैसे दुश्मन सेनापति से लड़ा जाना इसका सबूत है। इस दृष्टि से अक्कबर ज्यादा समझदार था, पर वह भी विशेष शिक्षात न था। साथ ही मध्ययुग में प्राचीनों के प्रति श्रद्धा का प्रवृत्त भाव मौजूद था। तुलसीदास ने अपने मानस को नानापुराण-निगमाम पर आधारित
बतलाया है। रीतिकाल के आचार्य कवि अरंकारों तथा नायिका-मेड़ के
निरूपण में बहुत कुछ संस्कृत के विचारकों का अनुसरण करते हैं। यही बात
दर्शन आदि क्षेत्रों पर लागू है। मध्ययुग में बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय हो
चुका था। बौद्ध प्रतिपक्षकों के अभाव में हिंदू दार्शनिक आपस में ही,
शून्यताओं के उद्भव व नयी व्याख्याएँ देते हुए, शारदे रहते थे। उनके चित्तर
में अब वह तकनीकाईनित तेज नहीं रह गया था जो वात्स्यायन, उदयोतकर
और वाचस्पति मिश्र के समय के नैयायिकों तथा वेदांतियों में था।

शास्त्र-बौद्ध एवं बौद्धिक सजगता का अर्थ केवल पुरानी पोथियों का
ज्ञान एवं संरक्षण नहीं है। उसका वात्स्यायन अभिप्रयास है गम्भीर अनंतिक
व नव निर्माण की प्रवृत्ति। मध्ययुग ने ऐसा कोई दर्शन उत्पन्न नहीं किया
जो व्यापकता एवं गहराई में प्रभावशाली भूदर्शनों से होड़े ले सके। इस बृहत्
के रामानुज का विशिष्टताधारित दर्शन ही, जिसका प्रतिपादन यथान्यों के प्रभाव
से मुक्त दक्षिण में गयार्हवी-बार्थवी शताब्दियों में हुआ, महत्त्वपूर्ण कहा जा
सकता है। किन्तु विशिष्टाधारित भी दार्शनिक दृष्टि से उतना मौलिक व पुष्ट
दर्शन नहीं है, जैसे कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदांत (अह्नेत) के
सम्प्रदाय।

बौद्धिक घटिवापन के साथ-साथ मध्ययुगीन भारतीयों में इससे ऋषाय्य
गुणों का हास भी देखा जा सकता है। मध्ययुगीन शासकों में हुम भूनद, स्वार्थपरता,
देशद्रोह आदि की प्रवृत्तियाँ पाते हैं, जिनके कारण राजसत्ता
क्रमशः भारतीयों के हाथ से निकलकर मुसलमानों के अधिकार में पत्थर गयी।

यूरोपियों का आगमन

यूरोपिय व्यापारियों, विशेषतः अंग्रेजों के, आगमन और ईस्ट इण्डिया के
कम्पनी के शासन-काल से आघुनिक युग का आरम्भ मानना चाहिए।
अंग्रेजों के राज्य की स्वायत्त के कुछ काल वाद विश्व-संस्कृति के इतिहास में
एक अभूतपूर्व घटना हुई। यूरोपीय पत्थरों ने संस्कृति साहित्य का अनुष्ठान
व उद्घाटन किया। कालान्तर में इस घटना का भारतीय संस्कृति पर
भारतीय संस्कृति

भी प्रभाव पड़ा; वे अंग्रेज़ों से आक्रामत होने के बावजूद फिर अपने अतीत का गोरख समझने लगे।

मध्ययुग का भक्ति-आन्दोलन बुद्धि-विरोधी था। उसमें ज्ञान पर नहीं, मानवता पर बल दिया जाता था। अंग्रेज़ों के राजवंश के जब विद्वानों का श्रुतावली संस्कृत को और बढ़ा, तो तत्कालीन अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें ही नहीं थीं। अब संस्कृत वर्णों के बारे में ज्ञान हुआ कि वे सिर्फ़ चीनी या तिब्बती अनुवादों के रूप में ही हुए उल्लघ्न हैं। विभिन्न देशों के कोड़याँ पण्डितों की मदद से यह समझ हुई कि बहुत-से महत्वपूर्ण राष्ट्रीय व्रतों मुद्रित होकर सुलभ हुए। बहुत-से संस्कृत, पाली आदि के ग्रन्थों के अंग्रेज़ी के जर्मन, प्रॉसिडेंस भाषाओं में अनुवाद भी हुए।

संस्कृत काव्य, दर्शन आदि को यूरोपीय विद्वानों के सामने प्रकाशित करते वाले प्रारंभिक यूरोपीय पण्डितों में सर विलियम जोस्ट, एच० टी० कोलब्रुक, मैकस्मूलर, दॉ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्हीं से भारतीय नवयुग का उद्वेक्षण यूरोपीय विचार-राज से भी परीक्षित होने लगे। जहां प्राचीन साहित्य की विदेशी द्वारा की हुई प्रसंग ने समस्त भारतीयों में आत्म-गौरव का भाव उत्पन्न किया। भारतीय मध्यम से उच्च शिक्षा का व्यवस्थापन प्रारंभ सन् 1857 से समझना चाहिए, जब कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विद्वानों जैसे भ्रातृत्व की स्थापना हुई। किन्तु राजा राममोहन राय-जैसे विद्वानों में यूरोपीय विचारों का प्रभाव इससे पहले ही दीखने लगा था।

१९वीं शती के धार्मिक आन्दोलन

संस्कृतिक हुक्का से उन्हीं समीक्षक शताब्दी भारतीय संस्कृति, विशेषतः उसके धर्म व दर्शन के, पुनर्जीवन का काल है। हमारे इतिहास का उत्तर-मध्ययुग भी धार्मिक आन्दोलनों का युग रहा था। कबीर, नानक, दादा, नूलसिद्धार्थ आदि शिक्षक मुख्यतः धार्मिक आन्दोलनों के प्रवर्तक या प्रचारक
उपसंहार

ये। आधुनिक काल में हमारे राष्ट्र का जागरण धार्मिक आन्दोलनों से शुरू हुआ। यह स्वाधीनता की थी, क्योंकि इस युग का जन्म मध्ययुग की कोश से हुआ। किंतु इयर के इतिहास में एक हुदरा तत्त्व भी काम करता रहा है, अर्थात् भारत-यूरोप का विचारणा तथा संस्कृतिक सम्पर्क। इस सम्पर्क के प्रभाव का इतिहास अभी भी बन ही रहा है।

सन् १८२८ में राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३ ई०) ने कलकत्ता में ‘ब्रह्म-समाज’ की स्थापना की। राय की शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी और वे समाज-सुधार के साथ-साथ भारतीय धर्म को अन्धविश्वासों से मुक्त करके शुद्ध करना चाहते थे। सन् १८६६ में केशवचंद्र ने ‘भारतीय ब्रह्म-समाज’ नामक संगठन किया, जो ब्रह्म-समाज का ही एक रूप था। सन् १८६७ में महाराजा में ‘प्रार्थना-समाज’ की स्थापना हुई, इसका लक्ष्य समाज-सुधार अधिक था। सन् १८७५ में ‘आर्य-समाज’ का आन्दोलन शुरू हुआ; इसका उद्देश्य भी धार्मिक व सामाजिक सुधार था। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी द्वारानाथ (१८२४-१८८३) कहते वेदवादी थे, वे पौराणिक अन्धविश्वासों के घोर विरोधी थे। सन् १८८२ ई० में मदाम व्लैवाल्स्की और अर्लकॉट के प्रयत्न से ‘वियोगोतिकल सोसायटी’ की स्थापना हुई, जिसने हिन्दू धर्म के रहस्यवादी पक्ष का समर्थन किया। इसी समय श्री रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६ ई०) का प्रभाव भी बढ़ रहा था। वे वेदान्त के गम्भीर व्यावहारिक पक्ष का उपदेश देना कर रहे थे। उनके शिष्य स्वामी बिबेकानंद (१८६१-१९००) ने सन् १८९७ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक अवधेय के सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि इन आन्दोलनों ने देश पर किस प्रकार का और कितना प्रभाव डाला। एक बात स्पष्ट है, इन आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय जनता में आत्म-नौर के भाव की वृद्धि हुई, जिसने उसे देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने की प्रेरणा दी। उक्त आन्दोलनों ने जनता में जो जागृति उत्पन्न की उसका भर्पूर उपयोग राजनीतिक धरातल पर हुआ। सन् १८८५ में इंदिरा नेहरु
कांग्रेस की स्थापना हुई जिसका प्रभाव दिनोंतक बढ़ता गया। उसके बाद भी जो नेता ज्यादा महत्वपूर्ण बने उनका भारत की धार्मिक परस्पर से गहरा सम्बन्ध था। लोकमाय तिलक ने गौता की कर्म-पराक व्यवहार की और महात्मा गांधी ने गौता के ही विषय को लेकर अपना ‘अनासक्तियोग‘ लिखा। तिलक अपेक्षाकृत अधिक विश्वास राजनीति के पक्षपाती थे, किन्तु गांधीजी ने धर्म और राजनीति को पूर्णतया मिल्लिट कर दिया; स्वयं उनके जीवन में दोनों का ही सम्मिलन था। अरबिन्द धोष प्रारम्भ में आतंकवादी राजनीतिक नेता थे, बाद में वे दार्शनिक और योगी बन गये। इन सब चीजों को मन में रखते हुए हम कह सकते हैं कि उन्हीं सीमाओं में पश्चिम भारत के सांस्कृतिक नव जागरण ने, जिसका प्रधान रूप धार्मिक था, देश को स्वतंत्र बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। इसका कारण यह भी था कि भारतीय जनता धर्म की भाषा को सहज में समझने की अभ्यस्त बन गयी थीं और उसे धर्म के नाम पर संगठित करना अपेक्षाकृत सही था। वर्तमान भारत के सबसे बड़े राजनीतिक नेता महात्मा गांधी एक धार्मिक विश्वकर्मा नेता भी थे।

अब तब हमने विगत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा की। सौभाग्य या दुर्भाग्य से पिछली अवधि शताब्दी में, और उससे पहले से भी, हमारे देशवासी पुष्टिवाल्य विचारों से प्रभावित होते रहे हैं। यह प्रभाव राजा राम-मोहन राय, विद्वेषकान्द, तिलक और गांधी-जैसे भारतीय सांस्कृतिक के पंडितों एवं धार्मिक नेताओं में भी देखा जा सकता है। गांधीजी के कल्पन अनुयायी, जैसे राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, जहाँ अपनी मनोवृत्ति में अधिक भारतीय रहे हैं, वहाँ आत्मार्थ नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण एवं जवाहरलाल नेहरू-जैसे नेताओं पर परशुराम सामाजिक-राजनीतिक विचारों का प्रभाव ही प्रधान रहता है। वस्तुतः हमारे देश का जनतांत्रिक संविधान और देश के युवकों में समाजवाद तथा सामाजिक विचारों का प्रचार मुख्यतः यूरोपीय सांस्कृतिक की हो देन है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पूरा नेहरू ने अपनी 'रिलमेस आव बल्ड हिस्टरी' तथा 'डिस्कवरी ओव इण्डिया' पुस्तकों में गत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों व विश्वकर्माओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया है।
उपसंहार

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश का सांस्कृतिक बातचीत एकदम ही बदला हुआ दिखाई पड़ता है। आर्थ-समाज, रामकृष्ण मिशन और गांधीवाद का भी प्रभाव बहुत-कुछ बत्ता हो चला है। देश में बड़े-बड़े उद्भोग-धार्मिक को नीचे बाली जा रही है, और लोगों की मनोवृत्ति रहस्यः ऐसे ही रही है। आचार-विचार के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा व्यक्तिवाद बढ़ रहे हैं। साहित्य में भी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। किन्तु चूँकि हिन्दु-स्तान एक बड़ा देश है और यहाँ की अधिकांश जनता अविभिन्न या अविनिविषित है, इसलिए बहुत-सी पुरातन सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियाँ व विश्वास भी गायकी तथा छोटे छोटे शहरों की जनता के बीच विभिन्न रूपों तथा मात्राओं में चले ही जाते हैं।

सुविशिष्ट एवं समस्तदार भारतीयों के बीच आज जीवन के ऊँचे स्तर तथा वैज्ञानिक रहस्य-सहुल की मांग बढ़ती है। किन्तु इन लोगों में भी ऊँची कोटि के बिन्दु को सर्वाधिक मांग और उसके लिए व्यवस्थित प्रयास की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। यूरोपीय संस्कृति व सम्पत्ति के प्रभाव से उन्होंने अपने को परम्परा की रूढ़ियों से बहुत-कुछ मुक्त कर दिया है, किन्तु वे यह जरूरत महसूस नहीं करते कि देश की प्रगति के लिए त्वमस्त नये विश्वासों एवं नयी परम्पराओं का निर्माण किया जाय। यूरोप तथा अमेरिका में जनतांत्रिक संस्थाओं का संरक्षण एवं प्रोशन करनेवाली व्यावहारिक परम्पराएँ व संस्थाएँ दृष्ट रूप में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु हमारे देश में बैतिय परम्पराओं तथा व्यवहार-सरणियों का बहुत-कुछ अभाव है। यहाँ के विशिष्ट लोग जहाँ अपने लिए स्वतंत्रता तथा सुविधाएँ चाहते हैं, वहाँ निम्न वर्गों के कम विशिष्ट देश-वासियों को वे चीजें दे-दिलाएँ दिए संकोच का अनुभव करते हैं। वहाँ को देश की सरकारें जनतांत्रिक हैं, पर शासकों और शासितों दोनों में ही प्राय: वास्तविक जनतांत्रिक मनोवृत्ति का अभाव दिखाई देता है। इस समय देश में जात-पात पर आधारित मेदराव भी प्रकारान्तर से बढ़ रहा है, जो कि जनतांत्रिक मनोवृत्ति के एकदम विपरीत है। एक दूसरी चौकानेवाली स्थिति भी देखने में आ रही है; विशिष्ट लोगों में नैतिकता का आप्रवश्यक घट रहा है और
भारतीय संस्कृति

वे अधिकाधिक अवसरवादी बनते जा रहे हैं। उनके बीच प्राचीन धार्मिक तथा उनसे सम्बन्धित नैतिक मान्यताओं का प्रभाव कम: लुप्त हो रहा है और उनमें यह मतोबृत्ति बढ़ रही है कि किसी भी तरह अपने भौतिक जीवनस्तर को ऊँचा बनाया जाय।

उक्त स्थिति का उल्लेख यहाँ इसलिए नहीं किया जा रहा है कि हम वर्तमान भारत के किसी वर्ग या वर्ग की बुराई-भलाई का विचारण करें। इसके विपरीत हमारा उद्देश्य उन सांस्कृतिक परिस्थितियों की छानबीन है जो उक्त स्थिति का कारण हैं। इन कारणों पर प्रकाश डालते हुए हम भारतीय संस्कृति के भविष्य के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार प्रकट करेंगे।

मनुष्य स्वभावत: मूल्यान्वेकरी आदर्श है, वह निरतर मूल्यों के उत्पादण में लगा हुआ जीवित रहता है। ऐसी दशा में एक ऊँचे और एक घंटिया मनुष्य में यही अन्तर होता है कि वे कम: उच्चतर एवं निम्नतर मूल्यों के लाभ में निरत रहते हैं। यहीं बात जातियों पर भी लागू है। भाषा जातियों के जीवन में विभिन्न मूल्योत्पादक क्रियाओं के साप-साथ एक दूसरी क्रिया भी चलती रहती है, वह चित्तन-क्रिया जो मूल्यों के स्वरूप का निर्धारण और उनके आपेक्षिक महत्व का निर्णय करती है। प्रत्येक सम्भव जाति में कुछ सदस्य—जिन्हें हम विचारक और दार्शनिक कहते हैं—प्रधानतया इसी कार्यों में लगे रहते हैं।

एक और बात है। मनुष्य का मूल्यों सम्बन्धी अनुचितन उसके शेष ज्ञान-विज्ञान से निरर्थक नहीं होता। जिस जाति में मौलिक मूल्यानुचितन की प्रकृति होती है, उसमें प्रायः वह जिज्ञासा और साधना भी होती है जो ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में नित-नये अनुसन्धान करती है। तात्पर्य यह कि मूल्यों-सम्बन्धी जिज्ञासा किविष्ठ ज्ञान-क्षेत्रों से सहीप्रत्येक जिज्ञासा से अलग और निरर्थक नहीं होती। प्राचीन भारत के मनोरितों में इस प्रकार की सर्वोच्चतम ज्ञानार्थी, यही कारण है कि वे दर्शन, कला आदि के क्षेत्रों में इतना मौलिक और ऊँचा कार्य कर सके। प्राचीन युरोपियों में भी ऐसी जिज्ञासा न चित्तन-प्रकृति थी। पिछली तीन-चार शताब्दियों के यूरोप में भी वैसी ही अन्वेषण और चित्तन की प्रकृति रही है। इस प्रकृति के फलस्वरूप यूरोप ने विभिन्न
उपसंहार

विद्याओं में अभूतपूर्व प्रगति की है और सामाजिक सहयोग एवं न्याय की प्रतिष्ठा करनेवाली बहुत-सी संस्थाओं एवं व्यवहार-सरिष्यों को भी संग-ठिठ किया है। इदर के यूरोप में व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं चिन्तन-स्वातन्त्र्य के आदर्शों का परिपूर्ण विकास हुआ है।

हम यह नहीं कहना चाहते कि यूरोप में जो-कुछ सोचा—किया गया और किया जा रहा है वह सर्वथा निर्देश और पूर्णतया ग्राह्य है; मनुष्य के सभी प्रयत्न न्यूनाधिक अपूर्ण होते हैं, और यूरोप में बैचारिक व्यावहारिक निष्कर्ष व आदर्श भी पूर्ण नहीं हैं। हम जोर इस बात पर देना चाहते हैं कि वर्तमान यूरोप में ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ-साथ मूल्यांकन-विचार की किया निरंतर जारी रही है, और उस किया ने उसके वैचारिक-सामाजिक जीवन-दृष्टि की निरंतरता रूप में प्रभावित गठित किया है। पूर्वांचल जा सकता है कि हम, यांत्रिक आविष्कारों की भांति, उपयोगी संस्थाओं द्वारा व्यवहार-पद्धतियों को यूरोप और अमेरिका अपनी रूप से क्यों न ले लें? उत्तर हैः इस प्रकार का आदान या प्रह्लाद कुछ ही तक ही सम्भव है। हमने इंग्लैंड और अमेरिका से जनतन्त्र के विधान का ढाँचा लें किया है, पर हम बहुत के लोगों की जनताधिक मनोवृत्ति—सबको समान मानने तथा व्यक्ति को आदर देने की प्रवृत्ति—कहाँ पाएँ हैं? हमसे पहले जापान ने यूरोप की यांत्रिक उप-लक्ष्यों को अपनाया, पर इससे जापान जहाँ कुछ दिनों के लिए वातावरणीय राष्ट्र बन गया, वहाँ वह इस धार्मिक नहीं बन सका कि विज्ञान, वर्तन वादि के क्षेत्रों में विद्वान की बड़ी चीजें दे सके। जापान की जो प्रगति हुई उसका एक कारण वहाँ के लोगों की परिप्रेक्ष्यीता भी थी, जो आज भी उनके चरित्र का अंग है। उद्भिद वैदिक-नैतिक मनोवृत्ति के अभाव में जापान ज्ञान स्वायत्त उत्साह न कर सका।

हम कहना चाह रहे हैं कि एक देश दूसरे देश से कुछ चीजें लेकर काम चला सकता है, पर ज्ञान महत्व का वस्तु देश-विशेष के लोगों की मनो-वृत्ति, उनकी मूल्य-भावना और चरित्र (अर्थात मूल्यों को उद्धिर्म महत्व देने का व्यवहारिक स्वभाव) होता है; ये चीजें कहीं विदेश से अनुकरण द्वारा
प्रायः नहीं होतीं। मानव-व्यक्तित्व में सबसे महत्वपूर्ण चीज उपयुक्त मूल्य-
भावना और उसके अनुप्राणित चरित होता है। ये वस्तुएँ किसी भी व्यक्ति
या जाति को लम्बी साधना के बिना नहीं भिड़तीं। व्यक्ति के जीवन में महत्व-
पूर्ण बोध बहुत होता है जिसे वह अपने परिभ्रम से प्राप्त करता है, और जो
अन्तर्दृश्य जीवन-विवेक का रूप धारण करके उसकी जीवनचर्या को प्रभाव-
ित करता है। महत्वपूर्ण जीवन-विवेक, किसी व्यक्ति अथवा जाति को,
गढ़ी साधना द्वारा ही उपलब्ध होता है। जातीय जीवन-विवेक किसी जाति
की ऐतिहासिक साधना का फल होता है और व्यक्तिगत जीवन-विवेक व्यक्ति
की साधना का। एक बुद्ध अथवा गांधी अपने जीवनव्यापी चित्तन-मनन द्वारा
कुछ सत्यों की उपलब्धि करता है; वे सत्य उसके जीवन को महानः बना देते हैं।
उसके विभिन्न अनुप्रयोग अपने-अपने सामग्री के अनुसार ही उन सत्यों का
साक्षात्कार कर पाते हैं। जब एक समूची जाति महापुरुषों द्वारा उद्विषित
सत्यों को न्यूनाधिक आत्मसातु करती है, तो वे सत्य जातीय चेतना के अंग
बन जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि महापुरुष जातीय चेतना को वहीं तक
समूद्र कर सकते हैं जहाँ तक जाति-विवेश ने अपने को उनके द्वारा आविष्कृत
सत्य प्रह्लाद करने के योग्य बना दिया है।

मनुष्य का इतिहास बदलता रहता है, उसका जीवन और जगतु से
सम्बन्धित बोध भी बदलता रहता है। विभिन्न शास्त्रों के अनुसरणों द्वारा
ब्रह्माण्ड का—अर्थात् मनुष्य की वृद्धि के सामने उपस्थित भौतिक, जैविक,
मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक जगत् का—मानचित्र लगातार बदल रहा है।
एक जीवन्त जाति के जागरूक नेता अपने में निरंतर इस बदलते हुए विश्व
की चेतना जगायें चलते हैं; और उस चेतना की पृथ्वीभूमि में निरंतर
जीवन के संभाव्य मूल्यों के बारे में चित्तन करते रहते हैं। इस क्रिया के दो
सम्बद्ध परिणाम होते हैं; एक और जातीय चेतना लगातार नये विश्व या
परिवेश को समर्पित करती है, और इससे अथवा वह उन मूल्यों तथा जीवन-
सरोवरों का निरुत्तम करती चलती है जो विश्व की नयी पृथ्वीभूमि में
प्रभावशील एवं सुन्दर दंग से जीने के लिए जरूरी है।
उपसंहार

हमारी जातीय भाव से आज उक्त कोटि के चिन्तन-मनन के अभ्यास से बाँटित हो गया है, उसकी सजनसील जिज्ञासा एवं विचार की वृत्तियों को घूम लग गया है। फलतः वह बौद्धिक-व्यावहारिक प्रेरणाओं के लिए असहाय भाव से कभी अग्नि अतीत की ओर देखती है और कभी यूरोप व अमेरिका की ओर। निगमत भाषाओं के धार्मिक आन्दोलन, जिनकी प्रेरणा अतीत से आवाय थी, आज हमें आगे बढ़ाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि सिर्फ अतीत की ओर देखना हमारी जातीय अग्रगति के लिए पर्याप्त नहीं है। अतीत के गौरव का स्मरण हमें आगे बढ़ने का साहस दे सकता है, नैतिकता तथा अध्यात्म से समन्वित अतीत की कुछ अन्तर्दृष्टियाँ आज भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, किन्तु अतीत का बोध और विवेक आज के लिए पर्याप्त नहीं है। आज हम अतीत के बोध को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में संशोधित करके ही अपने उपयुक्त बना सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हम अपने पूर्वजों की समस्त तथा विवेक से वहीं तक लाभ उठा सकते हैं जहाँ तक हम स्वयं समादार और विवेकशील हैं।

आज हम अपने अतीत की ज्ञान-राशि का उपचार उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। हम प्रय: अतीत की उन शिक्षाओं तथा रुढ़ियों पर ज्यादा-जोर देते हैं जो अब प्रामाणिक तथा उपयोगी नहीं रह गयी हैं—जो समयावधि हो चुकी है। इसके विपरीत हमारा ध्यान उन तत्त्वों की ओर नहीं जाता जो चिरनवीन और इसलिए आज भी महत्वपूर्ण हैं। उत्कर्षकालीन सांस्कृतिक चेतना का मानन्द मानते हुए इस पुस्तक में यह कोशिश की गयी है कि अतीत विचारों की दूसरी कोटि की शिक्षाओं या अन्तर्दृष्टियों को आवश्यक गौरव के साथ प्रकाश में लाया जाय।

इस प्रकार की एक अन्तर्दृष्टि इस मन्तव्य में निहित है कि जातीय संस्कृति और आदर्श की प्राप्ति एवं रक्षा के लिए नैतिक तथा चारित्रिक आधार का होना अनिवार्य रूप में आवश्यक है। यह नहीं हो सकता कि एक ओर हम भौतिक जीवन-स्तर को ऊँचा बनाने की कामना करें, और दूसरी ओर हम भाग्य-भूत नैतिक-सामाजिक मूल्यों के प्रति उदासीन रहें। इसके लिए यह जरूरी
है कि हमारे देश के विचारक मूल्यों के सम्बन्ध में जिम्मेदारी के साथ चिन्तन करें और जीवन के युगोंके आदर्शों का नया निरूपण व मण्डन प्रस्तुत करें। विविध-निभात तथे परिवेश ने हमारे सामने जीवन की नयी सम्भावनाओं को उद्धारित किया है। प्राचीन युगों की अपेक्षा आज मनुष्य के सुख और दुःख दोनों की सम्भावनाएं बहुत-कुछ बदल गयी है। विभिन्न जातियों की देशगत दूरी खत्म हो गयी है, जिसके फलस्वरूप यह देखना सरल हो गया है कि विभिन्न समाजों में कितनी तरह की प्रथाएँ हैं और भलाई-बुराई के कितने प्रमेय विद्युत रूप मात्र हैं। पुराने हिंदू नीतिशास्त्र अथवा स्मृति-ग्रन्थ अत्यंत विविध-निष्पाद्ये से भरे हैं जिनमें से अधिकांश आज अर्हती ही चुके हैं। आज के विचारकों को नीति तथा दूसरे क्षेत्रों में ऐसे स्वार्थ एवं व्यापक आदर्शों का निरूपण करना है जो नये परिवेश की जीवनसम्भावनाओं को निर्धारित न करते हुए लोगों पर यह स्पष्ट कर सकें कि उत्पत्ति एवं निर्माता, बढ़िया और घटिया, जीवन-सरणियों में बुद्धिजीवन अन्तर क्या होता है। नये युग में जीवन-दर्शन न्यूनाधिक नया रूप धारण करता है, किन्तु कोई भी जीवनदर्शन उस मौलिक अन्तर का नहीं मिटा सकता जो ऊँचे और नीचे जीवन के बीच रहता है। ऊँच-नीच, भले-बुरे का बीड़ मानव-चेतना की एक अन्वित प्रतिपदा है। इस प्रतिपदा को बुद्धिमान भाषा में निरूपित कर देना ही जीवन-दर्शन है, और उस्-दर्शन को बुद्धिमान सम्बन्ध रूप देना ही जीवन-विवेक है।

विभिन्न युगों और विभिन्न देशों या भौगोलिक प्रदेशों में विभिन्न मानव-समूहों का सांस्कृतिक अनुभव अलग-अलग होता रहा है; लेकिन जातियों द्वारा निरूपित मूल्यों तथा आदर्शों का उनके अपने-अपने विशिष्ट स्वभाव तथा संवेदना से भी सम्बन्ध होता है। इसके अलावा एक और बात भी है—मानव-प्रकृति इतनी विविध है और उसकी प्रेरणाओं में भी इतनी अनेकिंश रूप धारण कर लेता है। हम यह कह रहे हैं कि धारती की विभिन्न सभ्य जातियों के अलग-अलग सांस्कृतिक स्वभाव रहे हैं। प्राचीन सूर्यनायिनियों में, और वर्तमान यूरोपीयों
उपसंहार

में भी, वैदिकता का तत्काल प्रधान रहा है। आधुनिक यूरोप की सभ्यता विज्ञान पर आधारित है, विज्ञान में तर्क-मूलक गणितशास्त्र और निरीक्षण-मूलक प्रयोग दोनों का ही योग रहता है। आधुनिक यूरोप का मस्तिष्क जहाँ-एक ओर बहुत सुंदर व तर्कसंगीत है, वहाँ-दूसरी ओर, भौतिक और सामाजिक दोनों धरातलों पर, नितांत व्यावहारिक भी है। आधुनिक यूरोप और अमेरिका में वैज्ञानिक प्रगति के तात्कालिक उद्देश्य कोटि का स्तरित्व तथा नैतिक-सामाजिक प्रगति भी हुई है। आज के पश्चात में सामाजिक न्याय तथा सामाजिक नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा है, और आज वहाँ जैसे भव्य नगर निर्मित हो सके हैं वैसे सम्भवतः विश्व के इतिहास में कभी कभी निर्मित नहीं हुए। यह साधारण उपलब्धि नहीं है।

इसके विपरीत साम्राज्यवादी भारत में सामाजिक न्याय व नैतिकता का धरातल बहुत ही नीचा है। यहाँ के लोगों में सामाजिक ईमानदारी की भावना बड़ी ही निर्भर हो गयी है। यूरोप में व्यक्तियों के निजी सम्बन्धों पर वैसे नियन्त्रण व प्रतिबन्ध नहीं पाये जाते जैसे कि इस देश में; वहाँ नैतिकता का आधार सामाजिक सुविधा व व्यक्तियों का सुख है, न कि रुपयों व अन्य-विश्वास। यही कारण है कि वहाँ व्यक्ति ज्यादा स्वाधीन व सुधी है और वह आज की जटिल सभ्यता के निर्माण व संरक्षण में प्रशस्त दिख दे पाता है।

प्राचीन चीन की सभ्यता में सामाजिक-नैतिक अनुशासन का बड़ा महत्व था। चीन में दो बड़े विचारक व शिक्षक हुए, कन्फ्युशियस और लाउसे। इनमें लाउसे उपनिषदों के शिक्षकों की भावना रहस्यवादी था, उसका चीनी मस्तिष्क पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा। चीनी मनोवृत्ति प्रधानतया व्याव-हारिक रही है। कन्फ्युशियस की शिक्षाओं के प्रभाव में चीन में पारिवारिक तथा राजा-प्रजा आदि के सम्बन्धों पर बहुत विचार किया गया और उन सम्बन्धों को व्यवहार में प्रतिष्ठित किया गया। चीनी मस्तिष्क का सूक्ष्म तर्क से ज्यादा प्रेम नहीं रहा, इसीलिए उसने दर्शन और गणित के श्रेणियों में ऊँचा कार्य नहीं किया।
भारतीय संस्कृति

आधुनिक यूरोप का विज्ञान ही नहीं, उसका सामाजिक-राजनीतिक ढाँचा भी सूक्ष्म सैद्धांतिक चिन्तन पर आधारित है। जिन्हें हम जंतुन, समाजवाद और साम्यवाद की पद्धतियाँ कहते हैं उनके पीछे यूरोप के दर्जनों विचारकों के अवभ चिन्तन का आधार निर्मित होता रहा है।

प्राचीन भारतीयों में यूनानियों की भाति ही सूक्ष्म तक तकराने की शक्ति व आघात था, हमारे हिन्दू व बौद्ध दार्शनिक बड़े तर्कशासी थे। नागार्जुन, धर्मकीर्ति, उधोकर, शंकराचार्य-जैसे दार्शनिक अपनी तर्कगत सूक्ष्मता में विश्व के श्रेष्ठतम विचारकों की श्रेणी में आते हैं। किन्तु भारतीय मस्तिष्क में, एक दूसरा आघात भी था—इस जगत से परे एक वाक्यमन्स-अगोचर अनंत तत्त्व या पद की प्राप्ति का आघात। इस तथ्य को यह कहकर भी प्रकट किया जाता है कि भारत की सांस्कृतिक आत्मा आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए आकृति रही है। भारतीय संस्कृति मूलतः एक आध्यात्मिक संस्कृति है जिसका चरम वाद्यों अमृतवत्व या मोक्ष की प्राप्ति है। भारतीय दर्शनों का अल्टिम उद्देश्य ज्ञान को साधन में परिणत करके उसे मोक्ष के लिए उन्मुख बनाना है। प्राचीन भारतीय दर्शनिकों ने जीवन और जगतु के बारे में बड़ा सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन किया, किन्तु वह चिन्तन लगातार इस उदात्त आध्यात्मिक प्रयोगन से अनुभावित रहा। सम्भवतः किसी भी दूसरे देश के दर्शनिकों के सम्बन्ध में यह बात इस हद तक सही नहीं होगी। यह यूरोप में भी प्लेटो और सिपोनोजा-जैसे महान् दर्शनिक हुए हैं, जिनके जीवन में अध्यात्म का ऊंचा स्थान था। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर यूरोपीय दर्शनिकों ने आध्यात्मिक जीवन (हिलिज लाइफ) और उसकी समस्याओं में उत्तरी रेखा नहीं ली जिसने कि आचार-नीति तथा गणित और (बाद में) विज्ञान की समस्याओं में। प्लेटो गणित का बड़ा श्रेष्ठ था और गणितव्यावस्था को बड़ा महत्व देता था। प्लेटो से पहले पाइथागोरस ने यह कहा था कि गणित के अध्ययन से आत्मा शुद्ध होती है। अपने 'सिपोनोजा' में प्लेटो ने सामाजिक न्याय (जस्टिस) आदि नैतिक मूल्यों के मण्डल का गम्भीर प्रयत्न किया है। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने,
रूपतंत्र के प्रति निधि दार्शनिक है, सामाजिक, नैतिक तथा राजनीतिक आदर्शों के बारे में गम्भीर चिंतन किया है। यहीं बात वर्तमान यूरोप के जॉन लॉक, रूसो, काफ्ट, हुंगेर, कार्लार्सबर्ग, श्रीन बोसांके आदि विचारकों पर छाया होती है। इसके अतिरिक्त डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइब्रनीज, काफ्ट, रसेल, ब्लाइड्स्ट्रेड आदि दार्शनिक विज्ञान और गणित से सम्बंधित समस्याओं में बराबर गहरी अभिलिखि लेते रहे हैं। इसके विपरीत भारतवर्ष के किसी भी महास्थपूर्ण दार्शनिक ने न तो कभी सामाजिक-नैतिक मूल्यों के निरूपण में विशेष अभिलिखि ली, और न गणित व विज्ञान में ही। सम्भवतः यहुं एक मुख्य कारण है कि हमारे देश में महास्थपूर्ण राजनीतिक कार्यालय नहीं हुईं और सचिवों तक देश में एकात्म राजतन्त्र का विधान चला रहा। सम्भवतः इसी कारण हमारे देश में आधुनिक प्रयोगात्मक विज्ञान का उदय भी नहीं हुआ। मानना पड़ता है कि नैतिक व सामाजिक विज्ञानों तथा सामाजिक-नैतिक मूल्यों से सम्बंधित चिंतन की दृष्टि से आधुनिक यूरोप इतिहास को सभी सम्भ जातियों से अगे पहुँच गया है।

हमारे देश में, विगत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों के बावजूद, जो आज सामाजिक-नैतिकता का स्तर निचा है, इसका एक महास्थपूर्ण कारण शायद यहुं भी है कि हमारे देश के उच्चतम दार्शनिक मस्तिष्क जीवन के नैतिक धरातल के प्रति उदासीन रहे हैं। हमारे देश के अतिरंज में नैतिक आदर्शों के निरूपण का काम स्मृतिकारों ने किया है, दार्शनिकों ने नहीं। और उन स्मृतिकारों ने बिद्व-निषेधों का ऐसा जटिल जाल रचा कि लोगों में आधारतीति समझदर्शी विज्ञान कामयाब न रह सकी। इस प्रकार की विज्ञान महाभारत के समय में बहुत ज्यादा वर्तमान थी। स्मृति-प्रत्यों के अतिरिक्त हम काव्य-नाटकों में ही भलाई-बुराई की सूक्ष्म संबंधित पाते हैं।

भारतीय संस्कृति की साम्राज्य के आवश्यकताएँ

हमें इस मन्त्रम से छगड़ने की जहतत नहीं है कि अध्यात्म की दृष्टि
भारतीय संस्कृति

से प्राचीन भारतीय दर्शन बहुत ऊँचा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि इस लोक या जीवन के नैतिक तथा इसरो मूल्य उपेक्षणीय हैं। सच यह है कि जहाँ हमें यहाँ के जीवन-मूल्यों का साक्षात् अनुभव है, वहाँ मीठा नाम की स्थिति बहुत-कुछ कल्पना की ही चीज है। अवश्य ही हमारे विचारकों ने जीवनमुक्ति की स्थिति भी मानी है; जिसके महत्व का यही अनुभव किया जा सकता है। किन्तु जीवनमुक्ति का मतलब यह नहीं है कि हम मानव-जाति के सुख-दुःख तथा समाज के नैतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन बन जायें। जीवनमुक्ति की स्थिति का वास्तविक आशय यह है कि साधक व्यक्तिगत हानि-शाभ में विशेष आसन्नता न रखे। जीवन में प्राप्त होनेवाले समस्त मूल्य सीमित है; किन्तु वे सीमित मूल्य एकदम उपेक्षा की चीज नहीं हो सकते। जिसी हम असीम मूल्य समझते हैं वे भी सम्भवतः हमारे अनुभव के दायरे के बाहर हैं। सम्भव है कि कालिदास तथा शेखर-पियर के काव्य से ऊँची रचनाएं किसी इसरो लोक में होती हीं, किन्तु वह मनुष्य सचमुच ही मूर्ख और अभागा है जो किसी कल्पित अलेक्कार्यानद के फेर में इन धरती के महाकाव्यों को उपेक्षा करें। हम आध्यात्मिकता का यही अर्थ समझते हैं कि विवेकी व्यक्ति इस लोक के मूल्यों का उपयोग करते हुए भी उनमें ऐसी आसन्नता महसूस न करने के उनके अभाग में व्याकुल बन जाय। इस कृत्ति से आध्यात्मिकता का अर्थ जीवन-मूल्यों के सर्वने और उपयोग के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं है; इसके विपरीत उसका अर्थ ऐसी अनासन्नता है जो हमें चरम सत्तुलन एवं निराकुल प्रयत्नशीलता की क्षमता देती है। कबी माल ने कहा है; महाराष्ट्र: क्षुधियस्तिश्रष्टेषां च निराकुलः। अर्थात् खुलबुधि (कुशल व विवेकी) लोग बढ़े-बढ़े काम शुरू करते हैं, फिर भी निराकुल बने रहते हैं। महापुरुष वे नहीं हैं जो संवास लेकर दुनिया के बड़े प्रयत्नों से छुट्टी ले लेते हैं; विश्वविद्यालय के अर्थात् कभी नहीं रहते। बुद्ध और ईसा, शंकर और गांधी इसी प्रकार के कर्मयोगी थे; कर्मयोग का यही आदर्श कालिदास के रघु-जैसे विश्वविद्यालयी वीरचरित्र में प्रतिष्ठित है।
उपसंहार

एकान्त संन्यस्त जीवन का आदर्श इस देश में स्वर्ण-युग के बाद ही प्रति प्रिय हुआ; उससे काफी पहले कुछ बौद्ध तथा जैन विश्वासियों ने वैसे आदर्श का प्रचार किया था। किन्तु स्वयं बुद्ध अतियों के रात्रि को बचाकर मध्य मार्ग पर चलने के पक्षपाती थे। बीमारियों के मत में भी एकान्त रूप में संन्यस्त जीवन भवानीनाथी है। लौकिक होना और एकान्त रूप में परलोक-परायण होना दोनों ही रास्ते खतरनाक है। पुरुषार्थी मनुष्य के जीवन में आस्थिति और अनास्थिति के उचित सामग्रिय नहीं मिलती है; श्रेष्ठ जीवन में गहरी लोक-संप्रभु आत्मिक के साथ-साथ ऊँची अनास्थिति का पुट रहता है।

चूंकि मूल्यों का प्रकृत क्षेत्र लौकिक जीवन है, इसलिए विचारकों को गभरीता से उन पैमानों का निरूपण करना चाहिए जो हमें ऊँच-नीच तथा घटिया-बढ़िया का विवेक सिखाते हैं। किसी सुक्तिकार ने कहा है—

काव्यशास्त्रविनोदेन वालो गँगठि धीमतामुः
व्यस्तनेन च मूर्वाणां निद्रया कलहेत वा।

'बुद्धमानों का समय काव्य-शास्त्रों के सेवन में खड़े होता है; इसके विपरीत मूर्खों का समय तरह-तरह के व्यस्तनों, नींद और क़लह में बीतता है।' प्राचीन भारत में काव्य-शास्त्र चर्चा की व्यापक प्रवृत्ति थी। यह चर्चा ऊँच-नीच के पैमानों की अवगति के बिना नहीं हो सकती। योग और वेदांत के कुछ परिधि कहें कि जीवन का रक्षण सब प्रकार की चिंताभावितयों का निरोध है, किन्तु हमें काव्य-शास्त्र-विनोद का आदर्श ज्यादा प्रिय जान पड़ता है। इससे ऊँचा आदर्श, हमारी वृद्धि में, एक ही है—अर्थात बुद्ध और गंग्रो का लोक-कल्याण का आदर्श।

हम अपनी परम्परा के परिवर्त्तन के पक्षपाती नहीं हैं; वस्तुतः कोई भी सभ्य व्यक्ति तथा जाति परम्परा को छोड़कर जीवित नहीं रह सकती। किन्तु हमें यह पसन्द नहीं है कि हम बाज अनेक, विवेक-मूल्य ढंग से पुरानी परम्पराओं को पकड़कर चलते रहें; हमें यह भी लंगिक नहीं है कि हमारे देशवासी
अपने को हीन समझते हुए पश्चिम का असमीक्षित अनुकरण करें। ये दोनों ही रास्ते समझदारी के मार्ग नहीं हैं; दोनों ही तरीके एक जीवन्त, विचार-सम्पत्ति जाति के अस्वीकृत हैं। हमारे लिए उचित रास्ता यह है कि हम अपने देश के अतीत तथा यूरोप के वर्तमान, दोनों के प्रति उचित आत्मविश्वास एवं विचार के साथ साक्षरता प्रतिक्रिया करें, और दोनों की जीवन्दायिनी परम्पराओं से प्रेरणा लेते हुए सजग साहस से आगे बढ़ें।
परिशिष्ट

महाकाव्यों का परिचय

रामायण और महाभारत दोनों का ही समय निर्मित नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई होगी। महाभारत में रामकथा का उल्लेख है, जब कि रामायण में महाभारत-वाणित किसी पात्र की चर्चा नहीं मिलती। यदि राम ऐतिहासिक पुरुष थे तो वे निर्मित ही पाँच पांडवों से पहले हुए थे। रामायण के अनुसार महाभारत वाल्मीकि राम के समय में मौजूद थे। इन सब कारणों से यह मानना उपयुक्त लगता है कि रामायण महाभारत से पहले की रचना है।

वाल्मीकि-कृत रामायण

उपलब्ध रामायण बड़ा प्रथम है। उत्तरकांड को मिलाकर उसमें सात कांड हैं। प्रत्येक कांड सर्गों में विभाजित है। एक-एक कांड में बहुत-से सर्ग हैं; जैसे बालकांड में ७७ सर्ग हैं, अयोध्यकांड में ११९, अरण्यकांड में ७५, किशिका में ६७ इत्यादि। राम की मुख्य कथा के अतिरिक्त रामायण में, विशेषतः बालकांड में, अनेक कथाओं-उपकथाओं का समावेश है। प्रारम्भ में कौशल वाल्मीकि नारद से प्रश्न करते हैं कि इस लोक में कौन ऐसा व्यक्ति है जो पराक्रमी होने के साथ-साथ गुणवान् भी है। नारदजी दसरथ-पुजा राम का नाम लेते हैं। इसके बाद तमता के तीर पर वे व्याध द्वारा फौरन-मिथुन में से एक का वध देखकर श्लोक का उल्लेख करते हैं। इस पर ब्रह्माजी आकर कवि का अभिन्नतान करके उन्हें रामचरित के वर्णन का उपदेश देते हैं (सर्ग १-२)। तीसरे सर्ग में रामायण में वर्णित विषयों का संकेत में निर्देश नहीं; यह निर्देश वर्तमान रामायण के अनुकूल ही है। अगले सर्ग में राम के द्वारा अपने पुत्रों के मुख से अपना चरित्र सुनने का उल्लेख है। इसके बाद
भारतीय संस्कृति

तीन सगों में अयोध्या, दशरथ तथा उनके शासन व नीति का वर्णन है। दशरथ ने अयोध्या में अवस्थित यज्ञ करने का उपक्रम किया। ऋषि श्रूंग की सहायता से यज्ञ सम्पन्न हुआ और कुछ समय बाद राजा की चार पुत्र प्राप्त हुए।

बड़े होने पर राम-रक्षण को विश्वासित मानकर ले गये। विश्वासित ने उन्हें बला तथा अतिवला नाम की विभागों दीं। ताड़का का बचाव करने के बाद राम ने विश्वासित से अत्यार्पण किये। इसके बाद राम ने विष्णु का सिद्धांत देखा, उसके पश्चात् मारी और सुवाहु का निवारण किया।

बालकांड—इसमें बहुत-सी कथाओं का उल्लेख है, इनमें से अधिकांश कथाएँ विश्वासित द्वारा राम को सुनाई गयी हैं। यहाँ कुछ मुख्य कथाओं का उल्लेख मात्र किया जाता है—विश्वासित के बंड में संबंधित कथाएँ, गंगा तथा पार्बती की उत्पत्ति की कथाएँ, कार्तिकेय की उत्पत्ति, राजा सगर और उनके साथ हजार मुनियों के कपिल द्वारा भत्त फिरे जाने का वृत्तांत, सगर वंशी राजा भमोरव की कथा, दिति और अदिति की कथा, समुद्र के मंडन का वर्णन तथा विष की उत्पत्ति, गौतम तथा अह्न्या की कथा, गौतम का इतिहास तथा अह्न्या का चाप देना और अह्न्या के उद्धार का उपाय बतलाना, राम के चरण स्पर्श से अह्न्या की मुक्ति, शतानन्द द्वारा विश्वासित के बंड का कथन, वसिष्ठ तथा विश्वासित के संध्य का वृत्तांत, ब्रह्म-रेज की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, त्रिशंकु की कथा, अमरवीर के यज्ञ का वर्णन, विश्वासित की तपस्या और मेनका द्वारा उसका भंग, विश्वासित द्वारा फिर तपस्या और ब्रह्मचित्त की प्राप्ति, सीता तथा उमिला की उत्पत्ति की कथाएँ, राम द्वारा धनुंभाज और चारों भाईयों का विवाह।

अयोध्याकांड—काव्य की दृष्टि से रामायण का सर्वश्रेष्ठ अंश अयोध्याकांड है। बालकांड में अलौकिक कथाओं की भरमार है, अयोध्याकांड में विश्वुद्ध मानवीय कथा कही गयी है। इस कांड की अधिकांश कथा का अनुगमन तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में हुआ है। दशरथ द्वारा राम के अभियुक्त की चर्चा होते पर कैकेयी के मातृकृत की दस्ती मन्यता ने आकर रानी को बहुकाया। कैकेयी ने राजा से दो वर्तमान मांगे। तदनुसार राम को लक्ष्मण
तथा सीता समेत वनमन करना पड़ा। दशरथ की मृत्यु के बाद भरत का आगमन और चित्रकूट-गमन। राम-लक्ष्मण दोनों का सन्देह और संवार। राम के पास पहुँचकर भरत का विलाप। ब्राह्मणों में श्रेष्ठ जावालिका का राम को उपदेश-"कौन किसका भाई है, कौन किसका बच्चा; मनुष्य बुकला आता है और बुकला ही जाता है।" पिता के राज्य को छोड़कर कब्ज़ा के पथ में मत जाओ। राज-भोगों को भोगों। जो लोग प्रत्यक्षसिद्ध धन आदि को छोड़कर धर्म की चिन्ता करते हैं वे शोचनीय हैं। कर्मफल का मोगलवाला कोई नित्य बाल्मा नहीं है। दान आदि का विवाह चतुर लोगों ने सहज धन-प्राप्ति के लिए किया है। प्रलय की चिन्ता करो, परोक्ष की नहीं।' जावालिका

राम-लक्ष्मण दोनों का आगमन और चित्रकूट-गमन। जटायु से भंत। शूरणेश्वर का आगमन और विराजकरण? खर, हुस्तन तथा चिर्चिरा का वध। मारीच के साथ रावण का आना। स्वर्गमृग का वध और रावण द्वारा सीता-हरण।

किष्किंद्धास्रांपदा-प्रेम के तीर पर राम-लक्ष्मण का शोकपूर्ण संवार, प्रेम का वर्जन राम और सुप्रीव की मित्रता और एक-दूसरे की मदद करने की शपथ। वाली का वध तथा सुप्रीव के आदेश से सीता की खोज के लिए वानरों का प्रयास। सीता को खोजते हुए वानरों का महासुर-रंजित क्रक्क-बिल में पहुँचना, वहाँ से स्वयंप्रभा तपस्विनी की मदद से सागर-टट पर पहुँचना। जटायु के भाइ समापति का आगमन और पंख जलने की कथा का उल्लेख, उसके द्वारा सीता-समाचार का कथन और नये पंखों की प्राप्ति। हनुमन की उत्पत्ति आदि की कथा का जाम्बवान द्वारा उल्लेख।

सुन्दरकांड—समुद्र का उत्पालन करते हनुमन का वर्जन, हनुमन द्वारा
युद्धकाण्ड—राम द्वारा हनुमान की प्रशंसा, लंका की स्वतंत्रता सम्बन्धी प्रश्न। विभीषण का शरण में आना और राम की उससे मन्त्रणा। अल्कुवद्का द्वारा हनुमान का विपाद। हनुमान द्वारा वातिका-विविभक्ति तथा 
लंका-दहन। लौटकर हनुमान द्वारा जानबूझ, अंगद आदि को और 
बाद में राम-रक्षण को सीता का समांचार सुनाना।

उत्तरकाण्ड—रामायण-प्रवाह के फल-कथन से जान पहुंचता है कि मूल 
रामायण युद्धकाण्ड के साथ समाप्त हुई थी। उत्तरकाण्ड में काफी बाद को 
सुप्रीति, विभीषण आदि का प्रयास दिखाया गया है।
परिशिष्ट

राम के पास कौशिक आदि महार्षि आये और उन्होंने राम की स्तुति की, उन्होंने मेघनाद की प्रशंसा भी की, जिसे सुनकर राम को उसके बारे में जानने का कोई सूचना हुआ। इस पर अगस्त्य ने रावण के दादा पुज्यत्र और रावण के पिता विश्वबा की कथा सुनायी और बताया कि किस प्रकार कैकेयी के गर्भ से रावण, कुम्भकर्ण, शूरपंचाक आदि उत्पन्न हुए, इसके बाद रावण की विभिन्न विजयों का वर्णन है; उसने कुबेर से पुष्पक विमान छीना, शंकर को प्रसन्न कर चन्द्रहास खड़े पाया। शेषवती नामक तपस्विनी को प्रस्तुत किया जो बाद में बदला लेने को सीता बनी। अगस्त्य द्वारा राम के पूर्णे पर हनुमान की जन्मादि-कथा का वर्णन है। जनक, केकय, सुप्रीव, विभीषण आदि का प्रस्थान।

सीता के निर्वासन की कथा, उनका वाल्मीकि के आधिकार में आवास।

मद्य अयन लवण नामक असुर का जिक्र, उसे मारने जाते हुए श्रुवुचन का वाल्मीकि के आधिकार में प्रवेश और सीता के दो पुत्रों की उत्पत्ति। ब्रह्मण-पुजार की मृत्यु, शंबूक का नाम के तपस्वी शूद्र की कथा। राम की राजसूय यज्ञ करने की इच्छा। वाल्मीकि का आगमन और कुश-लव द्वारा रामस्वरूप का गान, इस कथा में वाल्मीकि-रचित चौदह हजार श्लोक थे। राम ने कहा कि 'सीता अपनी शुद्धता सिद्ध करने के लिए शपथ करें'। सीता ने शपथ की, शूद्रता से सिद्धासन निकला और सीताजी रसातल में प्रवेश कर गयी। राम के पास तापसरहुधारी का आया, उसने राम को ब्रह्मा का सन्देश सुनाया, राम प्रसन्न हुए। कोंधी दुर्वासा का आगमन। राम-लक्ष्मण का वियोग।

सरयूतियर पर पहुँचकर राम का स्वर्ग-गमन। रामायण-काव्य के पाठ का फल-कऽयन।

महाभारत

(महाभारत के रचिता श्री कृष्ण दैवाधार व्यास है। आकार में महाभारत रामायण से कहीं अधिक बड़ा प्रस्तुत है। उसमें प्रशिक्षित अयन बाद में मिलाये हुए अंश भी अधिक हैं, इतने अधिक कि उनके बीच से मूल महाभारत को अलग करना नितांत कठिन, लगभग असंभव-सा जान पड़ता है। पांडवों
भारतीय संस्कृति

की मूलकथा के अतिरिक्त महाभारत में सैकड़ों कथाें, उपकथाएँ हैं। 
महाभारत के ही 'अनुक्रमणिका पर्व' में लिखा है कि व्यासजी ने चौबीस 
हजार स्लोकों को भारत-संहिता बनाया, जिसमें उपाख्यान नहीं थे। इसी 
पर्व में धृतराष्ट्र ने भारती-कथा के मुख्य प्रसंगों का नाटकीय संकेत किया 
है। दूसरे भागात् अवर्त 'पर्वसंप्रहर्व' में ज्यादा लम्बी विषय-सूची है। यह 
सूची वर्तमान अवर्त प्रचलित महाभारत के विषयों का निर्देश करती है।

आदिवर्त—सूतकुल में उत्पत्ति लोमहार्षण के पुत्र उपश्रवा नैमिषार्य में 
पहुँचे, जहाँ कुलपति महाशी शौकके के बारह वर्षों तक चालू रहने वाले सत्र 
में बदल-से ब्रह्माय इकट्ठे थे। उनके पूछने पर उपश्रवा सीता ने बतलाया 
कि वे परीक्ष-पुत्र जनमेजय के सर्प-सत्र (नाग-यज्ञ) से आये हैं, जहाँ 
'महाभारत' नाम की विविध कथाएँ सुनायी गयी थीं। ऋषियों ने व्यासरचित 
'महाभारत संहिता' के सुनने की इच्छा प्रकट की। इस पर सीता ने कथा 
सुनायी। ब्रह्माजी की छुपा से व्यासजी को, महाभारत-रचना के समय, 
स्थिरने के लिए गणेशजी मिल गये। महाभारत में उपाख्यानों का समाबेश 
कर देने पर एक लाख श्लोक होते हैं।

जनमेजय ने नागयज्ञ उत्तरक ऋषि के प्रोत्साहन से शुरू किया क्योंकि जन-
मेजय के पिता परीक्षित (जो अभिमन्यु और उत्तरा के पुत्र थे) की मृत्यु तथाका 
सर्प के काटने से हुई थी। इतना बतलाने के बाद सीता ने अन्य कथाएँ सुनानी 
शुरू की। पौलोमपर्व—सूरुवंश की कथा, जिसके अन्तर्गत पुलोमा दानव, 
महाशी चक्का, चक्कारा तथा रुह का जीवनवृत्तात्त्व है। रुह का सर्प को 
भक्ति का निष्क्रिय और उन्हें हृद्धुरुप कर्त्स्य आह्सास का उपाय सुनाया। 
उसका 
समाधान। आस्तिक पर्व—जरायस ऋषि का वासुकी की बहिन से विवाह 
तथा आस्तिक पुत्र का जन्म, जिसने जनमेजय के सर्पस्त्र से नागवंश की रक्षा 
की। राजा परीक्षित ने शमीक मुनि का तिरस्कार किया, शमीक के पुत्र श्रृंगी 
ऋषि ने परीक्षित को शाप दिया कि उनकी मृत्यु तत्कथाका द्वारा डेस जाने से होगी। 
पुनः जनमेजय के सर्पयज्ञ का उल्लेख। अंशाणकरण पर्व—जनमेजय के यज्ञ में 
व्यासजी के आगमन, राजा की प्रार्थना पर व्यास द्वारा प्रेरित वैष्णवपायन ने
परविश्वस्त

महाभारत की कथा सुनायी (जिसे सौतने नैमिन्दारण्य में जाकर खुदतया )।

वैशाम्पानयन ने सुनाया कि एक उपरित्वर बसु हाम के राजा हुए। उनके तप

से धंबारकर ह्न्द ने उन्हें चदिक का राजा बनाया। उनका वीर्य किसी

तरह मछली के पेट में पहुँचा जिससे दो मनुष्य बालक उत्पन्न हुए; एक पुष्प

(मत्स्र नामक) और दूसरी कण्या (सत्यवती); सत्यवती को पराशर ऋषि

का संयोग प्राप्त हुआ जिससे व्यास उत्पन्न हुए। चूँकि उन्होंने वेदों का व्यास

(विस्तार) किया, इसलिए उनका नाम व्यास पढ़ा। व्यास ने महाभारत

लिखा और अनेक शिक्षाओं को, जिनमें वैशाम्पानयन भी थे, पढ़ाया। गंगा और

शान्तनु से भीम्स जमने, अग्री-मान्दुव्य ऋषि के शाप से धर्म की विदुर कुप से

शूद्रों योग में उत्पति। सश्रजय, कर्ण तथा क्रस्न, सायकित, इतवर, द्व्रान,

अश्वत्थामा, धृष्टधुमन आदि के जन्म। कृत्ती एवं माधों दे गर्म से धर्म, बायु,

इन्द्र और अश्विनीकुमारों ने कमाया: मुघिकित, भीम, अरुण तथा नकुल-सहदेव

उत्पन्न किये। दुरद की कल्या शिमिन्द्र का जन्म। दुर्गंत और शकुलाला

की कथा, दक्ष, वैस्वत मनु तथा उनके पुत्रों की उत्पत्ति-कथा, पुरुरा, नन्हुष

और ययाति के वृत्तान्त का वर्णन। ययाति पाण्डवों आदि के पूर्व ये। कवि और

देवयानी की कथा। शान्तनु और गंगा के विवाह की

कथा और शान्तनु-पुत्र भीम्स की अविवाहित रहने की प्रतिवाद। सत्यवती

के गर्म से वित्तवंद और विचित्रवीर्य की उत्पत्ति, शान्तनु और चित्तरांग की

मृत्यु तथा विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक। विचित्रवीर्य की मृत्यु पर माता

सत्यवती के अनुरोध से कुशवंश की बृद्धि के कारण व्यास द्वारा विचित्रवीर्य

की पतियां से धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का जन्म। धृतराष्ट्र और पांडु के

विवाह, धृतराष्ट्र के सी पुत्रों तथा पांडवों का जन्म-कथन। धृपाचार्य, द्रोणों

और अश्वत्थामा की उत्पत्ति-कथा।। द्रोण की परसुराम के अर्थ-प्राप्ति, धृमदुर

से विद्वत, भीम्स द्वारा राजकुमारों की शिक्षा के कारण उनकी नियुक्ति।

जशुगच्छ—धृष्टधुमन द्वारा वायुवि विवाद-यात्रा पर गये पाण्डवों को लाकुशागृह

में मारने की योजना और उसकी विफलता। भीम द्वारा हिंदिभराक का

वद तथा हिंदिभराक का उत्पत्ति। पांडवों का
भारतीय संस्कृति

द्रोपदी-स्वयंवर में जाना, अर्जुन द्वारा बन्धवेश और द्रोपदी की प्राप्ति, पांडवों से उसके विवाह का निश्चय। द्रोण और विद्यु दोनों की सम्मति से पांडवों का हस्तिनापुर बुलाया जाना और आधा राज्य पाकर उनके द्वारा इंद्रप्रस्थ नगर का निर्माण। नारद का आयाम और युधिष्ठिर आदि की नियम बनाकर द्रोपदी के साथ रहने का उपदेश। ब्रह्मण के गोघन की रक्षा के लिए अर्जुन द्वारा नियम-संग करें १२ वर्ष की वन-यात्रा। मणिपुर में चित्रांगदा से विवाह। द्वारका में सुध्रदा का हर्षन उससे विवाह। खांदव वन का दाह।

सभापर्व—मय दानव द्वारा अद्भुत सभा का निर्माण। नारद का उस (युधिष्ठिर) की सभा में आयाम और उनके द्वारा इंद्र, यम, बहुण, कुबेर तथा ब्रह्मण की सभाओं का वर्णन। युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का संकाल, यज्ञ-वर्णन। भीम की अनुमति से श्री कृष्ण की पूजा। शिष्यापाल के आक्षेपपूर्ण वचन, भीम द्वारा उत्तर। कृष्ण द्वारा शिष्यापाल-वचन। शृंगार—दुरुपाध की ईश्वरी, शृंग के लिए युधिष्ठिर का आह्लाद, युधिष्ठिर का राज्य, भाईयों तथा द्रोपदी को हारना, दु:शासन द्वारा द्रोपदी का वस्त्राकर्षण। भीम का कोड। घृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को राज्य आदि लौटाकर इंद्रप्रस्थ जाने का आदेश। दुरुपाध जुआ हारकर युधिष्ठिर आदि का वन-गमन।

वनपर्व—प्रजाजनों को लौटाकर पांडवों का काम्यक वन में विवेश, वहाँ विद्यु और श्रीकृष्ण का आयाम, द्रोपदी का शोक तथा युधिष्ठिर को उत्तेजित करना, व्यासजी के उपदेश से सब भाईयों का इंद्रकील पर्वत पर जाकर इंद्र से साक्षात्कार करना, अर्जुन की तपस्या और शंकरजी द्वारा अस्त्र प्रदान। अर्जुन द्वारा कामाक्षत उवेशी का तिरस्कार, उवेशी का शाप। नल-दमयंती की कथा। पांडवों की तीर्थयात्रा, हरियों से अगस्त्य, परशुराम, बृजवध, सगर, भगीरथ, गंगावतरण, कृष्णशंग, व्यवन, माधवादा आदि के उपाख्यान सुनना। गान्धमादन-यात्रा, हुनुमान-भीमसेन मिलन, यक्षों से युद्ध, कुबेर-दर्शन, अर्जुन का स्वर्ग से लौटना। पांडवों का दैत्तव में आना, सप्तर्षी
परिशिष्ट

नहुष से संवाद और उसकी मुक्ति। द्वैतमन में पांडवों के समीप श्रीकृष्ण का आगमन, विविध धर्मकथाएँ, द्रोपदी द्वारा सत्यभामा को सत्यरामवर्ष।

दुर्योधन की गंधवों से पराजय और पांडवों द्वारा रक्षा तथा उसकी आश्वासन। सातवर्ष-उपाध्याय। हिन्द का कण्ठ से कवच-कुंडल दान लेना और विम्ब-शक्ति-प्रदान। यज्ञ-युज्ज्वलन संवाद।

विराटपर्व—अञ्जलवास के लिए पांडवों का विराट नगर में प्रवेश, वड़ी अस्त्र आदि छिपाना। भीमसेन द्वारा जीमूत नामक मल्ल का वध। कीचक द्वारा द्रोपदी का अपमान, भीमसेन द्वारा उसका वध। पांडवों द्वारा सुभाष्मण से राजा विराट की रक्षा। कौरवों द्वारा विराट की गोदे का अपहरण। राजकुमार उत्तर के साराथ बने हुए वृकोलसा (अर्जुन) द्वारा कण्ठ आदि कौरवों की पराजय और गोदे का उदाहर। अभिमत्य का विराट-पूर्वी उत्तर के विवाह।

उद्योगपर्व—विराट नगर में श्रीकृष्ण आदि के पराक्रम से दूष-पुरोहित का हस्तिनापुर जाना। श्रीकृष्ण का अर्जुन और दुर्योधन को सहायता का आश्वासन, पांडवों की सैनिक तैयारी। संजय का दूत बनकर आना और पांडवों का कौरवों को संदेश, धृतराष्ट्र की चिंता, विदुर और सन्तुलजात का नीति-उपदेश। श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरव सम्म में जाना और उनकी शान्तिवाणी की विफलता। कुञ्जकेत में दोनों पक्षों की सैन्य-योजना, सेनानिपत निर्वाचन और यूहरचना।

भीष्मपर्व—वेदव्यास द्वारा सम्भव को विद्य-दृष्टि-दान। सन्यस्त द्वारा भूमि के महत्व तथा अनेक द्रोपदों, पवित्रों, नदियों आदि का वर्णन। धृतराष्ट्र के पूछने पर सम्भव द्वारा युद्ध का विवरण। गीता का उपदेश। अर्जुन द्वारा भीष्म तथा द्रोण का अभिवादन। दोनों द्वारा अर्जुन को विजय का आशीर्वाद। युयुत्सु का युज्ज्वलित के पश्चात में आना। इस पर्व में द्वारा कोई सांस्कृतिक महत्त्व का प्रसार नहीं है। युद्ध का प्रारंभ, दसवीं दिन शिखरी की मदद से भीष्म का पतन हुआ। अर्जुन ने भीष्म को बाण-शश्वत दी और वे प्राण त्याग के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा करते लगे। द्रोणपर्व—विविध वीरों के युद्धों के वर्णन, अभिमत्य की बीतता। द्रोण ने सुझाया कि अर्जुन
भारतीय संस्कृति

को अन्यत्र फैसा दिया जाय तो वे युधिष्ठिर को पकड़ सकते हैं। अर्जुन का संशय तक से युद्ध करने जाना, स्त्रोण का व्यूह-निर्माण, अभिमन्यु-वध और बाद में अर्जुन द्वारा जयध्र का वध। कर्ण द्वारा शक्ति से (जो अर्जुन के लिए रबी गयी थी) घटोटकच का वध। द्रोणाचार्य द्वारा घोर युद्ध और युधिष्ठिर के यह कहने पर कि ‘अश्वत्थामा मर गया’, उनका शस्त्र-स्त्याग और धृष्टधुम्न द्वारा वध। अश्वत्थामा का क्रोध, अर्जुन द्वारा और बाद में सातवक का धृष्टधुम्न की निदाबा। धृष्टधुम्न का आत्म-संयम, लड़ने को उच्च धृष्टधुम्न तथा सातवक का श्रीकृष्ण आदि के प्रयत्न से शान्त होना। अश्वत्थामा द्वारा नारायण अत्र का प्रयोग और उससे कृष्ण द्वारा पांडव-सेना तथा भीमसेन की रक्षा। कर्णपथ—कर्ण का सेनापतित्व। अर्जुन द्वारा संघातकों का संघार। कर्ण द्वारा युधिष्ठिर की पराजय और युधिष्ठिर का पलायन। अश्वत्थामा को हराकर युधिष्ठिर का हार जानने के लिए अर्जुन का आयतन। युधिष्ठिर के पूछने पर अर्जुन का यह कथन कि कर्ण अभी नहीं मरा। युधिष्ठिर द्वारा अर्जुन का अपमान और यह कथन कि गंदीवें फेंक दो। अर्जुन का युधिष्ठिर को मार बालने को उच्च होना, कृष्ण द्वारा धर्म-शिक्षा। अर्जुन और युधिष्ठिर का शान्त होना, दोनों का प्रसन्नतापूर्वक मिलन, अर्जुन द्वारा कर्णवध की प्रतिज्ञा। लम्बे युद्ध के बाद कर्ण का वध। युधिष्ठिर द्वारा शत्रु का वध। दुर्योधन का सरोवर में प्रवेश। गदापर्व—दुर्योधन का सरोवर से निकलना और भीमसेन से युद्ध, भीमसेन का दुर्योधन की जांच तोड़ देना। बलराम का आयतन और क्रोध, दुर्योधन की दशा देखकर अश्वत्थामा का विषाद। उसका सेनापति के पद पर अभियंत। सौप्तिकपर्व—अश्वत्थामा द्वारा द्रोणदी के पुत्रों तथा अन्य पान्चाल वीरों का वध। अर्जुन द्वारा अश्वत्थामा को दंड, मणि देकर अश्वत्थामा का पलायन। स्वीपर्व—इसके अंतर्गत पल्लवधानिपर्व, धृतराष्ट्र का विलाप, सज्जन और विद्वान का उन्हें सान्तवना देना, गान्धारी का क्रोध, व्याजनों का उन्हें समझाना। स्त्रीविलाप पर्व—रोती पुनःवधुओं को देखकर गान्धारी का विलाप। दूसरी स्त्रियों का विलाप। स्त्री-पुश्यों द्वारा अपने संबंधियों को जलाश्चिन-दान। कर्ण के
परिशिष्ट

लिए शोक प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने स्त्रियों को शाप दिया कि वे भविष्य में रहस्य का गोपन न कर सकें।

शालिपत्तर—धर्म समन्वित विमालों की दृष्टि से शालिपत्तर विषय महृद्व-पूर्ण है। युधिष्ठिर के महाध्वन नारद से कर्ण का जीवनवृत्त जानकर शोक।

कृणा: भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी का युधिष्ठिर को गृहस्थ-धर्म, राज्य, धन आदि की प्रशंसा करते हुए समझाना। श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर के शोक-निवारण का प्रयत्न, सोलह राजाओं के उपाध्याय, धन उपाध्याय। कृणा के आप्रवह से युधिष्ठिर का भीम के पास जाना, भीम का युधिष्ठिर को राजधर्म आदि का उपदेश, आपत्ति राजा के कर्तव्य, धर्म की सूक्ष्मता। विविध आड्याय। मोक्षधर्मपर्व—अनेक गीताएं तथा आड्याय।

तुलाराज-जागीरां संवाद। यज्ञ में हिंसा की निन्दा और अहिंसा की प्रशंसा।

मोक्ष के साधनों का वर्णन। सांख्य और योग का वर्णन। जनक एवं शुकदेव आदि ऋषिय-मुनियों के आड्याय।

अनुरागसन्नयर्व—युधिष्ठिर की सान्तवना के लिए भीम द्वारा अनेक कथाएं सुनाना। लक्ष्मी के निवास करने और न करने योग्य पुरुष, स्त्री और स्वामियों का वर्णन। शरीर, वाणि और मन के पारदों के परियोजना का उपदेश। विविध दानों की विशेषता व महत्त्व, प्रति-उपवास आदि के फल।

हिंसा और मांस-भक्षण की निन्दा, पार्वतीजी के द्वारा स्त्री-धर्म का वर्णन, श्रीकृष्ण, ब्राह्मणों आदि का महाबल्य। भीमस्वर्गारोहणर्व—भीम का प्राण-यम, उनकी माता गंगाजी का शोक।

आश्वमेधिकपर्व—युधिष्ठिर का शोक, उन्हें समझाने की चेष्टाएं। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन से मोक्षधर्म का वर्णन। उत्तर की कथा। अभिमन्यु का आदेश। परिशिष्टु (मृत वालक) का क्रुणा द्वारा पुनर्नवीन। यज्ञ-प्रारंभ, अर्जुन द्वारा अशव-रक्षा आदि। विभिन्न दानों तथा मात्रों का वर्णन।

आश्वमवासिकर्व—धृतराष्ट्र का गाण्यारी तथा कुन्ती के साथ वन-गमन। गाण्यारी और कुन्ती का व्यस्तजी से मृत पुत्रों के दर्शन का अनुरोध।
भारतीय संस्कृति

परलोक से मृत बीरों का आगमन और दर्शन देना। धूतराप्त्र, गान्धारी तथा कृती की मृत्यु।

मौसलयपर्व—मौसल युद्ध में युद्धविशिष्यों का नाश।

महाप्रत्यावर्तनिकर्प—पाण्डवों द्वारा वृत्तिक-बंधियों का आक्रमण करके हिमालय की ओर प्रस्थान। युधिष्ठिर के अतिरिक्त सब भाईयों का पतन, युधिष्ठिर का सदेह स्वर्ग में जाना।

स्वार्यरोहणपर्व—स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर की बातचीत। युधिष्ठिर द्वारा नरक-दर्शन और भाईयों का प्रदन सुनकर नरक में रहने का निश्चय। इन्द्र और धर्म का युधिष्ठिर को सान्नवना देना। युधिष्ठिर का विविध लोक में गमन और वहाँ श्रीकृष्ण, अर्जुन आदि से भेंट। महाभारत का उपसंहार और महात्म्य।

बुद्ध-चरित

(बुद्ध-चरित अश्वघोष का तथा बौद्धों का प्रसिद्ध महाकाव्य है। मूल काव्य के, जो संस्कृत में लिखा गया था, सिर्फ चौथा सर्ग उपलब्ध हो सके हैं। काव्य का उत्तरार्ध चौथी और तिरूंबो अनुवादों में ही मिलता है। कुल सर्ग २८ हैं। अश्वघोष का समय ईसा की पहली शताब्दी समस्ताना चाहिए। काव्य के सौन्दर्य-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से बुद्धचरित की स्थिति बालबीक्रि की रामायण और कालिदास के रघुवंश के बीच में है।)

प्रथम सर्ग—इक्ष्वाकु-वंश में शुद्धोदन नाम के प्रतापी राजा हुए। उनकी रानी महामाया ने स्वप्न में एक स्वयं सलामतों को अपने गरीबों में प्रवेश करते देखा। तुम्बिनी वन में पुल की उत्पति। उत्पन्न-बालक ने भविष्यवाणी की—'जगत् के हित के लिए, शान अर्जन करने के लिए मैं जन्मा हूं।' सरा विश्व प्रसन्न हुआ। महारूप भविष्य का आगमन और बालक के समबन्ध में यह कथन कि दुःख-रूप सागर में वहो जगत् को यह शान की नौका से उतारेगा। दूसरा सर्ग—शुद्धोदन का राज्य अनरपि तथा मनु के राज्यों के समान सुखकर वन गया। कुमार वन को न चले जाये इस भय से उन्हें
परिषद्ध

सुधर्मित महर्षि ने रखा गया। तीसरा सर्ग—कुमार की बगीचे आदि देखने के लिए यात्रा। उन्हें देखने के लिए स्थित ब्रह्माण्ड में उठकर दौड़ी—अघ-पहले तथापि एवं गहनों को समाधात या छोड़ती हुई। कुमार ने एक बृद्ध को देखा, फिर एक रोगी को, फिर एक मुद्र को। कुमार की वैरायु—भावना।

चौथा सर्ग—नगर-उद्यान में अपने लाभ-भावों के प्रदर्शन से स्वयं स्वयं द्वारा कुमार की मोहने का प्रयत्न। कुमार का प्रभावित न होना और वैरायम्पूर्णता चिन्तन। पांचवां सर्ग—कुमार का वनभूमि देखने के लिए प्रस्थान, वहाँ एक धूम्रण से मंद। धूम्रण का आकाश में गमन। कुमार की चिन्ता, नगर-प्रवेश, भाग्य जाने का संकल्प। पल्लव यशोधरा तथा पुत्र को छोड़कर छठक नामक अनुचार की मदद से घोड़े पर अभिनिष्ठक्षण। छठा सर्ग—छठक को समझा-बुझा कर कुमार द्वारा उसका विसर्जन। सातवां सर्ग—तपोवन-प्रवेश, कठोर तपों का विवरण, राजकुमार का चिन्तन और यह निश्चय कि शरीर-पीठ धर्म नहीं है; तीर्थजल से पाप नहीं कटता। आठवां सर्ग—कंघक, घोड़े के साथ छठक का लौटना, कपिलवस्तु के लोगों का विलाप।

यशोधरा का विलाप। राजा का विलाप। नवां सर्ग—कुमार का अवेषण, कुमार का छोड़ने से इनकार—‘राज्य से न सुख होता है न धर्म, जलते घर से किसी, प्रकार निकलकर अब मैं उसमें नहीं छोड़ूगा।’ बस्तवां सर्ग—विम्बु-सार का आगमन, कुमार से राज्य में चलने का आय्राय। ग्यारहवां सर्ग—राजकुमार का उत्तर—मैं राज्य में नहीं जा सकता, राज्य आदि सुखों की निम्बा। बाहरवां सर्ग—अराद मुनि के आश्रम में गमन। बाहर के अपने दर्शन का प्रतिपादन। राजकुमार का असल्लोष्ट। उद्रक के आश्रम में गमन, उसकी शिक्षा और असल्लोष्ट। कठोर तपस्या, शरीर की दुर्बलता, नदबंबा से राज्य का प्रहण। बुद्धत्व आपि के लिए पीपल के बृक्ष के नीचे साधना।

तेघवां सर्ग—मार (कामदेव) से युद्ध और उस पर विजय। चौथवां सर्ग—बुद्धत्व-आपि। आगे के सर्गों में धर्मचक्र-प्रवर्तन और बुद्ध के अनेक शिष्यों के दीर्घकाल करने आदि का वर्णन है। छठवां सर्ग में बुद्ध के निर्वाचन का वर्णन है और उससे आगे निर्वाचन की प्रशंसा।
रघुवंश

कालिदास के रघुवंश में इद्वाकु वंश के दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम आदि राजाओं के जीवनवृत्त का वर्णन है। ये सभी राजा बड़े आदर्शवादी थे, जो आदर्श शासक व मनुष्य की भारतीय धारणा को प्रकट करते हैं। प्रथम सर्ग—विनय प्रदर्शन के बाद कवि द्वारा रघुवंशी राजाओं के गुणों का सामान्य वर्णन। मनुष्यवंशी दिलीप का वर्णन। दिलीप की पुत्र के लिए चिन्ता और पत्नी के साथ वसिष्ठ गुरु के आदेश में गमन। यात्रा-वर्णन। वसिष्ठान्मम वर्णन। वसिष्ठ द्वारा पुत्र-प्राप्ति का उपाय कथन। दूसरा सर्ग—दिलीप व उनकी पत्नी द्वारा नन्दनी गाय की सेवा। नन्दनी की रक्षा के लिए राजा अपने को सिध्द के भोजनार्थ देने को तैयार हो गया। नन्दनी की प्रसन्नता, पुत्र देने का आश्वासन। तीसरा सर्ग—गुरु-दक्षिणा को गर्भ, गर्मवती रानी का वर्णन। रघु का जन्म, शिक्षा, विवाह आदि। दिलीप का यज्ञ, इन्द्र द्वारा अश्व का हुरण, रघु का इंद्र से युद्ध, रघु के पराक्रम से इन्द्र की प्रसन्नता। दिलीप द्वारा रघु को राज्यार्पण। चौथा सर्ग—रघु के शासन से अज का सन्तोष। रघु की दिनिर्विजय। विश्वविद्युत् यज्ञ का अनुष्ठान और दक्षिणा में सर्वस्वदान। पाँचवाँ सर्ग—गुरु-दक्षिणा के लिए वर्तमान शिष्य कौस का आयाम, रघु को धन्यवाद देकर उसकी निराशा। रघु द्वारा कुंजे से प्राप्त धन का कौस को दान। प्रसन्न कौस द्वारा पुत्र-प्राप्ति का वर्णन। अज का जन्म। अज का इन्द्रमनी स्वयंवर्त लिए प्रस्थान। छठा सर्ग—इन्द्रमनी का स्वयंवर्त में आयाम और राजाओं की विविध चेष्टाएँ। सुनक्षा द्वारा इन्द्रमनी के सामने विभिन्न राजाओं का परिचय व प्रसंसा। इन्द्रमनी द्वारा अज का वरण। सातवाँ सर्ग—पुरुष में प्रवेश करते हुए अज के पर्वतों के लिए सत्‌यों का संभ्रम व त्वरा। विवाह। ईश्वरु राजाओं के साथ युद्ध में अज की विजय। आठवाँ सर्ग—अज की प्रजा-प्रियता। रघु की मृत्यु, दशरथ का जन्म। नारद की पुष्पमाला से इन्द्रमनी की मृत्यु, अज का विलाप। वसिष्ठ का शान्ति-सन्देश, अज की मृत्यु। नववां सर्ग—दशरथ के शासन की प्रशंसा। दशरथ का विवाह और विहार, वस्त्रि-वर्णन,
परिशिष्ट

दशरथ द्वारा धोखे से मूनि-पुत्र का वध, मूनि का शाप कि अपकी मृत्यु भी पुत्र के दुःख में होगी। दस्सां या-शस्त्र दक्षिण यज्ञ का आरम्भ। रावण से वस्त्र देवताओं का विष्णु के पास जाना। विष्णु का वरण तथा स्तुति। विष्णु द्वारा आश्वासन कि में दशरथ-पुत्र के रूप में जन्म लूगा। राम आदि का जन्म। ग्यारहवां सर्ग—विवश्वामत्र के साथ राम-लक्ष्मण का प्रस्थान, ताड़का-वध। विधिला में सीता-स्वयंवर में गमन। विवाह। दशरथ आदि का अपने नगर की ओर लौटना, मार्ग में पशुरुमार का आगमन और कोघ। बारहवां सर्ग—राम का वनवास, दशरथ की मृत्यु, भरत का राम को लौटने का प्रयत्न। राम का चित्रकूट से प्रस्थान। पंचवटी में शूर्यभक्त का आगमन, उसका विश्वास होना, छह आदि का वध, सीता-हरण, रावण द्वारा जटयु का वध। सुचीब्र से भिन्नता, बालि-वध, हुनुमान द्वारा सीता का अन्वेषण व लंगकाड़न, सेतु-वधन, युद्ध, कुमकरण, मेघनाद, रावण आदि का वध। तेश्रवां सर्ग—भिन्नता से पार आते हुए राम का समुद्र-वर्णन। अन्य स्थानों का वर्णन, जहाँ राम ने सीता की याद की थी। जनस्थान (जहाँ रावण ने सीता को हरा था), अगस्त्याश्रम, गंगा-मुनि-संगम और सरयूपट का वर्णन। अयोध्या पहुँच कर राम द्वारा भरत की प्रस्रांता। चौदहवां सर्ग—राम की गांवों से भेंट, राज्यार्थीक, पुष्पक विमान का विसर्जन। कृष्णा-परित्याग, वाल्मीकि के आश्रम में बसा, राम द्वारा सीता का याद व शोक, सुवर्ण-सीता के साथ यज्ञ। पन्नहरवां सर्ग—लक्ष्मणसुर की कथा, उसे मारने के लिए शाबुचन का प्रस्थान और वाल्मीकि के आश्रम में रात भर रूकना। लख-कुश का जन्म। लखन का वध। शाबुचन का मधुरा-नगरी में निवास। लख-कुश की बिशा और उनके द्वारा रामयान का गान। राम द्वारा शून्य शम्भुक का वध। राम द्वारा यज्ञ का आरम्भ, वहाँ कुश-लख का आगमन और रामयान-गान। वाल्मीकि की राम से सीता को प्रहसन करने के लिए प्रार्थना, सीता का पूज्य-प्रेमोत्सव। लक्ष्मण, राम आदि का स्वर्गरोहण। सोलहवां सर्ग—राम-पुत्र कुश का राज्य। कुश द्वारा स्वप्न में एक स्त्री (अयोध्या) का दर्शन, उसके कथन से कुशावती को छोड़कर अयोध्या में गमन। कुश का
सरयू में बिहार, राम द्वारा अभिषेक काल में दिये आभरण का सरयू में लोप। नदी के अवधारी कुमुद का प्रकट होना और उसकी कम्या से कुश का विवाह। सवहरौं सर्ग—कुमुदक्ती के अतिथि नामक पुत्र हुआ। कुश की मूल्य के बाद अतिथि राजा हुआ। अठारहौं सर्ग—अतिथि के निषद्ध नामक पुत्र हुआ, निषद्ध के नल, नल के नक्ष, नक्ष के पंडित, इत्यादि। अन्त में सुदर्शन राजा हुआ। उत्सववा सर्ग—सुदर्शन के अभिवर्ष पुत्र हुआ। वह बड़ा भोगी था, उसके एक भी पुत्र न हो सका और वह राजवधमा से मर गया। उसके बाद उसकी गर्भवती पत्नी राज्य को सभालने लगी।

कुमारसम्भव

कार्तिकेय के इस दूसरे महाकाव्य में तारक अनुर के मारने के लिए कुमार कार्तिकेय के जन्म की कथा है। उपलब्ध काव्य अपूर्ण है; संभवतः शुरू के बाद सर्ग ही कार्तिकेय कुल हैं जिनमें शिव-पार्वती के विवाह और विहार की कथा है। प्रथम सर्ग—हिमालय का वर्णन, हिमालय का भेना से विवाह और पार्वती का जन्म। यौवन को प्राप्त होती पार्वती का वर्णन। नारद द्वारा शिव के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा। पार्वती द्वारा शिव की सेवा।

द्वितीया सर्ग—तारक से पीड़ित देवताओं का ब्रह्मा के पास गमन और उनकी स्पुति करना, ब्रह्मा द्वारा तारक के वघ का उपाय-कथन—शिव के भीष्म से सेनापति का जन्म आवश्यक। तीसरा सर्ग—इन्द्र की आज्ञा से कामदेव का शिव के आदर्श में आगमन, वस्तु ऋषु का आविवर्त और प्रभाव (२४-३९)। शिव का समाधि-संग पर कोध, कामदेव का दहन। चौथा सर्ग—रति का विलाप, वस्तु के आगमन पर पुनः विलाप, अदृश्य वाणी द्वारा रति को सातनवा। पंचवा सर्ग—पार्वती की ओर तपस्या, वटूपधारी शिव का आगमन और पार्वती को बहकाने का प्रयत्न, पार्वती और घोड़पुर्ण उत्तर और शिव की प्रस्तुति। छठा सर्ग—शिव के सन्देश का संताष्पित द्वारा हिमवान्यु के पास पहुँचा। मुनियों द्वारा की स्तुति, शिव का सन्देश और मुनियों का प्रस्ताव, मुनियों का कार्य-सिद्धि। सातवा सर्ग—विवाह की
परिशिष्ट

रैयारी, पार्वती का प्रसाधन। शिवजी का वेष-परिवर्तन, बरात का वर्णन।
शिव को देखने की लाजसा रखनेवाली पुरुष-मन्दिरों की छेदाएँ, शिव-पार्वती का बिवाह, विवाह के अवसर पर दोनों का रज्ज़ा-कहत, दोनों में सात्तिक भाव का उदय आदि। आठवाँ सर्ग—शिव-पार्वती का रति-विलास।
आगे के सर्गों में, जो कालिदास के लिखे हुए नहीं माने जाते, कुमार कालिकेय के जन्म और उनके द्वारा तारक-वध की कथा है।

किराताजुरुनीय

भारती का एकमात्र महाकाव्य किराताजुरुनीय महाभारत के पांडवों के संबंधित एक कथानक पर आधारित है। चूत में हारे हुए पांडव दैत्यवं में जाकर रहने लगे। वहाँ से उन्होंने गुप्तचर को दुर्योधन का हाल-जाल लेने भेजा। प्रथम सर्ग—गुप्तचर या वनेचर ने युधिष्ठिर के पास आकर उन्हें बतलाया कि दुर्योधन अपने राज्य की व्यवस्था बदल दंग से कर रहा है।
द्वितीय ने युधिष्ठिर को समझाने की कोशिश की कि वे किसी बहाने दुर्योधन के साथ किये हुए समझौते को तोड़कर वीर भाइयों की मदद से अपना राज्य बापस रखें—यहीं वीरता तथा मनुष्यता का तकाजा है। तीसरा सर्ग—
भीमसेन ने द्रौपदी का समर्पण किया। युधिष्ठिर ने समझाया कि असंख्य वारुद्वीर दुर्योधन बहुत दिनों तक सबको प्रसन्न नहीं रख सकता।
व्यास का आगमन। चौथी सर्ग—युधिष्ठिर और व्यास की बातचीत—'शृक्षित से ही विजय मिलती है। और आपके शत्रु ज्यादा शक्तिमान हैं, तब अर्जुन को पाशुपति अस्त्र प्राप्त करना चाहिए।' द्रौपदी ने अर्जुन को उत्साहित किया—
'पुष्म हमारे वियोग की चिंता न करना, तुर्कु दुर्योधन से मेरे अपमान का बदला और अपना राज्य लेना है।' व्यास के भेजे कुबेर के अनुचर का आगमन और उसके साथ अर्जुन का प्रस्थान। चौथी सर्ग—सरद त्तुतु का
अर्जुन, अर्जुन द्वारा हिमालय का अवलोकन। चौथी सर्ग—हिमालय का
अर्जुन का वर्णन। अर्जुन का हिमालय की उपत्यका में पहुँचना। छठा सर्ग—अर्जुन की
कठोर तपस्या। तप में विच्छ बालने के लिए हिम्न की अनुमति से असरादों
भारतीय संस्कृति

का प्रस्थान। सातवां सर्ग—इन्द्रकील पर्वत पर गन्धवां तथा अपसराओं का आगमन और शिविर-सज्जित। आठवां सर्ग—गन्धवां और अपसराओं का विहार, गुप्तचन्दन, जलकीड़ा आदि। नववां सर्ग—सन्ध्या तथा चन्द्रदय का वर्णन। गन्धवां तथा अपसराओं की रमण-कीड़ा, मधमान आदि का वर्णन और प्रभात-वर्णन। इसवां सर्ग—अर्जुन को आकृत्ति करने के लिए अपसराओं द्वारा विविध हावधार तथा विलासों का प्रदर्शन, ऊधु-वर्णन, अर्जुन की तपस्या भंग करने में अपसराओं की असफलता। अग्निहोत्रवां सर्ग—सुत्तिके वेष में इन्द्र का अर्जुन के पास आगमन, इन्द्र ने अर्जुन को शिव के आराधन का उपाय बताया। बारहवां सर्ग—अर्जुन द्वारा शिव की आराधना; मूक नामक दानव शूकर का रूप धारण करके अर्जुन के पास आया, किरात-वेशी शिव का अर्जुन के आश्रम में आगमन। तेशरहवां सर्ग—शूकर को देखकर अर्जुन के मन में सन्धेह हुआ और उसने उस पर बाण चलाये। मूक दानव का वध। अर्जुन से शिव के अनुच्छे ने कहा कि शूकर का वध तुम्हारे बाणों से नहीं हुआ, उसको मारनेवाले मेरे स्वामी हैं। सोहरहवां सर्ग—किरात वेशारी शिव का आगमन, शिव और अर्जुन का युद्ध। गांवहवां सर्ग—शिव और अर्जुन का रणकौशल, सबका विस्मय। सोशरहवां सर्ग—शिव के युद्धकौशल को देखकर अर्जुन का सन्देह और मन में तरह-तरह के वितर्क। अर्जुन का शिव की सेता से और फिर शिव से संप्रभा। अठाँसवां सर्ग—अर्जुन के युद्ध-कौशल से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें पाशुपति अस्त्र दिया, शिव के आदेश से दूसरे देवताओं ने भी उन्हें वरदान तथा अपने-अपने अस्त्र दिये। सफल-काम होकर अर्जुन युधिष्ठिर के पास लौटे और उन्हें प्रणाम किया।

शिशुपालवध

महाकवि माध का एक माध। महाकाव्य शिशुपालवध भी महाभारत के एक प्रसंग पर आधारित है। प्रसंग है—युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर भगवान कुण्ड द्वारा शिशुपाल का वध। प्रथम सर्ग—तेजस्वी नारद आकाश से क्रमशः उत्तरकर कुण्ड के ऐश्वर्य-सम्पन्न भवन में उनके
परिषिद्ध २५२

सम्मुख उपस्थित हुए, उन्होंने बताया कि किस प्रकार शिशुपाल के अत्याचारों से विश्व संस्कृत है। उन्होंने कृष्ण से प्रारंभना की कि वे शिशुपाल का वध करें। दूसरा सर्ग—इसी समय राजसूय यज्ञ करने की कृष्ण आदि को बुलाया था। प्रसव उठा, पहले शिशुपाल का वध किया जाय अथवा यज्ञ में सहयोग दिया जाय? बलराम ने जोश के साथ शिशुपाल के विश्व कूच करने का परामर्श दिया। किंतु उद्घाटन ने सलाह दी कि पहले युघिरिष्ट के यहाँ जाना चाहिए; एकाएक शिशुपाल पर धावा बोलना गठिता नीति होगी। कृष्ण ने उद्घाटन की बात मान ली। 

tीसरा सर्ग—कृष्ण ने सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान किया। द्वारका से उनके प्रस्थान का वर्णन, द्वारका और समुद्र का वर्णन। चौथा सर्ग—

कृष्ण रैवत्क पवित्र पर पहुँचे, रैवतक पवित्र का वर्णन। पाँचवां सर्ग—कृष्ण का रैवतक पवित्र पर रमण करने के लिए ठहरने का निष्पादन। शिविर-सत्रिभेष के सिलसिले में घोड़ों, यानों से उतरती हुई स्त्रियाँ आदि का वर्णन। छठा सर्ग—कृष्ण की सेवा के लिए छहों जटित थे उपस्थित हुई; वसन्त, वर्षा आदि का वर्णन। सातवां सर्ग—वन-विहार-लीला, स्त्रियों द्वारा पुष्प-चयन आदि। आठवां सर्ग—रत्नकीड़ा का वर्णन। नववां सर्ग—सायंकाल, चन्द्रोदय और स्त्रियों के प्रसाधन (शूंग्य) का वर्णन, धूष्ट-वर्णन, चन्द्रोदय-वर्णन, प्रसाधन, दूरी प्रेम, आदि। इससे सर्ग—पालनीधी-वर्णन, राणी-कृष्ण-वर्णन। व्याप्ताभवों सर्ग—राणा का अल्ल, प्रभात का वर्णन। बारहवां सर्ग—पुन: कृष्ण के प्रयाण का वर्णन, यमुना-वर्णन। तेरहवां सर्ग—श्री-कृष्ण तथा पाठकों के समागम का वर्णन। कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ नगर में प्रवेश। युघिरिष्ट के समागम का वर्णन। चौदहवां सर्ग—राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ। कृष्ण द्वारा युघिरिष्ट को आश्वासन कि वे विध्वंसकारियों का विनाश करें। उसका वर्णन। युघिरिष्ट के पूछने पर कि अर्धालान किसे किया जाय, भीष्म का यह प्रस्ताव कि कृष्ण ही इसके योग्य हैं। भीष्मकृत कृष्ण की प्रशंसा व स्तुति, पिछले खेतारों का संकेत। कृष्ण को अर्धालान। पन्तहवां सर्ग—शिशुपाल का क्षोभ व कृष्णपूर्व वाक्य। भीष्म की चुनौती,
नैवधीय चरित

प्रथम सर्ग—राजा नल अत्यन्त गुणदर्शी, विचारवान् और प्रतापी था। संसार में कोई ऐसी स्त्री न थी जो उसे देखकर मोहित न हो जाय। राजा भीम की पुत्री दमयन्ती बचपन से ही नल के बारे में सुनने-सुनते उसमें अनुभव आया। नल भी उसमें अनुभव था और उसके रंगे व्यक्त था। उपवन में नल द्वारा हंस-ग्रहण। हंस की शिकायत पर नल ने उसे छोड़ दिया। दूसरा सर्ग—हंस पुत्र: नल के हाथ में आ गया, उसने नल से दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन किया और कहा—‘आप और बड़े एक हृदय के योग्य हैं।’ नल द्वारा हंस से सहाय-याचना। दमयन्ती को नल में अनुरक्त बना देने का वचन देकर हंस चुड़िनपुरी गया। चुड़िनपुरी का वर्णन। भैमी द्वारा हंस-दर्शन। तीसरा सर्ग—भैमी का हंस को पकड़ने का प्रयत्न, हंस द्वारा नल की उदारता, शोभा, संमृद्धि आदि का वर्णन। हंस द्वारा भैमी को नलप्रति का आश्वासन। हंस का नल की राजधानी को गमन। हंस और नल की वात्सली। चौथा सर्ग—हंस के जाने के बाद भैमी का
सन्ताप, चिन्ता, शंका और विरह कष्ट, सब्बी से बातचीत, मूर्च्छा और सबियों
की परिचय से बेतना-लाभ। सबियों द्वारा राजा भीम से स्वयंवर की
बातचीत। पाँचवां सर्ग—नारद ने इन्द्र को दमयती के स्वयंवर की सूचना
दी और उसके सौन्दर्य का वर्णन किया। इन्द्र ने भैमी से विचार करते की
उसकृता प्रकट की, जिससे अपसराओं को चिन्ता हुई। वर्ण, अभिन और
यम के साथ इन्द्र ने नल से प्रारंभ की कि वह उन सबका हृद बनकर
दमयती के पास जाय। अविचार होते हुए भी नल ने स्वीकार कर लिया।
छठा सर्ग—देवताओं के प्रभाव से अदृष्ट नल का कुंडिनपुरी में प्रवेश। नल
के सामने हुती ने दमयती की इन्द्र का सन्देश सुनाया। भैमी ने कहा—मैं
पहले ही मन में नल का वरण कर चुकी हूँ। सातवां सर्ग—भैमी के उत्तर से
नल की प्रसन्नता व अनुराग-वृद्धि। नल ने भैमी का लोकोत्तर सौन्दर्य देखा—
भैमी के विभिन्न अवसरों का वर्णन। आठवां सर्ग—नल द्वारा आत्म-प्रकाशन,
दोनों का संभाषण, भैमी द्वारा नल के सौन्दर्य का वर्णन, नल का भानन।
नल द्वारा इन्द्र आदि का सन्देश कथन; इन्द्र, अभिन, यम आदि की विरह-
व्यथा का वर्णन। नववां सर्ग—नल ने कहा, 'दिव्य पतियों में से किसी एक का
वरण कर मेरा श्रम सफल करो।' सबी-मुख से भैमी का निषेध। नल ने सम-
शाया—देवताओं के बिचकार होने पर मनुष्य का वरण न उचित है न समभव,
तुम आत्मव्रत भी नहीं कर सकती—अपने को जलाने का अर्थ होगा अभिन
को समर्पण। देवता कुद्र हुए तो स्वयंवर भी विफल हो जायगा। सुनकर
भैमी रोने लगी। नल का उन्माद और प्रलाप। नल का परा-ताप। सबी-
मुख से भैमी द्वारा नल की प्रशंसा। दसवां सर्ग—स्वयंवर का उपक्रम।
राजाओं तथा देवताओं की नल के प्रति ईष्टा। स्वयंवर-समा की शोभा का
वर्णन। बांध के रूप में सरस्वती का आगमन, भैमी के अधूरकर सौन्दर्य का
वर्णन। इन्द्र आदि के द्वारा नल की आकृति का प्रह्लाद। स्वराज्यवां सर्ग—
भारती (सरस्वती) द्वारा वालुकि नाग, सत्त-श्रीमों के राजा, शाक्षेप के अभिध-
पति आदि राजाओं का वर्णन। बारहवां सर्ग—दूसरे राजाओं का वर्णन।
अंत में पाँच नलों के पास पहुँचता। तेष्वराः सर्ग—भारती द्वारा स्वयंवरमित
भारतीय संस्कृति

भाषा में क्रमशः नल, इत्तर आदि का वर्णन, भैमी का भ्रम तथा परेशानी।
इस का समरण, देवताओं का उपालभ। चौदहवाँ सर्ग—वास्तविक नल की प्राप्ति के लिए भैमी द्वारा देवताओं की स्तुति व प्रार्थना। देवताओं द्वारा वास्तविक नल का शापन। भैमी द्वारा नल का वरण। दूसरे राजाओं का कोड़। देवताओं द्वारा कोड़ की वर-प्रदान। वर के आगमन के लिए नगर के मार्गों का सजाना, भैमी का श्रृंगार। सुसूचित वर की यात्रा देखने के लिए पुर-पुनर्रियों का संयोग। सोलहवाँ सर्ग—नल-दमयती का विवाह और नल के अपने देश की ओर प्रस्थान। सोलहवाँ सर्ग—देवताओं का विमानों में प्रस्थान, समस्त कल्युग-सेना का आगमन; शरीरघाती कोड़, लोभ, मोह आदि का वरण। देवताओं द्वारा कल्युग की सेना में बौद्ध, चार्वाक आदि के अभिमत सिद्धान्तों का श्रवण, आलमबाद, देवपूजा आदि का उपहास।
स्मृति-पुराणों, देव, दिस, गोसेवा आदि की निन्दा। ईश्वरवादी नैयायिक का खण्डन। वैदिक विधि-निपेठों का उपहास। यह सब सुनकर इत्तर का कोड़।
वेद, स्वर्ग-नरक, परलोक आदि का समर्थन। कल्युग का प्रभाव कैली-स्वयंबर के लिए प्रयास। कल्युग की देवताओं का उपालभ और यह प्रतिष्ठा कि नल को राज्य-प्रश्न तथा दमयती से वियुक्त करेगा। कल्युग का निष्पादक-राज्य में प्रवेश और लोगों को धर्मनिष्ठ पाकर बहुत से पलायन तथा उद्वार में प्रवेश।
अठारहवाँ सर्ग—नल-दमयती का विवाह, परस्पर अनुराग व सम्बन्ध। उज्जीवलवाह एवं संस्कृति वर्ण। बीसवाँ सर्ग—भैमी तथा नल की बातचीत। नल और भैमी की सब्जी की बातचीत। नल द्वारा व्यापारवाणा। ईश्वरवाह एवं संस्कृति वर्ण। बीसवाँ सर्ग—नल का स्नात आदि तथा शिव, विष्णु आदि की पूजा। दरार, वामन, राम, कुष्ठ आदि अवतारों की स्तुति। नल-भैमी का भोजन तथा गन्धवराज की कल्याणा द्वारा मनोविनोद। बाईसवाँ सर्ग—संस्थानसुया, राज्य का आगमन, वैश्विक आदि के अनुसार अन्धकार के स्वरूप का वरण। चन्द्रोदय तथा भैमी के सौंदर्य का वरण। आशीर्वाद।
<table>
<thead>
<tr>
<th>अनुक्रमणिका</th>
<th>मे मुमा की भावना</th>
<th>११३</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>अवकाश-भावना और संस्कृति</td>
<td>मे वैराग्य-भावना</td>
<td>११३</td>
</tr>
<tr>
<td>८५-९५</td>
<td>कर्म और संन्यास</td>
<td>६६-७१</td>
</tr>
<tr>
<td>अभ्यास</td>
<td>कालिकास</td>
<td>---</td>
</tr>
<tr>
<td>मे सौदर्य-भावना</td>
<td>का प्रकृति-चित्रण</td>
<td>१२०-१२१</td>
</tr>
<tr>
<td>१००</td>
<td>से ऐश्वर्य के सौदर्य की चेतना</td>
<td>---</td>
</tr>
<tr>
<td>आपद्धर्म</td>
<td>चमकार</td>
<td>११२</td>
</tr>
<tr>
<td>अर विश्वासित्र</td>
<td>मे नारी-वर्ण</td>
<td>१००-१०१</td>
</tr>
<tr>
<td>७५</td>
<td>मे नैतिक आदर्श</td>
<td>१२९-३२</td>
</tr>
<tr>
<td>ब्राह्मण के लिए</td>
<td>मृण सौदर्य</td>
<td>११४-१५</td>
</tr>
<tr>
<td>७४</td>
<td>मे सांस्कृतिक सौदर्य की चेतना</td>
<td>१११-१३</td>
</tr>
<tr>
<td>राजा के लिए</td>
<td>मे शरीर-वर्ण</td>
<td>१०१</td>
</tr>
<tr>
<td>७४</td>
<td>काम नामक पुरुषार्क का महत्व</td>
<td>३९</td>
</tr>
<tr>
<td>उत्क्रष्ट काल</td>
<td>काम-भावना</td>
<td>---</td>
</tr>
<tr>
<td>मे आध्यात्मिक सम्मूच</td>
<td>अजुन में</td>
<td>४४</td>
</tr>
<tr>
<td>१५१-५५</td>
<td>हनु में</td>
<td>१०३</td>
</tr>
<tr>
<td>मे जीवन-विवेक</td>
<td>पांडवों में</td>
<td>४२-४३</td>
</tr>
<tr>
<td>१५४</td>
<td>राम में</td>
<td>४०-४१</td>
</tr>
<tr>
<td>मे जीवन-संस्मृति की भावना</td>
<td>केशवचन्द्र सेन</td>
<td>२११</td>
</tr>
<tr>
<td>१०२-१०५</td>
<td>कार्य व विरोध</td>
<td>१२</td>
</tr>
</tbody>
</table>
भारतीय संस्कृति

गणित और भारतीय दर्शन 223
— और यूरोपीय दर्शन 223
जातीय महत्ता 22-23 मू0

जीवन के मूल्य या पुरुषार्थ
— ज्ञान में 2-3
— श्रावण युग में 9
— महाभारत में 29, 36, 39
— रामायण में 30-35
— जीवन-विवेक, का अर्थ 136-48
— भारतीय 146-47, 150,
154-56

तुलसीदास
— में आध्यात्मिक संबंधता 194
— में जनतात्मिक संबंधता
199-200, 207
— में मानवीय अभिप्रेति का हास
198-199
— में पौराणिक संबंध 198
— में वर्ण-भेद 201
— में वर्ण-भेद का विरोध 201-202
— में साध्व चरित 202, 206
— तेज और श्रम 55
— दयानन्द स्वामी 211
— धर्म की व्याख्याएँ 56-57
— धर्म नामक पुरुषार्थ का आपेक्षिक महत्त्व 45

— का महत्त्व 57
— का स्वरूप 65-66
— धर्मव्याख्या का उपदेश 59
— प्रकृति-वर्णन
— कालिदास में 117-121
— भारती में 125
— महाभारत में 18, 19, 20
— माध में 123-123
— रामायण में 22, 24, 25
— श्री हरिश्चंद्र में 187
— प्राकृतिक-मूलक कुल्ल क्रियाओं और संस्कृति
26 मू0
— प्रवृत्ति और निष्कृति 66, 67
— पुरुष-सौन्दर्य-वर्णन
— कालिदास में 101
— महाभारत में 27, 29
— माध में 101, 106-67, 108
— रामायण में 28
— श्री हरिश्चंद्र में 181-185
— श्रावण युग
— में जीवन के पुरुषार्थ 10, 11
— में ज्ञान-विद्यान 9, 10
— भारतीय संस्कृति
— का अर्थ 17-19 मू0
— और दर्शन 34 मू0
— और महाकाव्य 35 मू0
— की एकता 238
— का कालविभाग 20-21 मू0
अनुश्रमणिका

की जटिलता । १७ भू.० महायुग

भारत
— में एश्वयं के सौन्दर्य की चेतना १७०
— में नैतिक आदर्श १३३-४०
— में प्रकृति-वर्णन १२५
— में वाणी-सौन्दर्य ११५
— में शक्ति का महत्त्व १४४
— में शरीर-वर्णन १०४

महाभारत
— में अर्थ का महत्त्व ३५, ३८
— में आपद्धर्म ७४-७६
— में काम का महत्त्व ४२, ४४
— में कूटनीति ३७-३७
— में द्रुढ़ या संघर्ष की भावना १५
— में धर्म-विरम्भ ४७-४८, ५५-५६, ६४-६५
— में नारी-आदर्श ५३-५४
— में नारी-वर्णन २१-२२
— में प्रकृति-वर्णन १८-२०
— में राजधर्म ७१-७२
— में वर्णशिरम धर्म ५८-६४
— में वैचित्र्य (अद्भुत) की भावना ३२-३५

रामायण
— में अर्थ का महत्त्व ३१
— में कामभावना तथा भूर्गोद २४-२५, ४०-४१
— में नारी-वर्णन २४-२५
— में नैतिक आदर्श ४०-५४
<table>
<thead>
<tr>
<th>सामग्री</th>
<th>पृष्ठबंडी</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>— में प्रकृति-वर्णन</td>
<td>२४, २५, २६</td>
</tr>
<tr>
<td>— में राज्य का महत्व</td>
<td>३१-३३</td>
</tr>
<tr>
<td>— में सौन्दर्य-चेतना</td>
<td>२४</td>
</tr>
<tr>
<td>लक्ष्मी किसके पास रहती हैं?</td>
<td>३९</td>
</tr>
<tr>
<td>वाणी-सौन्दर्य</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>— कालिदास में</td>
<td>११४</td>
</tr>
<tr>
<td>— भारती में</td>
<td>११५</td>
</tr>
<tr>
<td>— माघ में</td>
<td>११४</td>
</tr>
<tr>
<td>— रामायण में</td>
<td>२८</td>
</tr>
<tr>
<td>— विब्यामित्र और चाण्डाल</td>
<td>७७</td>
</tr>
<tr>
<td>— विबेकानन्द</td>
<td>२११</td>
</tr>
<tr>
<td>बौद्ध युग</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>— में जीवन का प्रयोजन</td>
<td>२-४</td>
</tr>
<tr>
<td>— में नैतिक भावना</td>
<td>३-५</td>
</tr>
<tr>
<td>— में प्रकृति-प्रेम</td>
<td>६</td>
</tr>
<tr>
<td>संस्कृति</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>— और अवकाश-भावना</td>
<td>८५, ६५</td>
</tr>
<tr>
<td>— और शिश्त लोग</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>— की परिभाषा</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>— बीनी</td>
<td>२१९</td>
</tr>
<tr>
<td>— जातीय</td>
<td>२१-२३ भू.०</td>
</tr>
<tr>
<td>— भारतीय</td>
<td>१७-१९ भू.०</td>
</tr>
</tbody>
</table>

<table>
<thead>
<tr>
<th>सामग्री</th>
<th>पृष्ठबंडी</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>— यूरोपीय</td>
<td>२२०-२१</td>
</tr>
<tr>
<td>सत्य, और अहिंसा</td>
<td>५७</td>
</tr>
<tr>
<td>— और धर्म</td>
<td>५७</td>
</tr>
<tr>
<td>— का महत्व</td>
<td>५२, ६५, ६६</td>
</tr>
<tr>
<td>— शारीरिक सौन्दर्य का महत्व</td>
<td>१०१</td>
</tr>
<tr>
<td>शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन</td>
<td></td>
</tr>
<tr>
<td>— कालिदास में</td>
<td>१०१</td>
</tr>
<tr>
<td>— भारती में</td>
<td>१०४</td>
</tr>
<tr>
<td>— माघ में</td>
<td>१०१, १०६-७</td>
</tr>
<tr>
<td>— श्रीहरि में</td>
<td>१८१-१८४</td>
</tr>
<tr>
<td>— शास्त्र-शान का महत्व</td>
<td>१४६, २०५-६</td>
</tr>
</tbody>
</table>

<table>
<thead>
<tr>
<th>सामग्री</th>
<th>पृष्ठबंडी</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>— में मानवीय अभिवृत्ति का हास</td>
<td>१८५, १८६</td>
</tr>
<tr>
<td>— में पौराणिक संकेत</td>
<td>१८६, १९३</td>
</tr>
<tr>
<td>— में प्रकृति-वर्णन</td>
<td>१८६</td>
</tr>
<tr>
<td>— में सौन्दर्य-वर्णन</td>
<td>१८१-१८२</td>
</tr>
</tbody>
</table>

<table>
<thead>
<tr>
<th>सामग्री</th>
<th>पृष्ठबंडी</th>
</tr>
</thead>
<tbody>
<tr>
<td>— और तेज</td>
<td>५५-५६</td>
</tr>
<tr>
<td>— का महत्व</td>
<td>६६</td>
</tr>
<tr>
<td>— का दोष</td>
<td>८०</td>
</tr>
</tbody>
</table>
"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY

GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book clean and moving.